परम पूज्य विद्यालंकार श्री १०८ दि० जैनाचार्य

देशभूषणजी महाराज का

देहली चातुर्मास में दिया हुआ

उपदेशसार संग्रह

पहला भाग

प्रकाशक—

दिगम्बर जैन समाज

बाड़ी धीरज, देहली।

मूल्य
सदुपयोग

प्रकाशकीय

श्री परम पूज्य १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज के दर्शन तथा उपदेश का लाभ यहां वालों को सर्व प्रथम श्री महावीर जी में हुआ था। देहली वालों की भावना थी कि आप का सन् १९५४ का चतुर्मास देहली में हो परन्तु जयपुर निवासियों के विशेष अनुरोध पर उस चतुर्मास का लाभ जयपुर वालों को ही हुआ। चतुर्मास के समय तथा बाद में भी देहली के अनेक धर्मानुरागी सज्जन महाराज के दर्शनार्थ जयपुर जाकर धर्म लाभ लेते रहे।

वहाँ से देहली वालों की प्रार्थना पर महाराज ने इस ओर विहार किया तथा मार्ग में अनेक स्थानों पर धर्मोपदेश देते हुए ज्येष्ठ शुक्ला ८ संवत् २०१२ (ता० २९ मई १९५५) को देहली पधारे। यहीं कूचा सेठ में आप का चतुर्मास भी हुआ। आप का उपदेश उपयोगी तथा प्रभावक होता है। अतः वहाँ के प्रति दिन के उपदेश संग्रह के रूप में प्रकाशित हुए।

पहाड़ी धीरज देहली की जैन समाज के विशेष आग्रह पर आचार्य महाराज ता० १९ दिसम्बर १९५५ को संघ सहित पहाड़ी धीरज पधारे। जनता ने आनन्द में विभोर होकर गद्गद् हृदय से आपका स्वागत किया। यहाँ पर धर्म की बड़ी प्रभावना रही। जैन धर्मशाला में प्रति दिन प्रातः काल लगभग डेढ़-दो घटे आप का उपदेश होता रहा। जैन तथा जैनेतर जनता बहुत बड़ी संख्या में आपके उपदेश से लाभ उठाती रही। दोपहर बाद भी जनता आप के दर्शन तथा उपदेश के लिये उमड़ी रहती थी।

आपका सरल स्वभाव, क्रोध मानादि का अत्यधिक अभाव, अनुपम ज्ञान और मनोहर प्रवचनशैली का बहुत प्रभाव पड़ता है तथा लोगों में अपनी उन्नति की भावना जागृत होती है। आप में अनेक गुण विद्यमान हैं जिन से धर्मानुरागी व्यक्ति आप की ओर आकर्पित हुए बिना नहीं रहते। समय २ पर देहली तथा बाहर के अनेक सुप्रतिष्ठित धर्मात्मा सज्जन आपके दर्शनार्थ आते रहे हैं। उनमें श्री सेठ जुगलकिशोरजी बिड़ला, माननीय जस्टिस वेकटरमा अय्यर जज सुप्रीम कोर्ट आफ इण्डिया, श्री हर हाइनेस राजमाता सिरमौर तथा हिज हाइनेस महाराजा सुकेत के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

यहां से ता० ९ मार्च १९५६ को महाराज का शहादरा, खेकड़ा, बागपत, बड़ौत की ओर विहार हुआ। कांधले में दीक्षा उत्सव के पश्चात् श्री हस्तिनापुर जी की यात्रा इस विहार का प्रमुख उद्देश्य है। इसमें स्थान २ पर जनता को अपूर्व धर्म लाभ होने की संभावना है।

आपके पहाड़ी धीरज पर हुये उपदेश संग्रह रूप में छापने का प्रबन्ध किया गया है। यहां के लोगों भी भावना थी कि महाराज के कूचा सेठ के चतुर्मास वाले उपदेश भी पढ़ने का लाभ मिलना चाहिये। परन्तु वहां से हमें उनकी अधिक प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हो सकीं। अतः धर्म प्रेमी समाज के विशेष आग्रह पर उन उपदेशों को यहा पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। इस कार्य में श्री पं० रमाशंकर जी त्रिपाठी तथा डा० फूलचन्द जी जैन आदि सज्जनों का श्रम विशेष सराहनीय है।

आशा है कि धर्म प्रेमी सज्जन इन उपदेशों का अध्ययन कर अपनी आत्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

विनीत—
(चौ०) सुलतानसिह जैन
जयनारायन जैन

पहाड़ी धीरज, देहली
ता० २०-३-५६

दो शब्द

यह विज्ञान का युग है। नए नए आविष्कारों ने संसार में एक चकाचौंध पैदा कर दी है, ... मानव सब कुछ भूल कर भौतिक साधनों की प्राप्ति की इस दौड़ में व्यस्त हो रहा है। पश्चिमात्य ... का प्रसार बढ़ने के साथ साथ वहाँ की भौतिकवाद-प्रधान संस्कृति का प्रभाव भी बढ रहा है तथा इह लौकिक सुख-सांसारिक सुख साधनों का जुटाना ही मानव जीवन का लक्ष्य बनता जा रहा है।

विज्ञान ने जीवन यापन के अनेक उपयोगी साधन तो जुटाए पर उसने हमारी दृष्टि को भी भौतिक पदार्थों के ज्ञान और उनके उपयोग तक ही सीमित कर दिया है। एक ऐसी लहर सर्वत्र फैल गई है कि लोग धर्म तथा आध्यात्मिक विषयों से दूर होते जा रहे हैं। भले ही आज हमें पूर्णतया इस का अनुभव न हो, पर नई पीढ़ी की ओर ध्यान देने पर यह बात स्पष्ट प्रतीत होने लगती है।

आज प्रत्येक समस्या का समाधान भौतिक दृष्टि से ही करने का प्रयास किया जाता है मानो वही मानव जीवन का चरम लक्ष्य हो। सांसारिक झंझटें, असीम चिन्ता, व्याकुलता और कठिनाइयाँ बढ़ रही हैं तथा सुख और शान्ति का नाम ही स्वप्न बनता जा रहा है।

वर्तमान में उन्नति के शिखर पर पहुंचे हुए देशों ने साम्राज्यवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद जैसे अनेक वादों को जन्म दिया और उन्हें तत्परता से कार्यरूप में परिणत किया, पर उन से सच्ची शान्ति नहीं मिल सकी। भौतिकवाद की अंधेरी और गहन निशा में सुख शान्ति रूपी सूर्य का प्रकाश असंभव समझ कर अब संसार के उच्चतम मस्तिष्क आध्यात्मिकवाद की ओर झुकने लगे हैं और भारत से इस विषय में नेतृत्व की आशा करते हैं।

भारतीय धर्मों ने मानव जीवन का जो ध्येय प्रतिपादन किया तथा इसकी प्राप्ति का जो मार्ग बताया है, वही सर्वोत्कृष्ट है। इन धर्मों में जैन धर्म का स्थान अत्यन्त उच्च है तथा उसका संसार में शान्ति स्थापन का भी मार्ग अनुपम और निराला है। उसके अहिंसा और अपरिग्रह जैसे महान् सिद्धान्त न सिर्फ संसार में शान्ति स्थापन के लिये अमोघ अस्त्र है बल्कि आत्मा को परमात्मा बना देने में भी समर्थ हैं।

अध्यात्म अति गहन विषय है और उसका उपदेश भी अति कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति इस विषय का अधिकारी नहीं बन सकता और न प्रत्येक व्यक्ति का प्रभाव ही पड सकता है, क्योंकि जिसने अपने को नहीं सुधारा वह दूसरों को क्या सुधार सकेगा। परन्तु ऐसे ज्ञानियों का सर्वथा अभाव भी नहीं है और श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी ऐसे ही व्यक्तियों में से हैं। आप अनेक भाषाओं के ज्ञाता विद्वान् तथा प्रभावशाली व्यक्ति हैं और आपके उपदेशों से जनता को महान् लाभ पहुंच रहा है। आप कठिन से कठिन विषय को बड़े सरल शब्दों में लोगो के मन में उतार देते हैं। अध्ययन और लेखन की ओर आपकी विशेष प्रवृत्ति है तथा अपना पर्याप्त समय इन कामों में लगाते हैं। आपके कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं तथा कई ग्रन्थों का लेखन व सम्पादन चल रहा है।

आचार्यजी के उपदेशों का यह सग्रह अनुपम ज्ञान का भंडार है। आशा है कि धर्मप्रेमी सज्जन इस से पूर्ण लाभ उठायेंगे।

हीरालाल जैन हायर सेकेण्डरी स्कूल
सदर बाजार, देहली
ता० २०-३-५६

विनीत,
हीरालाल जैन 'कौशल'
(साहित्यरत्न, शास्त्री, न्यायतीर्थ)

सूची पत्र

जैन धर्मशाला पहाड़ी धीरज देहली में आचार्यश्री के दर्शनार्थ सम्मानित महानुभावों का आगमन

भारत के सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री सेठ जुगलकिशोर जी बिड़ला समय २ पर आचार्य महाराज के दर्शनार्थ आते रहते हैं तथा आचार्य श्री से विभिन्न धार्मिक विषयों पर चर्चा भी करते रहते हैं। बिड़ला जी के अनुरोध से आचार्य श्री का एक बार बिड़ला मन्दिर में भाषण भी हो चुका है।

❈ ❈ ❈

ता० २६-२-५६ रविवार को जैन धर्मशाला पहाड़ी धीरज देहली में इजराइल निवासी श्री० टी० गोलविलम, जो कि आजकल भारत भ्रमण कर रहे हैं, श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज के दर्शनार्थ पधारे तथा उनसे दो घटे तक तत्व चर्चा की। महाराज जी के उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने आजन्म मास-भक्षण का त्याग किया। जैन समाज पहाड़ी धीरज की तरफ से उनको जैन धर्म का कुछ अंग्रेजी साहित्य भेंट किया गया।

❈ ❈ ❈

ता० ७-३-५६ को दि० जैन धर्मशाला पहाड़ी धीरज देहली में, हिज हाइनेस महाराजा सुकेत तथा हर हाइनेस राजमाता सिरमौर सपरिवार, आचार्य श्री के दर्शनार्थ पधारे और करीब दो घंटे तक तत्वचर्चा तथा शका समाधान किया। उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने आजन्म मांस, मदिरा का त्याग-व्रत लिया। आपको जैन समाज पहाड़ी धीरज की ओर से जैन साहित्य भेंट किया गया।

दूसरे दिन हर हाइनेस राजमाता सिरमौर आचार्यश्री का आहार देखने पधारीं और पूर्ण रूप से आहार विधि देखकर अत्यन्त प्रभावित हुईं।

❈ ❈ ❈

विभिन्न अवसरों पर सम्मानित महानुभावों द्वारा दिये गये अंग्रेजी भाषणों को 'टेप-रेकार्डर' पर से प्रकाशित कराने में श्री महावीर प्रसाद B. Sc., श्री वशेश्वरनाथ, श्री श्रीकिशन तथा श्री रघुवरदयाल से बहुत सहयोग प्राप्त हुआ है। सस्कृत के भाषण तथा उसके हिन्दी रूपान्तर में श्री प० रमाशंकर त्रिपाठी तथा अंग्रेजी भाषण के हिन्दीकरण में श्री० एन० आर० शाह (प० धी०) ने काफी परिश्रम किया है।

अतः इन सबको इस के लिये धन्यवाद।

(डा०) फूलचन्द जैन
पहाड़ी धीरज, देहली।
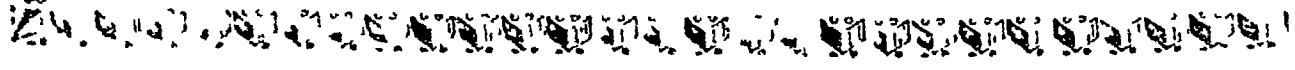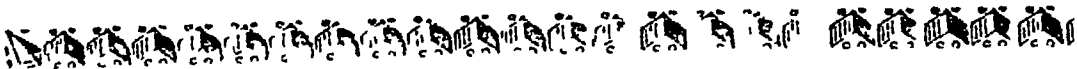
ॐ

उपदेश सार संग्रह

[पूज्य तपोनिधि विद्यालङ्कार १०८ श्री देशभूषण जी महाराज का चातुर्मास विक्रम सं० २०१२ में दिल्ली में हुआ। आचार्य श्री का उपदेश जो प्रतिदिन होता है। उसका सारांश निम्नलिखित है।]

प्रवचन नं० १

स्थानः—
दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथिः—
ज्येष्ठ शुक्ला ८ रविवार २९ मई १९५५।

मनुष्य-भव

इस जगत में जीव कर्म से प्रेरित होकर चौरासी लाख योनियों में अनादि काल से चक्कर लगा रहा है। अनन्त समय तक निगोद में संसारी जीव को रहना पड़ा, वहाँ पर स्वस्थ मनुष्य के एक श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण ही इसकी स्वल्प आयु रही। एक श्वास के समय में १८ बार निगोदिया जीवके जन्म-मरण का दुख या तो सर्वज्ञाता भगवान् जानते हैं या वे निगोदिया जीव उस दुःख का अनुभव करते हैं। अन्य कोई नहीं जान सकता। उस निगोद से भाग्यवश यदि यह निकला तो घास, बेल, पेड़, जल आदि एकेन्द्रिय जीवों की योनियो में इसे बहुत दिन भटकना पड़ा, जहाँ पर कि इस जीव का इतना तुच्छ मूल्य रहा कि शाक सब्जी आदि के रूप में कौड़ियो में बिकता रहा। शुभ कर्म के उदय से यदि वहाँ से इस जीव ने उन्नति की तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीव लट, चींटी, कीड़ा मकोड़ा, मक्खी आदि होता रहा। उस दशा में भी इस जीव की बड़ी दुर्दशा रही, किसी के पैर से रोंदा कुचला गया, किसे ने हाथ से मसल दिया, कोई खा गया आदि।

सौभाग्य से यदि यह पंचेन्द्रिय जानवर हुआ तो भी इसे अज्ञान के कारण सुख शान्ति नहीं मिली। चूहा, चिड़िया, खरगोश, हिरन आदि बलहीन पशुओं को सर्प, बिल्ली, बाज, कुत्ता, भेड़िया, सिंह आदि हिंसक पशु अपना भोजन बनाते रहे तथा बलवान पशु निर्दयता के कारण अशुभ कर्म-बन्ध करके अपना भविष्य बिगाड़ते रहे। गाय, बैल, घोड़ा, गधा आदि पशुओं को पराधीन रहकर सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, अधिक बोझ ढोना आदि अनेक तरह के कष्ट सहने पड़ते हैं। ऐसी दशा मे प्रायः वहाँ आत्म-कल्याण का अवसर ही नहीं आता।

नरक गति तो आयु भर असह्य दुःखों की खानि है ही। कीड़ा मकोड़ा तो अपने उस तुच्छ शरीर में भी प्रसन्न रहता है, वहाँ से मरना नहीं चाहता परन्तु नारकी जीव तो वैक्रियिक पचेन्द्रिय शरीर पाकर भी एक क्षण के लिये भी वहाँ जीना नहीं चाहता, वहाँ से तत्काल मरण हो जाना नारकी जीव को लाभ-दायक या सुखदायी प्रतीत होता है, किन्तु बेचारा वह असमय में वहाँ से मरकर कहीं अन्य योनि में जा भी नहीं सकता, जन्म भर उसे वहाँ की वेदना भुगतनी ही पड़ती है। ऐसी अवस्था मे नरक गति में आत्म-उन्नति के साधन कहाँ बन सकते हैं?

देवगति, नरक, पशु योनि की अपेक्षा अच्छी प्रतीत होती है क्योंकि देवों का शरीर जन्म भर स्वस्थ रहता है, उस शरीर में कोई रोग नहीं होता, भूख लगते ही गले में से अमृत झरकर तत्काल स्वय भूख शांत हो जाती है। भोग उपभोग के सभी साधन देवों को प्राप्त होते हैं, इस तरह उनका वर्तमान भव तो सुख-दायक दीखता है परन्तु आगामी भवके लिये वैसे सुखसाधन मिलने का उपाय वहाँ पर नहीं बन पाता, आत्मा को अक्षय सुख शान्ति पाने का मार्ग देवगति मे नहीं है। अत. संसार चक्र का भ्रमण देवगति से भी नहीं मिट पाता। आत्मशुद्धि के लिये देव व्रत, तप सयम नहीं कर सकते। अतः आध्यात्मिक-उत्थान की दृष्टि से देवयोनि भी महत्त्वशालिनी नहीं।

हां, मनुष्य भव ऐसा अवश्य है जहाँ से यह जीव ससार-सागर पार कर सकता है। किन्तु ऐसा सुवर्ण अवसर बहुत कम मनुष्यों को मिला करता है। बहुत से मनुष्य तो गर्भ में ही मर जाते हैं, बहुत से जन्म समय और बहुत से बचपन में मर जाते हैं ऐसे अल्पायु मनुष्यों का तो होना, न होना एक-जैसा है। बहुत से मनुष्य दरिद्र नीच कुल में उत्पन्न होकर पशुओं की तरह जन्म गँवाते हैं। किन्हीं को अच्छे कुल में जन्म मिलता है तो अन्धा, लूला, लगड़ा, बहरा, गूगा शरीर मिलता है। यदि अच्छा कुल और पूर्ण शरीर मिला किन्तु रोगी बने रहे तो भी जीवन शान्ति से व्यतीत नहीं हो पाता। सभी कुछ ठीक सामग्री मिले किन्तु धर्म-पालन करने का योग न मिले तब भी मनुष्य भव पाने से आत्मा का कल्याण नहीं होता।

मनुष्य-भव का महत्त्व सुन्दर स्वस्थ शरीर मिलने तथा भोग-उपभोग पाने से नहीं है. महाधनवान्, महान् उद्योगपति, महान् राज-अधिकारी, राजा, सम्राट् आदि बन जाने से भी मनुष्य जन्म सफल नहीं होता, ऐसी बातों में तो देव मनुष्यों की अपेक्षा बहुत आगे हैं। मनुष्य भव की सफलता तो उस धर्म-आराधन से है जो कि देव पर्याय में भी नहीं मिलता और जिस से आत्मा का उत्थान होता है।

मनुष्य भव एक ऐसा जङ्क्शन स्टेशन है जहाँ से सब स्थानों के लिये जीव यात्रा कर सकता है। तदनुसार मनुष्य कुकर्म करके नरक, निगोद पशुगति प्राप्त कर सकता है, सप्तम नरक जा सकता है और यदि सुमार्ग पर चलकर तप त्याग सयम का आराधन करे तो सर्वार्थसिद्धि जैसा संसार का सबसे ऊँचा स्थान भी पा सकता है। एवं यदि पूरा ठीक प्रयत्न करे तो आत्मध्यान द्वारा अनादि परम्परा से चली आई कर्म बेड़ी को तोड़कर सदा के लिये पूर्ण स्वतत्रता-पूर्णमुक्त भी हो सकता है। अपने परिश्रम और भावना के अनुसार फल मिला करता है, अतः मनुष्य जैसा परिश्रम करता है उसको उसी प्रकार वह फल मिलता है।

नारायण, चक्रवर्ती, तीर्थङ्कर मनुष्य ही होते हैं जिनकी कि सेवा देवगण भी चाकरों की तरह से करते हैं। ऋषि मुनि तथा मन्त्र वेत्ताओं के भी चरणों में देव शिर झुकाते हैं, इस कारण मनुष्य जन्म मिलना जिस तरह ससार मे बहुत दुर्लभ है, उसी तरह वह सबसे अधिक महत्त्वशाली भी है।

समय की गति अबाध्य है, पर्वत से गिरने वाली नदी का प्रवाह जिस तरह फिर लौटकर पर्वत पर नहीं जाता इसी तरह आयु का बीता हुआ क्षण भी फिर वापिस नहीं आता, वह तो अपनी आयु में से कम हो ही जाता है। तब दुर्लभ नर-जन्म पाकर मनुष्य जीवन के अमूल्य क्षणों में के एक भी क्षण व्यर्थ न खोना चाहिये। आत्म-कल्याण के कार्यों को करते चले जाना चाहिये। जो आज का समय है वह फिर कभी नहीं आवेगा। इसी कारण अंग्रेजी कहावत है 'Time is the money' अर्थात्—समय अमूल्य सम्पत्ति है।

घड़ी को लक्ष्य करके एक अंग्रेज कवि ने कहा है —

Tick the clock says tick tick tick,
What you have to do, do quick.
Time is running fast away,
We must work and work today.
Wait not for another tick.
Tick the clock says tick tick tick.

चलती हुई दीवाल घड़ी से 'टिक टिक' की ध्वनि निकलती रहती है उसी को लक्ष्य करके कवि कहता है। "टिक टिक टिक की ध्वनि में घड़ी यह कहती है कि जो कार्य तुमको करना है उस को शीघ्र कर डालो, समय बहुत तेजी से दौड़ा जा रहा है, हमको अपना कार्य अवश्य करना चाहिए और आज ही करना चाहिये, काम के लिए दूसरी टिक टिक ध्वनि की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये।

वैसे देखा जाय तो मनुष्य की जितनी आयु होती है उसमें से आधा समय तो रात्रि का होता है जो कि प्रायः सोने में ही समाप्त हो जाता है, यानी-आधी आयु तो सोने में ही बीत जाती है। बची हुई आधी आयु में से बचपन का समय खेल कूद में चला जाता है। बुढ़ापे का समय व्यर्थ जाता ही है, अनेक तरह के रोगों का शिकार बनते समय मनुष्य कुछ कर नहीं पाता। इस तरह लगभग आयु का चौथाई समय कुछ कार्य करने योग्य बचता है। उस चौथाई समय में से बहुभाग को यह रागी जीव अनेक तरह के खेल कूद, मनोरंजन, विषय भोगों तथा परिवार पालन पोषण मे एव धन संचय में खर्च कर देता है। इस तरह से हिसाब करने पर अपने आत्मकल्याण करने के लिये मनुष्य-भव का भी बहुत थोड़ा समय ही काम आने पाता है। उस थोड़े समय का भी उपयोग न किया जावे तो फिर मनुष्य-भव पाना व्यर्थ है।

इसी बात को लक्ष्य कर के नीतिकार कहता है:—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसितावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

अर्थात्—जब तक यह शरीर स्वस्थ है, वृद्ध अवस्था जब तक दूर है, जब तक इन्द्रियों में ध्यान, अध्ययन, व्रत तप संयम, भगवत् स्मरण, पूजन आदि कार्य करने की शक्ति है और जब तक आयु का क्षय नहीं हुआ है, तब तक बुद्धिमान् पुरुष को आत्म-उद्धार के लिए महान् परिश्रम कर लेना चाहिए। क्योंकि मृत्यु निकट आजाने पर धर्म आराधन करना तो ऐसा है जैसे कि घर में आग लग जानेपर उसको बुझाने के लिये कुंआ खोदना।

एक नगर में एक अच्छा बुद्धिमान् और कार्यकुशल वकील रहता था, आसपास के गांवों के जमींदार, व्यापारी, उद्योगपति उस वकील के द्वारा मुकदमे लड़ा करते थे तथा अनेक झगड़ों का निर्णय कराने के लिये उसकी सम्मति लिया करते थे।

एक गांव का एक अपढ़ किसान उस नगर में आते जाते यह सब कुछ देखा करता था। एक दिन उस किसान के मन में विचार आया कि मै भी इस वकील को १० रुपये फीस दे कर इससे कोई अच्छी उपयोगी सलाह ले लूं।

ऐसा सोचकर वह रुपये लेकर वकील के पास गया उसने वकील को रुपये देकर कहा कि महाशय जी ! मुझे भी कोई लाभदायक बात लिखकर दे दीजिए।

वकील उस भोले किसान की बात सुनकर मुस्कराया और उससे रुपये लेकर उसने एक कागज पर कुछ लिख कर उस किसान को दे दिया। किसान उस कागज को लेकर घर चला आया और उसने वह कागज बहुमूल्य वस्तु के समान बहुत संभाल कर रख दिया।

एक दिन खेत मे काम करते हुये शाम को उस किसान ने आकाश में काले बादल देखे। उसके खलिहान में कुछ अनाज और भुस पड़ा हुआ था, वह सोचने लगा कि इसको अभी उठाऊँ या कल उठाऊँ ? इसी समय उसे वकील का कागज याद आगया; उसने झटपट वह कागज मंगाकर एक आदमी से पढ़वाया कि देखू इस समय मुझे क्या करने के लिये कागज में लिखा है।

वकील के कागज मे लिखा था कि 'जो काम कल करना चाहते हो उसे आज ही कर डालो।' बस, किसान ने वकील की लिखी हुई सलाह मानकर अपने सब घर वालो को जुटाकर खेत में पड़ा हुआ सभी अनाज और भुस उठवाकर घर में सुरक्षित स्थान पर रखवा लिया।

दिन छिपते ही वहा बहुत जोर की आंधी आई और साथ ही बहुत जोर की वर्षा हुई। जिससे किसानो का खेतो मे पड़ा हुआ अनाज भीग गया और भुस उड़ गया। यह देख कर वह किसान वकील की लिखी हुई सम्मति पर बड़ा प्रसन्न हुआ।

साराश यह है कि 'शुभस्य शीघ्रम्' अर्थात् अच्छा कार्य शीघ्र कर डालना चाहिये, उसमें विलम्ब न करना चाहिए, पता नहीं वैसा सुविधाजनक समय फिर मिल सकेगा या न मिल सकेगा। अंग्रेजी कहावत है 'Time has wings, अर्थात समय के (उड़ने के लिये) पंख होते हैं अर्थात समय तेज गति से व्यतीत होता है।

प्रमादी लोग ही यो कहा करते हैं कि—

आज करना सो कल कर लेंगे, कल करना सो परसों।
ऐसी जल्दी क्या पड़ी है, अभी पड़े हैं बरसों॥

आत्म कार्यकुशल धार्मिक व्यक्ति तो भगवान से प्रार्थना करते हैं:—

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः सङ्गतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे,
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः॥

हे भगवन् ! जब तक मुझे संसार से मुक्ति न मिले तब तक मैं शास्त्रों का अभ्यास करता रहूं जिनेन्द्रदेव की भक्ति में लगा रहूं, सदा सज्जन धार्मिक व्यक्तियों की संगति में रहूं, सच्चरित्र पुरुषों के गुण गान करता रहूं, किसी दूसरे व्यक्ति की बुराई का वचन मेरे मुख से न निकले, मैं आत्मा का चिन्तन करता रहूँ। ये सब बातें मुझे भव-भव में मिलती रहें।

आत्म कल्याण के लिये यदि थोड़ा भी समय ठीक ढग से लगाया जावे तो उससे भी बहुत काय बन जाता है। सुकुमाल मुनि ने तीन दिन के अटल आत्मध्यान से संसार का सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया। पांडवों को आत्मसिद्धि करने में बहुत थोड़ा समय लगा। किन्तु उन्होंने उस स्वल्प समय मे अपनी शक्ति पूरी तौर से आत्मध्यान में लगा दी। शरीर पर क्या कुछ बीत रही है, इस ओर उन्होंने अपना चित्त न जाने दिया। ऐसे अटल आत्मध्यान का अभ्यास हमको भी करना चाहिये जिससे कि मनुष्य भव के थोड़े से क्षण भी बडी भारी आत्मशुद्धि में सहायक हो सकें।

उपदेश सार संग्रह— प्रवचन नं० २

स्थानः—
दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथिः—
ज्येष्ठ शुक्ला ६ सोमवार ३० मई १६५५।

आत्म-बोध

अनन्त गुणों का धनी यह आत्मा दीन-हीन, दरिद्र होकर अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दुःख भोगते हुए जो संसार में भटक रहा है उसका मूल कारण अज्ञान है। ज्ञानावरण कर्म ने जीव के विश्व प्रकाशक ज्ञान पर दुर्निवार आवरण डालकर ज्ञान ज्योति इतनी फीकी कर दी है जैसे कि श्रावणमास की अमावस्या की रात्रि में जुगनू की चमक। इस स्वल्प ज्ञान पर भी मिथ्यात्व ने ऐसा बुरा रंग जमाया है कि आत्मा का ज्ञान वहिर्मुख बना रहता है स्वय अपने आत्मा को नहीं जान पाता। इसी अज्ञान के कारण संसारी जीव महान् परिश्रम करते हुए सुख शान्ति को जो कि उनकी निजी चीज है, उसको प्राप्त नहीं कर पाते।

जिस तरह पराक्रमी सिंह अपने बल विक्रम को भूलकर कुम्हार के गधों के साथ बोझा ढो रहा था, कुम्हार के डंडे की मार खारहा था, वैसे ही दशा अपनी आत्मनिधि को न पहचानने वाले संसारी जीव की. हो रही है।

दूसरे सिंह ने जब अपने जातिबन्धु सिंह की कुम्हार के गधों के साथ दुर्गति देखी तब उसने उस सिंह को पुकार कर कहा कि वनराज सिंह ! एक जोर की दहाड़ तो मार, अभी तेरे दुख दूर हो जायंगे। यह

सुनकर शेर ने जब दहाड़ मारी तब साथ के गधे एक ओर भाग गये और कुम्हार डरकर दूसरी ओर भाग गया वह सिंह डडे की मार और बोझा ढोने से छुटकारा पागया। इसी तरह परम दयालु गुरु जब ससारी जीव को उसके महान् पराक्रम और उसकी गुप्तनिधि की पहिचान कराते हैं तब संसारी जीव अपने गौरव का अनुभव करके अपने दुःख जंजाल को तोडकर फेंक देता है। इसी बात को एक कवि ने निम्नलिखित श्लोक में कहा है:—

दुःखव्यालसमाकुलं भवबनं जाड्यान्धकाराश्रितं,
तस्मिन्दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यन्तिसंसारिणः।
तन्मध्ये गुरुवाक्यदीपममलंज्ञान प्रभाभासुरं,
प्राप्यालोक्य च सत्तमं सुखप्रदं यातिप्रबुद्धो ध्रुवं ॥

अर्थात्—अनेक दु खरूपी भयानक सर्पों से भरा हुआ,गहन अज्ञान अन्धकार से व्याप्त यह ससार महावन है, इसमें दुर्गति-रूपी भीलों की ओर जाने वाले मार्ग में ससारी जीव भटक रहे हैं। उन संसारी जीवों को सुपथ दिखाने वाला गुरु का उपदेश-रूपी प्रकाशमान दीपक है। उसी उपदेश-रूपी दीपक से अपने आत्मा का अवलोकन करके जीव अविनाशी सुख पा लेता है।

तरण तारण गुरु के विषय में कितना अच्छा कहा है:—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजन शलाकया,
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः।

अर्थात्—अज्ञान के कारण अन्धे जीवों के नेत्र जिसने ज्ञानरूपी अंजन (सुरमा) की सलाई से खोलकर ठीक कर लिये हैं, उस गुरु को नमस्कार है।

जगत् में जीव का पतन करने वाला मूल कारण अज्ञान है और अज्ञान हटाने वाले गुरु हैं, इस कारण जीव का महान् शत्रु अज्ञान है और जीव के निरपेक्ष उपकारी मित्र गुरु महाराज हैं।

अज्ञान के कारण जीव की ज्ञान-शक्ति क्षीण हो गई है इतना ही नहीं बल्कि मिथ्यात्व के कारण उसमें और भी अनेक दोष आगये है जिससे उसमे अपने पराये की पहचान भी नहीं रही, इसीसे वह परायी वस्तुओं को अपना समझता है।

कान्तेयं तनुभूरयं मातेयमेषा स्वसा,
जामेय रिपुरेष पत्तनमिदं सद्मेदमेतद्वनम्।
एषा यावदुदेति बुद्धिरधमा संसारसंवर्द्धिनी।
तावद् गच्छति निवृर्तिं वत कुतो दुःखद्रु मोच्छेदिनीम्॥

अर्थात्—यह मेरी स्त्री है, यह पुत्र है, यह मित्र है, यह माता, बहिन, पुत्री है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा नगर, घर, बाग है। जबतक संसार बढ़ाने वाली ऐसी कुबुद्धि बनी रहती है तब तक द खहारिणी मुक्ति इस जीव को कहाँ मिल सकती है ?

जैसे यात्रा करते हुए यात्री को किसी धर्मशाला में विविध देशों से आये हुए यात्री कुछ समय के लिये मिल जाते है, उसी तरह इस देह-रूपी धर्मशाला के कारण कुछ यात्री इस जीव को कुछ समय के लिये मिल जाते है जिनमें से यह जीव अज्ञान से विभिन्न व्यक्तियों को अपने शत्रु, मित्र, पुत्र, भार्या, बहिन आदि मानकर उनमे तरह तरह की चेष्टायें करता है।

जैसे पागल कुत्ता पत्थर मारने वाले मनुष्य को चोट पहुँचाने वाला न समझ कर पत्थर को काटने दौडता है, इसी तरह संसारी जीव अज्ञान से अपने असली शत्रु कर्म को न समझकर अन्य जीवों को अपना बैरी समझ कर उनसे द्वेष किया करता है।

को सुख को दुख देत है, कर्म देत झकझोर।
उरझै सुरझै आप ही, ध्वजा पवन के जोर॥

यानी—जीव को उसके कर्म ही सुख दुख देते है, कोई और व्यक्ति सुख दुख नहीं देता। जैसे कि ध्वजा हवा के कारण अपने आप उलझती सुलझती रहती है।

अज्ञान के कारण जीव जगत् के अन्य सब पदार्थों की ओर देखता है किन्तु अपनी ओर नहीं देखता। वह बाहरी बातों में तो चतुर बन जाता है परन्तु अपने आपको समझने में निरा मूर्ख बना रहता है।

एक गॉव से ११ मनुष्य आजीविका के लिये परदेश को चले, उनको मार्ग में एक नदी मिली उसको उन्होंने बहुत सावधानी से पार किया। जब वे नदी पार कर गये, तब उन्होंने अपनी संभाल की कि हममें से कोई आदमी नदी में तो नहीं बह गया। प्रत्येक मनुष्य अपने आप को न गिनकर दूसरे दूसरे मनुष्यों को गिन लेता था, इस कारण जो भी गिनता उसकी गिनती में दश ही मनुष्य आते। तब वे विचारने लगे कि हम में से एक मनुष्य कौन-सा कम हो गया है। अपनी इस आशंका का समाधान वे कुछ भी न कर पाये क्योंकि उनमें से कोई भी व्यक्ति गुम न हुआ था, सभी मौजूद थे।

इतने में एक घुड़सवार उधर आ निकला उसने उन सबको चिन्ता मग्न देखकर उनसे चिन्ता का कारण पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि हम ११ मनुष्य गांव से चले थे किन्तु नदी को पार करते ही १० रह गये हैं। पता नहीं चलता कि हम मे से कौन सा आदमी नदी में बह गया है।

घुडसवार ने सरसरी निगाह से देखकर समझ लिया कि आदमी तो ये ११ ही हैं किन्तु इनमें से गिनने वाला आदमी अपने आप को न गिनकर केवल दूसरों को गिन लेता है, इस कारण ११ होते हुए भी ये अपने आपको १० ही समझ रहे हैं। घुड़सवार ने सारा मामला समझकर उनसे कहा कि 'यदि तुम मुझे १००) रुपये पारितोषिक दो तो मैं तुम्हारे ११ आदमी पूरे कर दूं।'

घुडसवार की बात बड़ी प्रसन्नता से सबने स्वीकार कर ली और उसको १००) इकट्ठे करके दे दिये। तब घुड़सवार ने चाबुक उठाकर प्रत्येक मनुष्य को क्रम से एक-एक चाबुक लगाते हुए १-२-३-४-५ आदि गिनते हुए ११ आदमी गिनवा दिये। इसपर वे ग्रामीण बडे प्रसन्न हुए।

ऐसी ही बात संसारी जीव की है अपने अनन्त गुणों का अक्षय भंडार इसी के भीतर छिपा हुआ है, उस अपने भंडार का पता इसे खुद नहीं है इसी भूल के कारण यह दीन हीन भिखारी बना हुआ है, ज्ञान,सुख, शान्ति, बल का टुकड़ा पाने के लिए दूसरों के सामने हाथ पसारता है। यदि यह अपने आप को समझ ले तो सारी निधि इसे अपने आप मिल जावे।

जितना परिश्रम, जितने दुख सुख यह शान्ति पाने के लिये अज्ञान के कारण उठाता है यदि सत् ज्ञान की छाया मे उससे बहुत थोड़ा भी परिश्रम करे तो इसे अक्षय अनन्त सुख ज्ञान शान्ति बल प्राप्त हो जावे।

ज्ञान का स्रोत

ज्ञान का अटूट स्रोत हर एक जीव के पास है, वह स्रोत ज्ञानावरण कर्म से छिपा हुआ है। गुरु उस स्रोत को खोल देता हैं जिससे ज्ञान की अखंड धारा प्रवाहित होने लगती है। गुरु अपना ज्ञान शिष्य को नहीं देता है, यदि ऐसा होता तो गुरु का ज्ञान कम हो जाता सो ऐसा होता नही है, शिष्य का ज्ञान बढ़ाते हुए गुरु का अपना ज्ञान भी बढता जाता है। जैसे चाकू में धार (edge) स्वय होती है किन्तु वह छिपी रहती है। शाण पर घिसते ही वह चाकू में स्वयं प्रकट हो जाती है। इसी तरह ज्ञान भी जीव में मूढ है, गुरु अपनी शिक्षा से उस ज्ञान को चमका देता है। उसी चमक में जीव को हेय-उपादेय की पहिचान हो जाती है।

हेय (त्यागने योग्य बुरे कार्यों) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य अच्छी बातों) का ज्ञान हुए बिना मनुष्य और पशु में कुछ भी अन्तर नहीं।

आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो, ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समाना ॥

अर्थात्—खाना पीना, सोना, उठना, विषय सेवन करना ये बातें मनुष्यों में पशुओं के समान हैं मनुष्यों में पशुओं से ज्ञान की ही विशेषता है, जिन मनुष्यों में ज्ञान की हीनता है वे पशुओं के समान होते है।

इसलिये पशुओं से अपनी विशेषता कायम करने के लिए मनुष्यों को ज्ञान हासिल करना चाहिये। परन्तु ज्ञान वही लाभदायक है जिससे आत्मा को हेय-उपादेय का बोध प्राप्त होता है। कहा भी है.—

विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदा या,
बोधो हि को यस्तु विमुक्ति हेतुः।
कोलाभ आत्मावगमोहि यो वै,
जितं जगत्केन मनो हि येन ॥

अर्थात्—विद्या वही सार्थक है जो आत्मा को प्रगतिशील बनावे। ज्ञान वही सफल है जो मुक्ति का कारण हो। सच्चा लाभ आत्मज्ञान है और संसार का विजेता वही है जिसने कि अपना मन विजय कर लिया है।

इस हितकारिणी नीति के अनुसार सब स्त्री पुरुषों को अपने आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और अपने मन को वश में करना चाहिये, तभी यह गाढ़ अज्ञान अन्धकार नष्ट होकर ज्ञान ज्योति प्रकट हो सकती है।

उपदेशसार संग्रह— प्रवचन नं ३

स्थानः— तिथिः—

दिगम्बर जैनमन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली ज्येष्ठ शुक्ला १० मंगलवार ता० ३१-५-५५

समय की गति

हमारा प्रत्येक पग श्मशान भूमि की ओर जा रहा है, प्रत्येक श्वास में आयु कम हो रही है, मृत्यु निकट आ रही है और प्रतिक्षण शक्ति क्षीण होती जा रही है फिर भी हम समझते हैं कि हम बढ़ रहे है। जब कोई व्यक्ति किसी २५ वर्ष के युवक से पूछता है कि भाई! तुम कितने बड़े हो? तो इसके उत्तर में वह यों नहीं कहता कि 'मैं २५ वर्ष छोटा हो गया हूँ क्योंकि मेरी आयु के २५ वर्ष कम हो गये हैं।' वह तो ऐसा ही समझता और कहता है कि मैं २५ वर्ष का हूं। लोक-प्रचलित ऐसी समझ और ऐसा उत्तर कितना गलत है इसको प्रत्येक बुद्धिमान समझ सकता है।

लोग समझते है कि 'समय बीतता है।' वे यह नहीं समझते कि समय तो गतिमान द्रव्य है, वर्तनारूप उसकी गति-क्रिया न कभी रुकी और न कभी रुकेगी, इसलिए वह क्या बीतता है, बीतते तो हम हैं। कभी माता के गर्भ में थे, कभी पेट से बाहर आये, कभी शिशु थे, कभी किशोर हुए और कभी युवक आदि, हमारी कोई भी दशा कायम नहीं रही, फिर भी हम अपनी दशा को न देखकर समय को ही बीतने वाला समझ लेते हैं।

भर्तृहरि ने कितना सुन्दर कहा है:—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता, तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा॥

अर्थात्—हमने भोग नहीं भोगे बल्कि भोगों ने ही हम को भोग लिया, (विषय भोगों में मनुष्य का बल वीर्य क्षीण हो जाता है)। तप हमने नहीं तपे किन्तु तपों ने हमको तपा दिया। देखा जाता है कि मनुष्य तपस्या का बाहरी रूप लेकर अपने कषाय शान्त करने के बजाय उनको उग्र कर लेते हैं जिससे जन साधारण की अपेक्षा उनमें क्रोध, मान की मात्रा अधिक दीख पड़ती है। काल नहीं बीता, हम ही बीत गये, सो ठीक दीख ही रहा है कि काल की गति तो वही चल रही है वह तो कभी नष्ट नहीं हुआ किन्तु मनुष्यों का आयु काय नष्ट हो रहा है। तथा हमारी तृष्णा जीर्ण नहीं होती—नहीं गलती, हम ही जीर्ण हो रहे हैं। प्रत्यक्ष दीखता है कि वृद्ध अवस्था में शरीर तो जीर्ण हो जाता है परन्तु मृत्यु के द्वार पर पहुँचे हुए बुड्ढे बाबा का मोह लोभ पहले से भी अधिक तीव्र हो जाता है, मानो वह सारे संसार का धन और पुत्र आदि को अपने साथ ही ले जावेगा।

इस तरह भर्तृहरि ने इस श्लोक में मनुष्य जीवन का रहस्य और मर्म खोलकर रख दिया है।

मनुष्य अपने अमर आत्मा का महत्त्व भूलकर जिस भौतिक शरीर पर मोहित हो रहे हैं उसके विषय में आचार्य वादीभसिंह ने संक्षेप में कह दिया है कि:—

जलबुद्बुदनित्यत्वे चित्रीया न हि तत्तये।

अर्थात्—पानी का बबूला जितनी देर ठहरा रहे उतनी देर का आश्चर्य करना चाहिये उसके नष्ट होने का कुछ आश्चर्य नहीं है। यह भौतिक शरीर जल के बबूले के समान है, जब भी यह नष्ट हो जाय उसमें क्या आश्चर्य की बात है।

लोग कहते है कि "अभी हमारी उम्र नहीं, कुछ खा पी ले, मौज शौक करलें, संसार के विषय भोग लें, कुछ रंगरेलियाँ कर लें, बड़े हो जाने पर त्याग कर देंगे, धर्म कर लेंगे, दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।" किन्तु उन्हें सब कुछ देखते हुए भी यह विश्वास कैसे होगया कि धर्म करने के लिये वे जिस वृद्ध अवस्था की सोच रहे है, उस वृद्ध अवस्था तक वे पहुँच पावेगे भी ? हम देखते है कि पिता बैठा रहता है पुत्र मृत्यु का शिकार हो जाता है। भारतवासियों की औसत आयु ३२ वर्ष की रह गई है तब धर्म करने के लिये वृद्ध अवस्था की बात सोचकर विषय भोगों में ही समय नष्ट करना भारी भूल है।

मृत्यु का निश्चित समय किसी को मालूम नहीं, बलवान जवान आदमी भी बैठे बैठे परलोक को कूच कर जाते हैं, गर्भ में ही बहुत से मर जाते है, बच्चों की मृत्यु-संख्या युवक मनुष्यों से अधिक है और प्रायः वृद्ध मनुष्यों की अपेक्षा आजकल के युवक अधिक संख्या में मौत के महमान बनते हैं। तब आत्म-कल्याण के लिए वृद्ध अवस्था की बात सोचना अज्ञानता है।

राम लक्ष्मण के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए एक देव ने कपट वेष में लक्ष्मण को झूठ मूठ यह कह दिया कि 'राम की मृत्यु हो गई है।' इतना सुनते ही महान् बलवान् नारायण पदधारक लक्ष्मण का हार्टफेल हो गया। महाबली नारायण कृष्ण का शक्तिशाली शरीर जरत्कुमार के एक ही बाण से समाप्त हो गया। ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं को जानते हुए भी हम कह डालते हैं कि 'अभी खा पी ले, बुढ़ापे में आत्मकल्याण कर लेंगे।'

मनुष्य जिस सम्पत्ति के लिये मूल्यवान् जीवन की बाजी लगा रहा है, जिस धन के नशे में उसे कार्य अकार्य, अर्थ अनर्थ नजर नहीं आता, थोड़ी सम्पत्ति पाकर भी अभिमान में चूर हो कर पैर जमीन पर नहीं रखता, अपने सामने दूसरों को कुछ नहीं समझता, दूसरों का अपमान करते, दीन दुर्बल को सताते हुए संकोच नहीं करता, और पता नहीं क्या कुछ करने के ताने बाने तानता रहता है, उस धन की हालत तो शरीर से भी अधिक गई बीती है।

प्राचीन घटनाओं पर शायद कोई विश्वास न करे किन्तु इस ४०-५० वर्ष के भीतर इस भौतिक सम्पत्ति ने कितने पलटे खाये हैं यह तो सब किसी को मालूम हैं। १३००-१४०० वर्ष पुराने चीन के राजवंश की, रूसके जार की और जर्मनी के कैसर की राज सम्पत्ति किस तरह उन के हाथ से छिन गई, भारतवर्ष के सम्पत्तिशाली निजाम और राजों महाराजों की सम्पत्ति छिनते कितनी देर लगी ? पाकिस्तान बनने पर पंजाब सिन्ध के धनिक हिन्दू एकदम दरिद्र होगये, जमींदार और जागीरदारों की सम्पत्ति किस तरह कूच कर गई, उसको तो हम सबने अच्छी तरह देखा है फिर भी हम धन का अभिमान करें, कितनी भूल है।

कवि ने इस विषय में बतलाया है—

विद्युच्चलं किं धनयौवनायुर्दानं परं किं च सुपात्रदत्तम्।
कण्ठङ्गतैरप्यसुभिर्न कार्यं, किं किं विधेयं मलिनं शिवार्चा

अर्थात्—बिजली की चमक की तरह चंचल क्या है ? धन, यौवन और आयु। दान क्या है ? सुपात्र को दिया गया आवश्यकतानुसार द्रव्य। प्राण जाते हुए भी क्या न करना चाहिये ? पाप कार्य, और प्राण कंठगत होते हुए भी क्या करते रहना चाहिये ? भगवान् की पूजा।

ऐसे चंचल धन का न तो विश्वास करना चाहिये और न कुछ अभिमान ही करना चाहिये।

मनुष्य को अपने आयु के प्रत्येक क्षण का तथा अपनी सम्पत्ति के प्रत्येक कण का सदुपयोग करना चाहिये, आत्मकल्याण तथा परकल्याण का कार्य करने में जरा भी विलम्ब न करना चाहिये। किन्तु देखा यह जाता है कि विषय भोगों के विषैले जाल से विरला ही मनुष्य बच पाता है।

एक राजा ने अपने महल के बाहर बहुत सुन्दर बाग बनवाया और उस बाग में मनुष्यों के मन को लुभाने वाली सभी भोग-उपयोग की सामग्री का संचय किया। सुन्दर फुलवाड़ी, मनोहर जलक्रीड़ा का सामान, आराम करने के विचित्र पलंग, आसन, नृत्य गान की मनमोहक योजना, स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों का प्रबन्ध आदि पांचों इन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित करने वाली सभी सामग्री जुटा दी।

फिर मनुष्यों की कर्तव्य-परायणता की जांच करने के लिये उस राजा ने घोषणा की कि दो घंटे के समय में जो मनुष्य सब से पहले मुझ से भेंट कर लेगा उसको अपना राज्य पारितोषिक में दे दूंगा।

राजा की घोषणा सुनकर अनेक मनुष्य राजभवन की ओर चल पड़े किन्तु जब वे उस बाग में पहुँचे तब घोषणा की बात भूलकर कोई नर्तकी का नृत्य देखने में, कोई सुरीले गायन सुनने में, कोई जल-क्रीड़ा में, कोई स्वादिष्ट भोजनपान में, कोई वेश्याओं से रतिक्रीड़ा में मग्न हो गया, उन्होंने सोचा कि थोड़ी देर पीछे राजा से मिल लेंगे। केवल एक ही बुद्धिमान् मनुष्य उस बाग के मायामोह में न फंसा और बाग को पार करता हुआ सीधा राजा के पास जा पहुँचा।

राजा ने उसकी कर्तव्य-तत्परता का अच्छा सन्मान किया और उसे अपना राज्य दे दिया बाग के विषय भोगों में मस्त वे मनुष्य दो घंटे में भी सचेत न हो पाये तब राजकर्मचारियों ने उन्हें धक्के देकर बाग से बाहर निकाल दिया।

ऐसी ही दशा रागी भोगी मनुष्यों की है वे विषय भोगों में फंसकर आत्म-हित की यानी धर्म-साधन की बात भूल जाते हैं, आयु कर्म जब धक्के देकर उन्हे इस मानव शरीर से निकाल बाहर करता है तब वे पछताते हैं।

धन-परिग्रह के संग्रह में वे इतने तन्मय हो जाते हैं कि अपने आत्मा को तृप्त करने की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता।

सेठ जी को फिक्र थी एक एक के दश दश कीजिये।
मौत आ पहुँची कि हजरत जान वापिस कीजिये॥

सिनेमा इस युग का एक बड़ा विषैला साधन है, सिनेमा के चलचित्र ऐसे बुरे ढंग से तैयार किये जाते हैं कि उनको देखने वाले पुरुष हिंसा, चोरी, व्यभिचार बिना सिखाये सीख जाते हैं, स्त्रियाँ निर्लज्ज पहनना ओढ़ना तथा शृंगार करना सीख जाती हैं। जिन बच्चो को अपना प्रगतिशील गुणी, सदाचारी जीवन बनाने की शिक्षा मिलनी चाहिये उन्हें सिनेमा उद्दण्डता, गुण्डागर्दी, कामवासना की ओर ही अधिकतर प्रेरणा देता है। लोगों को आकर्षित करने के लिये अभिनेत्रियों के निर्लज्ज हाव-भाव भरे चित्र आम सड़कों पर सिनेमा-मालिक दिखलाते फिरते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि जिन लोगों को

पेट भर भोजन नहीं मिलता ऐसे गरीब बेकार लोग भी सिनेमा देखने के लिये अवश्य जा पहुँचते हैं।

इस तरह भारत की आर्य सभ्यता इस युग में निर्लज्जता, कामुकता, निर्दयता आदि दूषित प्रभावों से मलिन होती जा रही है और स्त्री पुरुषों का छोटा सा जीवन भी धर्मवासना से खाली होता जा रहा है। जो व्यक्ति अपने घर में सदाचार सुरक्षित रखना चाहते है उनको अपने परिवार में सिनेमा का व्यसन नहीं आने देना चाहिये।

शुभस्य शीघ्रम्

अपनी आयु और शरीर अस्थिर नश्वर और कुछ दिन का अतिथि समझकर इस थोडे से समय में भी अपने शरीर से, मन के अच्छे विचारों से, तथा मीठे वचनों से एवं पाए हुए धन से जनता का यथा-सम्भव उपकार करना चाहिए, दीन दरिद्र दुखी लोगों के कष्ट दूर करने चाहिएँ। परोपकार करने वाला व्यक्ति शुभ कर्म संचय करके अपना उपकार भी साथ ही साथ करता जाता है। इसलिए सदा सोते जागते बुरे कार्यों से बचो और अच्छे कार्य करते रहो, अच्छे काम करने में जरा भी देर न करो, पता नहीं फिर तुम कर सको या न कर सको।

उपदेशसार संग्रह—

प्रवचन नं० ३

स्थान:—
दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि:—
ज्येष्ठ शुक्ला १० मंगलवार १० जून १९५५

मानुषीय-कर्त्तव्य

अनेक कारणों से देवों का शरीर मनुष्य के शरीर से अच्छा कहा जा सकता है क्योंकि दिव्य शरीर में मल-मूत्र, पसीना नहीं होता, उसमें कोई रोग नहीं होता, वह सर्वाङ्ग सुन्दर होता है, अपनी इच्छानुसार देव उसको छोटा-बड़ा, हल्का-भारी आदि बना सकते हैं, ये विशेषताएं मनुष्यों के शरीर में नहीं किन्तु आत्म-शुद्धि मनुष्य-शरीर द्वारा ही हुआ करती हैं। देव इच्छा रहते हुए भी आत्म-शुद्धि के लिये उपवास, व्रत, सयम नहीं कर सकते, यही कारण है कि अनादि काल से अब तक एक भी देव संसार से मुक्त नहीं हो सका और न अनन्त भविष्यत्काल में किसी देव को इस दुःखमय ससार से मोक्ष प्राप्त हो सकेगी। आत्मा की शुद्धि और मुक्ति इस मानव शरीर से ही हुआ करती है। इस कारण मनुष्य-भव ससार में सबसे उत्तम माना गया है।

किन्तु जिस तरह धन सम्पत्ति पाकर भी मूर्ख लोग उससे स्व-पर-उपकार करने का लाभ नहीं उठा पाते, कृपण बनकर केवल उसके रक्षक बने रहते हैं इसी तरह मानव शरीर पाकर भी यदि उसका सदुपयोग न किया जावे, अपना कर्त्तव्य पालन न किया जावे, कुकर्मों में लीन रहकर समय बिताया जावे तो मुक्ति देने वाला नर-भव नरकदाता भी बन जाता है। बुद्धिमान् भव्य मनुष्य आत्मध्यान करके अजर अमर परमात्मा बन जाते हैं तो मूर्ख मनुष्य दुर्ध्यान द्वारा सातवाँ नरक भी तो पा लेते हैं। अतः जब तक

मनुष्य भव का अच्छा उपयोग न किया जावे तब तक उत्तम मनुष्य भव में भी आत्मा का कुछ भला नहीं होता।

मनुष्य-भव को सफल बनाने के लिये आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में चार बातो का निर्देश किया है—

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥११, अध्याय ७॥

इसी सूत्र को श्री अमितगति आचार्य ने सामायिक पाठ के प्रारम्भ में श्लोकबद्ध करते हुए लिखा है—

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

हे भगवान्! ऐसी कृपा हो कि मै जीवमात्र से मित्रता, गुणी लोगों के प्रमोद (हर्ष), दुखी जीवों में दयालुता और दुष्ट व्यक्तियों में तटस्थता (न प्रेम, न वैर) सदा करता रहूं।

यदि मनुष्य इन चारों बातों का मनसा वाचा कर्मणा आचरण करे तो मनुष्य सचमुच में नरदेह का पूरा लाभ प्राप्त कर ले, फिर संसार के दुःख क्लेश स्वयं अस्त हो जावें।

जब कि संसार का प्रत्येक प्राणी हमारे समान ही प्राणधारी है तो हम को सभी जीव अपने भाई के समान समझने चाहिये, उन का सुख दुख अपने सुख दुख के समान समझना चाहिये, हम जैसे शारीरिक कष्ट तथा मानसिक व्यथा सहन नहीं कर सकते, इसी तरह दूसरे जीव भी दुख नहीं सहना चाहते। ऐसी दशा में मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सभी जीवों के साथ अनुचित अनिष्ट वर्ताव न करे, सबके साथ मित्रता का व्यवहार करे जिससे उनको कोई कष्ट न हो। यदि हम दूसरे जीवों से मित्रता करेंगे तो वे भी हमारे साथ वैसा ही करेंगे। सिंह खूंख्वार पशु है, दूसरे जीवों को मार कर खाना उसका स्वभाव है, परन्तु उसी निर्दय सिंह के साथ अच्छा व्यवहार किया जावे तो वही सिंह दयालु प्रेमी मित्र भी बन जाता है।

इतिहास प्रसिद्ध घटना इस बात की साक्षी है—

अफ्रीका के एक राजा के यहा एक गुलाम (खरीदा हुआ नौकर) सेवा किया करता था। राजा बडी निर्दयता से उसके साथ व्यवहार करता था, उसे बहुत सताता और तग करता था। रात दिन के इस दुख से छुटकारा पाने के लिये वह गुलाम उस राजा के यहाँ से चुपचाप जंगल में भाग गया।

जगल में भटकते हुए उस गुलाम को एक गुफा में पीड़ा से कराहते हुए एक शेर की दुख भरी आवाज सुनाई दी। गुलाम के हृदय मे दया उमड़ आई, वह बेखटके गुफा में भीतर घुस गया। वहाँ जाकर उसने देखा कि एक शेर के पजे में काटा लगा हुआ है जिस की पीड़ा से सिंह व्याकुल होकर कराह रहा है।

गुलाम क्षणभर के लिए अपना दुख और सिंह का भयानक स्वभाव भूल गया और सिंह के निकट पहुचकर बड़े यत्न से उसने उसके पजे में गढ़ा हुआ कांटा निकाल दिया। इससे सिंह को बहुत शान्ति मिली और उसने उस गुलाम का बहुत आभार माना, सिंह ने उसको कुछ न छेड़ा, चुपचाप गुफा से बाहर निकल जाने दिया।

कुछ दिन पीछे वह सिंह पकड़ा गया और उसी राजा के यहां पहुचाया गया। उधर उस राजा के कर्मचारी उस भागे हुए गुलाम को पकड़ने के लिये भी गुलाम का पीछा कर रहे थे, सो बेचारा वह

गुलाम भी एक दिन उनके हाथ में आ गया। जब बन्दी बनकर उस गुलाम को राजा के सामने उपस्थित किया गया तो क्रोध में आकर राजा ने उसे प्राणदण्ड की आज्ञा दी।

तदनुसार नियत समय पर बहुत भारी मनुष्यों की भीड़ और राजा के सामने वह गुलाम सिंह के पिंजड़े में छोड़ दिया गया जिससे भूखा शेर उसको खा जावे, परन्तु यह देखकर सबको बहुत आश्चर्य हुआ कि उस सिंह ने गुलाम को खाया नहीं बल्कि वह उस गुलाम के पैर चाटने लगा।

यह दृश्य देखकर राजा ने गुलाम को शेर के पिंजड़े से बाहर निकाल कर इसका कारण पूछा तो गुलाम ने कहा आपकी सेवा करते हुए तो मुझे सदा दुख ही मिलता रहा यहाँ तक कि आज आपने प्राणदण्ड भी दे डाला, किन्तु इस शेर के पजे से जगल मे मैंने केवल एक कांटा निकाला था, उसी छोटे से उपकार के बदले इसने मुझे आज जीवन दान दिया है।

यह सुनकर राजा लज्जित हुआ और उसने उस गुलाम को स्वतन्त्र कर दिया।

इसी तरह अन्य जंगली हिंसक पशु भी मित्र बनाये जा सकते हैं, ढूंढने पर उनकी मित्रता के अन्य दृष्टान्त भी मिल जावेंगे।

आज यदि रूस अमेरिका चीन आदि देश भारत के बतलाये गये मित्रता पूर्वक सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर चलें तो समस्त देशों में शांति छा जावे और युद्ध की आशंका जाती रहे। इस तरह मैत्रीभाव सारे ससार को एक बड़ा परिवार बना देता है। इस कारण हमें सभी जीवों को अपना मित्र बनाना चहिये, किसी को भी अपना शत्रु न बनाना चाहिये।

मनुष्य में पूज्यता अच्छे गुणों के कारण आया करती है किसी भौतिक सम्पत्ति के कारण पूज्य आज तक कोई नहीं हुआ। दिगम्बर साधुओं के पास तो एक कौड़ी भी नहीं होती फिर भी सारा ससार उनको शिर इसी कारण झुकाता है कि वे उच्च आचार के धनी होते हैं। सरस्वती और लक्ष्मी में सौतेला भाव है इसी कारण जहाँ सरस्वती रहती है वहाँ प्राय. लक्ष्मी नहीं रहती—यानी विद्वान् प्रायः निर्धन होते हैं फिर भी उनको अपने ज्ञान गुण के कारण सर्वत्र सन्मान मिला करता है। गोलमेज कान्फ्रेंस के समय गांधीजी जब लन्दन गये तो अर्द्धनग्न शरीर वाले गांधीजी से सम्राट पंचम जार्ज भी सन्मान के साथ मिला।

हमारे आचार्य भी हमको यही प्रेरणा करते हैं कि तुम भी गुणी बनो और गुणी बनने के लिये गुणों का आदर करना सीखो, जहाँ भी किसी गुणी को देखो, देखते ही हर्ष-पूर्वक उससे मिलो, तभी तुम्हारे गुणों का विकास होगा। यदि गुणों का आदर न करोगे तो तुम निर्गुण बने रहोगे। मर जाने के पीछे भी अमर यश गुणवान का ही रहता है, निर्गुणी का नाम उसके जीवित रहते हुए भी मृतक होजाता है।

गुणियों का अनादर न करने के लिये चेतावनी देते हुए एक कवि ने लिखा है—

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मावमंस्थ,
तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि।
मधुकरमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां,
न भवति विषतन्तु वरिणं वारणानाम्॥

यानी—परमार्थ के जानकार गुणी विद्वानों का अनादर मत करो, तिनके-जैसी तुच्छ लक्ष्मी उन विद्वानों के प्रभाव को नहीं रोक सकती। मदोन्मत्त बलवान् हाथियों को कमल का निर्बल तन्तु नहीं बांध सकता।

अतः गुणग्राही बनो, गुणों का तथा गुणवानो का आदर करो, गुणियों को देखते ही हर्षित होकर उनका स्वागत करो, ऐसा करोगे तभी तुम्हारे गुणों का विकास होगा।

दीन दुखी सेवा

यदि सुखी रहना चाहते हो तो दूसरो के दुःख दूर करो, दीन दुखियों के कष्ट मिटाओ। जिस अहिंसा को सब कोई परमधर्म बतलाता है वह अहिंसा दीन दुखी जीवो की सेवा ही तो है।

एक अनुभवी विद्वान् ने कहा है कि 'ईश्वर दीन दुखियों के झोपड़ा में रहता है।' इसका भी यही अभिप्राय है कि यदि दीन दुखी लोगों की सेवा करोगे तो तुमको ईश्वर मिलेगा। सिद्धान्त के अनुसार कह लीजिये कि ईश्वर बनने के लिये दुखी जीवो का दुख दूर करना आवश्यक है।

इस कारण इस मनुष्य शरीर का लाभ प्राप्त करने के लिये स्वय-सेवक बनकर दुखियों का दुख मिटाना चाहिये। दीनदयालु होना महत्त्वशाली पद पाना है। भोजन करते समय भूखी जनता को न भूलो, उसके लिए कुछ न कुछ (कम से कम एक दो रोटी) भोजन बचाओ। पलंग पर सोते समय उन दरिद्र स्त्री पुरुषो का स्मरण करो जो नंगी जमीन पर अपमानित रूप से सोते है। सुन्दर मूल्यवान वस्त्रों को पहनते समय उन गरीब स्त्री, पुरुषो, बच्चो का भी ध्यान रक्खो जिन के शरीर पर चिथड़ा भी नहीं है। सारांश यह है कि दीन दुखियों पर सदा दया करो और उनके दुःख यथाशक्ति दूर करते रहो।

दुष्टों से मध्यस्थ भाव

संसार में ऐसे दुष्ट पुरुषों की भी कमी नहीं है, जो कि हितकर उपदेश को तथा अन्य किसी अच्छी बात को भी बुरा ही समझते है। जैसे सर्प को पिलाया दूध भी प्राणहारी विष बन जाता है, उसी तरह दुष्टों को दिया हुआ उपदेश भी उल्टा अपकार करता है। इस कारण दुष्ट पुरुषों से दूर रहना ही लाभदायक है।

एक बार बहुत वर्षा हुई। उस समय कुछ बन्दर एक पेड़ के नीचे बैठे हुए पेड़ से टपकते हुए पानी से भीग रहे थे। कुछ बया पक्षी अपने घोंसलों में आराम से बैठे हुए बन्दरों को देख रहे थे।

उन्होंने बन्दरों पर दया करके कहा कि भाई! मनुष्यों की तरह तुम लोगों के हाथ पैर हैं फिर भी तुम अपने लिये सुरक्षित कोई स्थान बनाकर क्यों नहीं रहते, वर्षा में इस तरह क्यों भीग रहे हो?

बन्दरों को बया पक्षियों का यह हित-उपदेश बहुत बुरा लगा, उन्होंने वर्षा समाप्त हो जाने पर पेड़ पर चढ़कर समस्त बया पक्षियों के घोंसले तोड तोड़कर फेंक दिये।

इस तरह दुष्ट व्यक्ति हितकारी सम्मति का आदर न करके उल्टा उत्तर देते हैं। इसलिये दुष्टों से प्रेम करना भी दुखदायक है।

यदि दुष्टों से बिगाड़ करें, उनसे घृणा, द्वेष, वैर करें तब तो उन दुष्टों का पारा और भी चढ़ जाता है और वे सर्वनाश करते हुए रत्ती भर भी संकोच नहीं करते।

अत. आचार्यों ने दुष्टों से बचने का यही सरल उपाय बतलाया है कि दुष्ट लोगों से न तो प्रेम करो और न उनसे वैर बांधो। उनसे तटस्थ रहे आओ।

इस तरह मनुष्य जीवन को सफल तथा प्रगतिशील बनाने के लिये पूर्वाचार्यों की बताई पूर्वोक्त चारों बातों पर आचरण करना चाहिये।

गुलाम भी एक दिन उनके हाथ में आ गया। जब बन्दी बनकर उस गुलाम को राजा के सामने उपस्थित किया गया तो क्रोध मे आकर राजा ने उसे प्राणदण्ड की आज्ञा दी।

तदनुसार नियत समय पर बहुत भारी मनुष्यों की भीड और राजा के सामने वह गुलाम सिंह के पिंजड़े में छोड़ दिया गया जिससे भूखा शेर उसको खा जावे, परन्तु यह देखकर सबको बहुत आश्चर्य हुआ कि उस सिंह ने गुलाम को खाया नहीं बल्कि वह उस गुलाम के पैर चाटने लगा।

यह दृश्य देखकर राजा ने गुलाम को शेर के पिंजड़े से बाहर निकाल कर इसका कारण पूछा तो गुलाम ने कहा आपकी सेवा करते हुए तो मुझे सदा दुख ही मिलता रहा यहॉं तक कि आज आपने प्राणदण्ड भी दे डाला, किन्तु इस शेर के पजे से जगल मे मैंने केवल एक कांटा निकाला था, उसी छोटे से उपकार के बदले इसने मुझे आज जीवन दान दिया है।

यह सुनकर राजा लज्जित हुआ और उसने उस गुलाम को स्वतन्त्र कर दिया।

इसी तरह अन्य जंगली हिंसक पशु भी मित्र बनाये जा सकते हैं, ढूंढने पर उनकी मित्रता के अन्य दृष्टान्त भी मिल जावेंगे।

आज यदि रूस अमेरिका चीन आदि देश भारत के बतलाये गये मित्रता पूर्वक सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर चलें तो समस्त देशों में शांति छा जावे और युद्ध की आशंका जाती रहे। इस तरह मैत्रीभाव सारे ससार को एक बड़ा परिवार बना देता है। इस कारण हमे सभी जीवो को अपना मित्र बनाना चहिये, किसी को भी अपना शत्रु न बनाना चाहिये।

मनुष्य में पूज्यता अच्छे गुणों के कारण आया करती है किसी भौतिक सम्पत्ति के कारण पूज्य आज तक कोई नहीं हुआ। दिगम्बर साधुओं के पास तो एक कौड़ी भी नहीं होती फिर भी सारा संसार उनको शिर इसी कारण झुकाता है कि वे उच्च आचार के धनी होते हैं। सरस्वती और लक्ष्मी में सौतेला भाव है इसी कारण जहॉं सरस्वती रहती है वहॉं प्राय. लक्ष्मी नहीं रहती—यानी विद्वान् प्रायः निर्धन होते हैं फिर भी उनको अपने ज्ञान गुण के कारण सर्वत्र सन्मान मिला करता है। गोलमेज कान्फ्रेंस के समय गांधीजी जब लन्दन गये तो अर्द्धनग्न शरीर वाले गांधीजी से सम्राट पंचम जार्ज भी सन्मान के साथ मिला।

हमारे आचार्य भी हमको यही प्रेरणा करते हैं कि तुम भी गुणी बनो और गुणी बनने के लिये गुणों का आदर करना सीखो, जहॉं भी किसी गुणी को देखो, देखते ही हर्ष-पूर्वक उससे मिलो, तभी तुम्हारे गुणों का विकास होगा। यदि गुणों का आदर न करोगे तो तुम निर्गुण बने रहोगे। मर जाने के पीछे भी अमर यश गुणवान का ही रहता है, निर्गुणी का नाम उसके जीवित रहते हुए भी मृतक होजाता है।

गुणियों का अनादर न करने के लिये चेतावनी देते हुए एक कवि ने लिखा है—

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मावमंस्थ,
तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि।
मधुकरमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां,
न भवति विषतन्तु वरिणं वारणानाम्॥

यानी—परमाथ के जानकार गुणी विद्वानों का अनादर मत करो, तिनके-जैसी तुच्छ लक्ष्मी उन विद्वानों के प्रभाव को नहीं रोक सकती। मदोन्मत्त बलवान् हाथियो को कमल का निर्बल तन्तु नहीं बांध सकता।

अतः गुणग्राही बनो, गुणों का तथा गुणवानों का आदर करो, गुणियों को देखते ही हर्षित होकर उनका स्वागत करो, ऐसा करोगे तभी तुम्हारे गुणों का विकास होगा।

दीन दुखी सेवा

यदि सुखी रहना चाहते हो तो दूसरों के दुःख दूर करो, दीन दुखियों के कष्ट मिटाओ। जिस अहिंसा को सब कोई परमधर्म बतलाता है वह अहिंसा दीन दुखी जीवों की सेवा ही तो है।

एक अनुभवी विद्वान् ने कहा है कि 'ईश्वर दीन दुखियों के झोंपडों में रहता है।' इसका भी यही अभिप्राय है कि यदि दीन दुखी लोगों की सेवा करोगे तो तुमको ईश्वर मिलेगा। सिद्धान्त के अनुसार कह लीजिये कि ईश्वर बनने के लिये दुखी जीवों का दुख दूर करना आवश्यक है।

इस कारण इस मनुष्य शरीर का लाभ प्राप्त करने के लिये स्वय-सेवक बनकर दुखियों का दुख मिटाना चाहिये। दीनदयालु होना महत्त्वशाली पद पाना है। भोजन करते समय भूखी जनता को न भूलो, उसके लिए कुछ न कुछ (कम से कम एक दो रोटी) भोजन बचाओ। पलग पर सोते समय उन दरिद्र स्त्री पुरुषों का स्मरण करो जो नंगी जमीन पर अपमानित रूप से सोते हैं। सुन्दर मूल्यवान वस्त्रों को पहनते समय उन गरीब स्त्री, पुरुषों, बच्चों का भी ध्यान रक्खो जिन के शरीर पर चिथड़ा भी नहीं है। सारांश यह है कि दीन दुखियों पर सदा दया करो और उनके दुःख यथाशक्ति दूर करते रहो।

दुष्टों से मध्यस्थ भाव

संसार में ऐसे दुष्ट पुरुषों की भी कमी नहीं है, जो कि हितकर उपदेश को तथा अन्य किसी अच्छी बात को भी बुरा ही समझते हैं। जैसे सर्प को पिलाया दूध भी प्राणहारी विष बन जाता है, उसी तरह दुष्टों को दिया हुआ उपदेश भी उल्टा अपकार करता है। इस कारण दुष्ट पुरुषों से दूर रहना ही लाभदायक है।

एक बार बहुत वर्षा हुई। उस समय कुछ बन्दर एक पेड़ के नीचे बैठे हुए पेड़ से टपकते हुए पानी से भीग रहे थे। कुछ बया पक्षी अपने घोंसलों में आराम से बैठे हुए बन्दरों को देख रहे थे।

उन्होंने बन्दरों पर दया करके कहा कि भाई! मनुष्यों की तरह तुम लोगों के हाथ पैर हैं फिर भी तुम अपने लिये सुरक्षित कोई स्थान बनाकर क्यों नहीं रहते, वर्षा में इस तरह क्यों भीग रहे हो?

बन्दरों को बया पक्षियों का यह हित-उपदेश बहुत बुरा लगा, उन्होंने वर्षा समाप्त हो जाने पर पेड़ पर चढ़कर समस्त बया पक्षियों के घोंसले तोड तोड़कर फेंक दिये।

इस तरह दुष्ट व्यक्ति हितकारी सम्मति का आदर न करके उल्टा उत्तर देते हैं। इसलिये दुष्टों से प्रेम करना भी दुखदायक है।

यदि दुष्टों से बिगाड़ करें, उनसे घृणा, द्वेष, वैर करें तब तो उन दुष्टों का पारा और भी चढ़ जाता है और वे सर्वनाश करते हुए रत्ती भर भी संकोच नहीं करते।

अत. आचार्यों ने दुष्टों से बचने का यही सरल उपाय बतलाया है कि दुष्ट लोगों से न तो प्रेम करो और न उनसे वैर बांधो। उनसे तटस्थ रहे आओ।

इस तरह मनुष्य जीवन को सफल तथा प्रगतिशील बनाने के लिये पूर्वाचार्यों की बताई पूर्वोक्त चारों बातों पर आचरण करना चाहिये।

उपदेशसार संग्रह— प्रवचन नं० ५

स्थान—
श्री दि० जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। दिनांक ८-६-५५

अष्ट मूल गुण

वृक्ष तभी तक हरे भरे रहते हैं जब तक उनकी जड़ हरी भरी दृढ़ बनी रहती है। बड़े ऊंचे वृक्षों की जड़ छोटे वृक्षों की अपेक्षा गहरी और अधिक मजबूत होती है। गेहूं चने के पेड छोटे होते हैं तो उनकी जड़ भी छोटी होती है। जड़ उखड़ जाने पर वृक्ष की शाखाएं, पत्ते आदि सभी अंग सूख जाते हैं, उस पर फल फूल लगना बन्द हो जाता है। बड़े २ विशाल मकान भी तभी खड़े रहते हैं जब कि उनकी जड (नींव) गहरी और मजबूत होती है। निन्यानवे हजार योजन ऊंचा सुमेरु पर्वत इसी कारण अब तक अचल खड़ा हुआ है कि उस की जड़ एक हजार योजन गहरी है। इसी प्रकार धर्माचरण भी तभी दृढ़ निश्चल रहता है जब कि उसके मूल यम, नियम दृढ़ हों। मूल व्रतों का आचरण किये बिना धर्माचरण चिरस्थायी नहीं रहता।

घर परिवार के साथ रहने वाले गृहस्थ व्यक्ति का अपना आत्मा उन्नत करने के लिये उन मूलव्रतों का आचरण करना आवश्यक होता है जो कि उसके धर्माचरण के मूल आधार हैं। उन आधार भूत व्रतों को ही जिनवाणी में मूलगुण कहा गया है।

मूलगुण ८ होते हैं—१. मद्य त्याग २. मांस त्याग, ३. मधु त्याग, ४. बड ५. पीपल, ६. ऊमर, ७ गूलर, ८ कठूमर त्याग। इसी को ५ उदम्बर (बिना फूल के होने वाले फल बड, पीपल, ऊमर, गूलर, कठूमर) फलों का तथा ३ मकार (मद्य, मांस, मधु) का त्याग कहते हैं। अर्थात्—न खाने योग्य आठ पदार्थों के त्याग रूप आठ मूलगुण हैं।

मद्य–त्याग

शराब पीने का त्याग करना मद्य-त्याग है। गुड़, जौ, महुआ आदि अनेक वस्तुओं को सड़ाकर शराब तैयार की जाती है। चीजों को सड़ाने से एक तो उनमें असंख्यात छोटे कीटाणुओं की उत्पत्ति हो जाती है क्योंकि पदार्थों की सड़ान में जीवों की उत्पत्ति हो ही जाती है अथवा यों समझ लीजिये कि पदार्थों का सड़ना बिना कीटाणुओं (छोटे छोटे जीवों) की उत्पत्ति के होता ही नहीं है। इस कारण शराब अगणित जीवों का पिंड है। अतः शराब पीते समय उन असंख्य त्रस जीवों की हिंसा हुआ करती है। इसलिये शराब पीने में एक तो महान त्रस जीव हिंसा का पाप होता है।

दूसरे शराब में बड़ा भारी नशा (मूर्छित करने की शक्ति) भी होता है जिससे कि शराब पीने के बाद विचार शक्ति एवं विवेक लुप्त हो जाता है जिससे शराब पीने वाले को कुछ होश नहीं रहता कि मैं कहाँ पर पड़ा हूँ, क्या कर रहा हूँ, कौन मेरे सामने है, उसके साथ मुझे क्या व्यवहार करना चाहिये आदि। शराब के नशे में शराबी चलते चलते लडखडा कर गंदे पानी की नालियों में गिर पडते हैं, तब भी उन्हें कुछ होश नहीं आता। शराब की गंध पाकर कोई कुत्ता उधर आजाय तो शराबी का मुख सूंघ कर वह शराबी के मुख में मूत्र कर भी देता है। शराबी को उस बात का भी पता नहीं चलता।

शराब पीने से कामवासना जाग उठती है। शराबी लोग प्रायः अपनी कामवासना जाग्रत करने के लिये ही शराब पिया करते हैं। वेश्याओं के पास जाने वाले व्यभिचारी लोग प्रायः शराब पीकर नशे में चूर रहते हैं। अनेक घटनाएं ऐसी भी हो जाती हैं कि यदि शराब में चूर शराबी के सामने उसकी अपनी बहिन या पुत्री भी आजावे तो वह बदहोश उस बहिन या पुत्री को ही अपनी कामवासना का शिकार बनाने का प्रयत्न करता है।

शराब पीने का व्यसन एक ऐसा दुर्व्यसन है जो कि एक बार लग जाने पर फिर छूटता नहीं। शराब पीने की आदत जिस को पड़ जाती है वह अपनी सारी सम्पत्ति नष्ट कर देता है, बिल्कुल बर्बाद हो जाता है।

शराब का प्रभाव शरीर पर भी बहुत बुरा पड़ता है, अतः शराब शरीर का स्वास्थ्य भी बिगाड़ देती है।

इस तरह शराब किसी भी तरह लाभदायक नहीं। धर्म, विवेक, कुलाचार, धन, स्वास्थ्य आदि सभी को हानि पहुंचाती है। इस कारण शराब का त्याग किये बिना धर्माचरण की जड़ नहीं जम सकती कितने दुःख की बात है कि इस युग के सभ्य शिक्षित लोग पार्टियों (प्रीति भोजों) में भी शराब का प्रयोग करने लगे है।

जो व्यक्ति अपनी सन्तान तथा परिवार में सदाचार कायम रखना चाहता है उसको शराब से सदा दूर रहना चाहिये।

मांस-त्याग

स्थावर—एकेन्द्रिय जीवों के शरीर में रक्त नहीं होता, अतः रक्त से बनने वाला मांस भी वृक्ष आदि एकेन्द्रिय जीवों में नहीं हुआ करता, न हड्डी उनके शरीर में होती है। किन्तु दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा पांच इन्द्रिय जीवों के शरीर में रक्त बनता रहता है अतः उनके शरीर में मांस तथा हड्डी भी होती है।

जिस तरह रक्त (खून) में त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं उसी तरह मांस में भी सदा असंख्य त्रसजीव उत्पन्न होते रहते हैं। यह बात केवल कच्चे मांस के लिये ही नहीं है किन्तु प्रत्येक तरह के मांस के लिये है। यानी—मांस चाहे कच्चा हो, चाहे पका हुआ हो अथवा सूखा मांस हो उसमें त्रसजीव उत्पन्न होते रहते है, इस कारण मास खाने से उन असंख्य त्रसजीवों की हिंसा हुआ करती है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुपार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥

अर्थात—कच्चे, पक्के तथा सूखे हुए मांस में सदा उसी मांस जाति के अनन्त सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं।

इस कारण दयालुचित्त धार्मिक व्यक्ति को मांस भक्षण का त्याग करना अनिवार्य आवश्यक है। मनुष्य स्वभाव से शाकाहारी यानी—अन्न, फल, दूध घी आदि का भोजन करने वाला है। मनुष्य के दांत इस बात की साक्षी देते हैं। मांसाहारी पशुओं के दांत गोल नौकीले होते है, उनके चबाने वाली डाढ़ें नहीं हुआ करतीं किन्तु मनुष्य के दांत चपटे होते हैं। इस कारण मांस मनुष्यका प्राकृतिक आहार नहीं है। एवं मांस-भक्षण से हृदय में निर्दयता आ जाती है। अतः हिंसाजनित तामसी पदार्थ मांस का त्याग किये बिना धर्म-आचरण की भूमिका नहीं बन सकती, इस कारण मांस त्याग मूलगुण है।

मधु—त्याग

शहद खाने का त्याग करना मधुत्याग है। मधु मक्खियाँ फूलों का रस चूस कर लाती हैं, फिर उस चूसे हुए रस को अपने बनाये छत्ते में आकर उगल कर रख देती हैं। मधु मक्खियों के मुख से उगला गया वह फूलों का रस ही मधु कहलाता है। मक्खियों के मुख का उगाल होने के कारण मधु (शहद) में असंख्य कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि मुख से उगले हुए रस में मक्खियों की लार होती है। अतः उसके कारण त्रसजीव शहद में पैदा हुआ करते हैं, शहद खाने से उन असंख्य त्रसजीवों की हिंसा होती है, अतः दयालु धार्मिक मनुष्य को शहद खाने का त्याग करना उचित है।

उदम्बर—फल

आम, अनार, सेव अंगूर, आदि फल लगने से पहले उन वृक्षों पर बौर, फूल आते हैं, उन फूलों के झड़ जाने पर उनके स्थान पर फल लगते है। समस्त फलों की उत्पत्ति प्राय इसी प्रकार हुआ करती है। परन्तु कुछ फल ऐसे भी हैं जो बिना फूल आये ही पेड़ों पर उत्पन्न हुआ करते हैं, उन फलों को उदम्बर फल या अपने पेड़ के दूध से उत्पन्न होने के कारण उन्हें क्षीरी फल भी कहते हैं।

ऐसे फल ५ होते हैं—१. बड़ वृक्ष पर लगने वाले फल, २. पीपल पर लगने वाले फल, ३. गूलर, ४. ऊमर और ५. कठूमर (अन्जीर)। इन फलों के भीतर बहुत से त्रसजीव होत हैं। बहुत से फलों को तो तोड़ने पर उनमें से उड़ते हुए जीव स्पष्ट दीख पड़ते है और कुछ फलों में सूक्ष्म जीव होने से दिखाई नहीं देते। इस कारण इन उदम्बर फलों के खाने से उन त्रस जीवों की हिंसा होती है। सूखे हुए उदम्बर फलों में उनके भीतर के त्रस जीव भी मर जाते हैं। सूखे हुए त्रस जीवों का शरीर मांसमय होता है, अतः सूखे हुए उदम्बर फल भी अभक्ष्य हैं।

जो व्यक्ति दयामय धर्म के आचरण का प्रारम्भ करता है उसको मद्य, मांस, मधु की तरह इन पाँचों उदम्बर फलों के खाने का भी त्याग करना आवश्यक है।

इस तरह इन आठ अभक्ष्य वस्तुओं के त्याग रूप आठ मूलगुण प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को कड़ाई के साथ आचरण करने चाहियें। जगत में असंख्य निर्दोष भक्ष्य पदार्थ हैं, मनुष्य की भूख और जीव की स्वाद-लालसा मिटाने के लिए वे पर्याप्त हैं, इस दशा में इन आठों अभक्ष्य वस्तुओं के खाने पीने का परित्याग करना समुचित है।

धार्मिक सदाचारी व्यक्ति अपने धर्माचरण को मुख्य समझता है उसको संसार के अन्य भौतिक प्रलोभन धर्माचार तथा लौकिक सदाचार से डिगा नहीं सकते।

ग्रन्थों में एक कथा मिलती है—

एक गुणपाल नामक सेठ था, उसकी पत्नी का नाम धनश्री था। उन के एक पुत्री थी जिसका नाम श्रीमती था। सेठ और सेठानी जिस तरह अच्छे भाग्यशाली धनिक थे, उसी तरह अच्छे सदाचारी और धर्मात्मा भी थे, उनके ही अनुरूप उनकी पुत्री भी सुशील धार्मिक थी तथा सर्वाङ्ग सुन्दरी भी थी। श्रीमती ने किशोर अवस्था से जब योवन में पैर रक्खा तो और भी अधिक सौन्दर्य उसके शरीर में प्रगट होने लगा।

एक बार उस नगर के राजा ने श्रीमती को मन्दिर जाते समय देखा। श्रीमती के सुन्दर शरीर को देखकर राजा मोहित हो गया, उसने कामातुर हो कर श्रीमती को अपनी पत्नी बनाने का विचार किया और धनपाल सेठ के पास यह समाचार भेजा। सेठ ने दूती को बनावटी उत्तर दिया कि मुझे तो राजा का प्रस्ताव स्वीकार है, मेरी पुत्री राजा की पटरानी बने यह तो सौभाग्य की बात है, किन्तु अपनी पत्नी की सम्मति लिये बिना मैं पक्की स्वीकारता नही दे सकता। अतः रात्रि को घर में विचार परामर्श करके कल इसका पक्का उत्तर दूंगा।

सेठ का उत्तर लेकर दूती चली गई। उधर धनपाल ने घर जाकर भोजन आदि से निवृत्त हो कर रात्रि में अपनी पत्नी को राजा का सन्देश कह सुनाया। सेठ की बात सुनकर सेठानी ने कहा कि यदि राजा धर्मात्मा होता तब तो श्रीमती का विवाह उसके साथ कर देने में कोई हानि नहीं थी, परन्तु राजा धार्मिक है नहीं इस दशा में हमारी पुत्री का कुलाचार और धर्माचार किस तरह सुरक्षित रहेगा। धर्म का नाश तो प्राण नाश से भी अधिक दुखदायक है। अतः श्रीमती राजा के साथ नहीं विवाही जा सकती।

सेठ ने सब कुछ सोच विचार कर रात में ही अपने परिवार को साथ लेकर उस राज्य से बाहर चला जाना ठीक समझा, तदनुसार अपनी समस्त विशाल सम्पत्ति को वहीं छोड़कर धनपाल चुपचाप उस राजा के राज्य से बाहर चला गया।

प्रातःकाल होने पर जब राजा को मालूम हुआ कि धर्मात्मा धनपाल सेठ मेरे दुर्विचार के कारण अपनी सब सम्पत्ति छोड़ कर मेरे राज्य से बाहर चला गया है, तो उसको बहुत दुख हुआ उसने अपने आप को बहुत धिक्कारा तथा अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए सेठ को फिर अपने नगर में लाने का निश्चय किया।

राजा धनपाल सेठ को खोज करके सेठ के पास पहुंचा और अपने अपराध की क्षमा मांग कर सेठ को अपने नगर में ले आया तदनन्तर सेठ की पुत्री का विवाह सेठ की इच्छानुसार एक धर्माचारी युवक से करा दिया।

जो व्यक्ति अपने धर्माचार में दृढ़ होते हैं, संसार में कोई भी शक्ति उनका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती, प्रकृति उनकी सहायता करती है। इस कारण कम से कम धर्म-आचरण की मूल भूमिका रूप अष्ट मलगुण प्रत्येक व्यक्ति को अविचल रूप से स्वीकार करने चाहियें।

———

प्रवचन नं० ७

स्थानः—
दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि:—
ज्येष्ठ शुक्ला १३ शुक्रवार ३ जून १९५५।

शुद्ध भोजन

मनुष्य जैसा भोजन करता है उसका वैसा ही प्रभाव शरीर तथा मन पर पड़ा करता है। शुद्ध सात्विक भोजन करने वाले स्त्री पुरुषों के मन में बुरी नीच वासनाएँ नहीं आने पातीं। इसी कारण से यह एक लौकिक किंवदन्ती है—

जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीओ पानी, वैसी होवे बानी॥

इस कारण मन में अच्छे शुभ विचार लाने के लिये भोजन भी शुद्ध करना आवश्यक है। मांस एक घृणित तामसिक पदार्थ है अतः धार्मिक व्यक्ति मांस-भक्षण से सदा दूर रहते हैं किन्तु उन्हें मांस-भक्षण-त्याग व्रत को निर्दोष रखने के लिये ऐसे पदार्थों का भी भोजन में न लेना चाहिये जिन में सूक्ष्म त्रसजीवों के उत्पन्न होने की सम्भावना हो। क्योंकि त्रस जीवों का कलेवर ही तो मांस कहलाता है, अतः जिन पदार्थों में नेत्रों से स्पष्ट दिखाई न दे सकने वाले भी कीटाणु (जीव जन्तु) उत्पन्न हो जावें उन पदार्थों के खाने से मांस भक्षण का दोष लगता है। इस कारण नीचे लिखी वस्तुओं को आहार पान में न लेना चाहिये।

चमड़े का घी तेल पानी

चमड़ा, गाय, बैल, भैंस, बकरी, हरिण, ऊँट आदि पशुओं के शरीर से उतारा जाता है, अतः उस चमड़े में, चमड़े के बने हुए कुप्पा मशक आदि बर्तन में यदि पानी, तेल, घी आदि पदार्थ रक्खे जावें तो उनमें नमी (गीलापन) तथा चिकनाई से सूक्ष्म त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण चमड़े में रक्खे हुए पानी, घी, तेल, हींग आदि पदार्थ न खाने चाहियें।

बिना शोधा अन्न

गेहूँ, चना, जौ, उड़द, मूंग आदि अनाजों तथा दालों में कुछ खार (क्षार तत्त्व) होता है। वह क्षार तत्त्व जब तक अनाजों में बना रहता तब तक वे अनाज ठीक रहे आते हैं उनमें जीव जन्तुओं की उत्पत्ति नहीं हो पाती। किन्तु जब उनका वह क्षार तत्त्व कम हो जाता है अथवा सारा नष्ट हो जाता है तब उनमें भीतर ही भीतर त्रस कीटाणु उत्पन्न होने लगते हैं, जिन को कि घुन कहते हैं।

चना, उड़द, मूंग, मोठ में जब घुन लगने वाला होता है तब पहले उन पर सफेद फुल्ली आ जाती है, यह सफेद फुल्ली ही इस बात का चिह्न है कि इस अन्न में घुन लगना प्रारम्भ हो गया है।

अनाज या दालों को ठीक तरह से सोधा बीना न जावे तो उनको पीसते समय या दलते समय अथवा उबालते समय उनके भीतर वे घुन के सूक्ष्म कीटाणु भी पिस जाते हैं या उबल कर मर जाते हैं और भोजन करते समय उन जीवों का कलेवर खाने में आ जाता है। इस कारण बिना शोधा, बीना, फटका अनाज न पिसाना न चाहिये, न दलना चाहिए और न उबालना चाहिए।

बिना शोधे हुए गेहूँ आदि अनाजों में कंकड़ियाँ भी रह जाती है जो कि अन्न के साथ पिसकर आटे में मिल जाती है ऐसे आटे का भोजन करने से पथरी रोग होने की भी आशंका रहती है। घुने हुए अनाज का भोजन भी शरीर को हानिकारक होता है।

अतः-जीवदया की दृष्टि से तथा शरीर रक्षा की दृष्टि से भी शोधा हुआ अन्न ही भोजन के लिये लेना चाहिए।

बिना छाना हुआ जल तेल घी

कच्चे पानी में त्रसजीव उत्पन्न होते रहते है, उनमें से कुछ तो बिना छाने पानी में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं और कुछ बहुत सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पड़ते। अतः पानी दोहरे कपड़े से छानकर पीना चाहिए। किन्तु यह ध्यान रहे कि छाना हुआ जल दो घड़ी (४८ मिनट) तक ही ठीक रहता है, उसके बाद उसमें फिर जीव उत्पन्न होने लगते हैं। यदि उस छने हुए पानी मे लौंग, इलायची, इमली आदि कषायली वस्तु पीसकर मिलादी जाय जिससे कि उसका स्वाद बदल जावे तो उस जल में ६ घंटे तक त्रसजीव उत्पन्न नही होते।

छने हुए पानी को गर्म कर लिया जावे तो १२ घंटे तक उसमें जीव-उत्पत्ति नहीं होती। और छने हुए पानी को उबाल लेने पर २४ घंटे तक उस जल में त्रसजीव उत्पन्न नहीं हो पाते।

घी और तेल में भी मक्खी मच्छर आदि जीव जन्तु गिर पड़ते हैं, कभी २ चूहे भी तेल घी के पीपे में गिर कर मर जाते हैं, अतः घी और तेल भी कपड़े से छानकर खाने पीने के काम में लेने चाहियें जिससे मांस के दोष से बचा जा सके तथा शरीर को भी हानि न पहुंचे।

इसके सिवाय दूध शर्बत, ईख का रस, फलों का रस आदि द्रव्य (बहने वाले) पेय पदार्थ भी कपड़े से छान कर ही पीने चाहियें।

भोजन बनाना

शुद्ध भोजन तैयार करने के लिये जहाँ अनाज, आटा, दाल, जल, घी, तेल की शुद्धता का ध्यान रक्खा जावे वहाँ भोजन बनाने की निर्दोष विधि का भी विचार रखना आवश्यक है। इसके लिये रसोई बनाने के स्थान पर एक तो छत में चादर तनी रहनी चाहिए जिससे मकड़ी, छिपकली, छतकी मिट्टी आदि भोज्य पदार्थों में न गिरने पावे। पक्की छतों तथा पक्की दीवालों पर भी मकड़ी के जाले आदि न लगने पावें इसको भी ध्यान रखना चाहिए।

दूसरे—रसोईघर में पर्याप्त प्रकाश होना चाहिये जिससे दाल, शाक, रोटी बनाते समय दाल, आटा, शाक में आकार गिरा हुआ जीव-जन्तु बाल आदि साफ दिखाई दे सके। सूर्य उदय से कम से कम दो घड़ी पीछे और सूर्य अस्त से दो घड़ी पहले तक के दिन के समय में भोजन बनाना चाहिये, रात्रि के समय में भोजन तैयार न करना चाहिये।

तीसरे—रसोईघर साफ सुथरा होना चाहिये, न वहाँ कूड़ा कर्कट हो, न कीचड़ हो, न और कोई चीजें बिखरी हुई हों। रसोईघर में मक्खियाँ न आने पावें, चींटियाँ न एकत्र हो सकें, पानी बिखरा हुआ न हो, बर्तन ठीक तरह से मजे हुए साफ सुथरे यथास्थान रक्खे हुए हों, खिड़कियों पर बारीक तार की जाली लगी हुई हो, प्रकाशदानों (रोशनदानों) में साफ शीशे लगे हों। धुंआ रसोईघर से बाहर ठीक निकलता हो, रसोईघर से पानी निकालने की नाली ठीक हो, जिससे रसोईघर में दुर्गन्धि न होने पावे। इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिये।

रसोइया

ऊपर लिखी बातों के सिवाय भोजन बनाने वाली स्त्री या पुरुष की शुद्धता का भी ध्यान रखना चाहिये। स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनने के बाद ही रसोईघर में जाकर भोजन बनाना चाहिये। रसोई बनाने के लिये यदि कोई व्यक्ति रक्खा जावे तो जहाँ तक हो सके वह साधर्मी हो जिस से कि ठीक विधि से रसोई बनाना जानता हो क्योंकि जो लोग स्वय पानी छानकर पीते हैं तथा जीव दया का पूर्ण ध्यान रखते है उनके हाथ से बने हुए भोजन में शुद्धता अनायास आवेगी ही, जो स्त्री पुरुष साधर्मी नहीं हैं उनको छने हुए जल आदि का कुलाचार के अनुसार विचार नहीं होता अतः उनका बनाया हुआ भोजन उतना शुद्ध नहीं बनता।

इसके सिवाय रसोई बनाने वाला व्यक्ति नीरोग (स्वस्थ) भी होना चाहिये, किसी भी प्रकार के रोगग्रस्त व्यक्ति से भोजन कभी नहीं बनवाना चाहिये।

इसके साथ ही भोजन बनाने वाले व्यक्ति में माता के समय उदार प्रेम होना चाहिये। माता स्वयं भूखी रहकर अथवा बचा खुचा अल्प आहार करके भी पुत्र को प्रेम से पर्याप्त अच्छे से अच्छा भोजन करा कर प्रसन्न एव सन्तुष्ट रहती है। ऐसी ही भावना भोजन बनाने वाले स्त्री पुरुष में होनी चाहिये। लोभी रसोईया भोजन बनाते हुए यों विचारा करता है कि भोजन करने वाले व्यक्ति जितने थोड़े हों उतना ही अच्छा जिस से मुझे भोजन थोड़ा बनाना पड़े। अच्छा स्वादिष्ट भोजन मेरे लिये अधिक बच जावे। इत्यादि ऐसे विचारों के कारण वह परोसते हुए भी कंजूसी करता है। ऐसी दुर्भावना वाले व्यक्ति के हाथ का बना हुआ भोजन कभी न करना चाहिये।

खाद्य-मर्यादा

भोज्य पदार्थ भी सदा खाने योग्य नहीं बने रहते, कुछ समय पीछे उनमें विकृति आ जाती है। विकृत भोजन करने से जीव-हिंसा होती है तथा शरीर में अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं।

अत: जिस पदार्थ की जितनी मर्यादा हो उस पदार्थ को उतने ही समय के भीतर खा लेना चाहिये। खाद्य पदार्थों की मर्यादा नीचे लिखे अनुसार है—

आटा—शीत ऋतु में ७ दिन तक ठीक रहता है, गर्मी के दिनों में ५ दिन तक और वर्षा ऋतु में तीन दिन तक ठीक रहता है।

रोटी, दाल, खिचड़ी, कढ़ी, चावल (भात) की मर्यादा छह घंटे की है।

जिन पदार्थों में पानी का अंश कम हो किन्तु घी तेल में तले गये हों उनकी मर्यादा ८ पहर (२४ घंटे) की है। जैसे—बून्दी, लाडू, घेवर, बावर, मर्मरी।

जिन चीजों में जल का अंश अधिक होता है ऐसी तली हुई वस्तुए ४ पहर (१२ घटे) तक खाने योग्य रहती है। जैसे—पूड़ी, पूआ, भुजिया, पकौड़ी आदि।

जिन चीजों में पानी न पड़ा हो ऐसे पदार्थों को खाने की मर्यादा आटे के बराबर है। जैसे—घी, खांड, आटे, बेसन का बना हुआ मगद लड्डू (जाड़े के दिनों में ७ दिन तक, गर्मी में ५ दिन तक और वर्षाऋतु में ३ दिन तक)।

कच्चा दूध अन्तर्मुहूर्त्त (४५ मिनट के भीतर) के भीतर पी लेना चाहिये। औटा हुआ दूध २४ घंटे तक पीने योग्य रहता है।

औटे हुए दूध में जामन देकर जमाये हुये दही की मर्यादा जामन देने से ८ पहर (२४ घंटे) तक की है। गर्म जल डालकर तैयार की गई दही की छाछ की मर्यादा ४ पहर की है। कच्चे पानी को डालकर तैयार की गई छाछ की मर्यादा २ घड़ी (४८ मिनट) की है।

इस के सिवाय यदि किसी पदार्थ का स्वाद बदल जावे और रंग बदल जावे या उसमें गन्ध आने लगे अथवा जाला पड़ जावे तो उन पदार्थों को बिगड़ा हुआ समझकर कदापि ग्रहण न करना चाहिये क्योंकि ये बातें इसका प्रमाण या चिह्न हैं कि वह खाद्य पदार्थ बिगड़ गया है, उसमें छोटे कीटाणु उत्पन्न होने लगे हैं, उस चीज में विकार आ गया है।

तथा जो भोजन किया जावे वह न अधिक पका हुआ यानी जला हुआ हो, न वह कच्चा ही हो, ठीक पका हुआ हो, क्योंकि कच्ची जली हुई रोटी आदि खाने से शारीरिक स्वास्थ्य को बहुत हानि पहुंचती है।

इसके साथ ही भोजन नियत (मुकर्रिर) समय पर ही दिन के अच्छे प्रकाश में कर लेना चाहिये। जो व्यक्ति अनियत समय पर भोजन करते हैं किसी दिन जल्दी और किसी दिन बहुत देर से भोजन करते हैं, उनकी पाचनशक्ति ठीक नहीं रहती, न उनके धार्मिक तथा व्यावहारिक दैनिक कार्य ठीक तरह हो पाते हैं।

भोजन करने के स्थान पर अच्छा प्रकाश होना चाहिये जिससे खाने की वस्तुओं में पड़ा हुआ बाल या चींटी आदि जीव जन्तु स्पष्ट दिखाई पड़ सकें और उन्हें निकाला जा सके।

भोजन प्रसन्न चित्त होकर करना चाहिए। क्रोध, शोक, क्षोभ, उद्वेग, व्याकुलता की दशा में भोजन करना उचित नहीं।

इसके सिवाय अच्छी भूख लगने पर ही भोजन करना चाहिये, यदि भूख न हो तो अमृतसमान भोजन भी दुखदायक होता है। तथा—भोजन सदा भूख से कम करना चाहिये। आधा उदर (पेट) भोजन से पूर्ण करे और चौथाई भाग पानी से भरना चाहिए तथा एक चौथाई भाग पेट खाली रखना चाहिये। ४० वर्ष की आयु के पश्चात् कम से कम एक तिहाई भोजन की मात्रा कम कर देनी चाहिये।

इस तरह जो स्त्री पुरुष शुद्ध भोजन ठीक समय पर ठीक मात्रा में करते रहते है, वे जीवरक्षा के साथ २ अपने शारीरिक स्वास्थ्य की भी रक्षा किया करते हैं।

प्रवचन नं० ८

स्थानः— दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथिः— ज्येष्ठ शुक्ला १४ शनिवार ४ जून १९५५

क्षत्रियों का धर्म

जिस तरह दिन और रात्रि अनादि समय से होते चले आये हैं, इसी तरह धर्म और अधर्म अथवा संसार और मुक्ति की परम्परा भी अनादि समय से चली आ रही है। यह बात दूसरी है कि कभी किसी कारण से कुछ समय के लिये किसी क्षेत्र में रात्रि के समान पाप-अन्धकार फैल गया हो, धर्म की ज्योति लुप्त हो गई हो, परन्तु जिस तरह सूर्य उदय होकर रात्रि के अन्धकार को छिन्न भिन्न कर देता है, उसी तरह धर्म के सूर्य तीर्थंकर भी जन्म लेकर अपने व्यापक धर्म प्रचार से पाप-अन्धकार को हटाकर धम का प्रकाश कर देत है। ऐसी परम्परा सदा से चली आई है। इस कारण भगवान् ऋषभनाथ आदि वर्तमान २४ तीर्थंकरों की तरह भूतकाल मे ऐसे असंख्य तीर्थकर हो चुके हैं।

किन्तु इन सभी तीर्थंकरो का जन्म क्षत्रिय कुल के राज परिवारो मे ही हुआ कोई भी तीर्थंकर किसी अन्य वर्ण मे उत्पन्न नहीं हुवा।

क्षत्रिय कुल शूरवीरता तथा उच्च कुलाचार के लिये प्रसिद्ध है। इस बात को क्षत्रिय शब्द ही प्रगट करता है। क्षत्रिय शब्द की 'व्युत्पत्ति' 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रः क्षत्र एव क्षत्रियः, के रूप मे हुई है। इसका अभिप्राय यह है कि जा सताये हुए दुःखी, शरणागत जीव की रक्षा करे, दुख से उसका उद्धार करे सो 'क्षत्रिय' है। बहुत प्राचीन इतिहास को छोड़ कर यदि हम भारत के पिछले ७००-८०० वर्षो

का इतिहास भी अवलोकन करें तो हमको क्षत्रिय शब्द का सार्थक रूप पग पग पर दिखाई देगा। क्षत्रियों ने राष्ट्र तथा धर्म की रक्षा के लिये वीरतासे कार्य लिया, शरणागत को बचाने में सर्वस्व की बाजी लगा दी।

इसी शरणागत (शरण में आये हुए) की रक्षा करने के लिये भारत क्षेत्र में आज से करोड़ों वर्ष पूर्व भगवान् ऋषभनाथ ने अहिंसा धर्म का सन्देश सारे जगत् को सुनाया। भगवान् ऋषभनाथ प्रचलित युग के सब से प्रथम धर्म प्रचारक थे। उन्होंने जब घर परिवार छोड़कर साधु दीक्षा ली तब छह मास निराहार रह कर एक आसन से आत्मध्यान किया तदनन्तर छह महीने तक शुद्ध निर्दोष आहार की विधि न मिलने पर निराहार रहे। इस तरह एक वर्ष तक भोजन पान न करने पर भी उन्होंने अपनी साधु चर्या में रंच मात्र भी विकार न आने दिया।

भगवान् ऋषभनाथ के द्वितीय पुत्र बाहुबली ने एक वर्ष तक एक आसन से खड़े रह कर निराहार रूप में तपस्या की। भगवान् के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने भारत क्षेत्र के छह खण्डों को विजय करके पहले सम्राट बनने का सौभाग्य प्राप्त किया, उनके ही नाम पर इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ।

इस तरह भगवान् ऋषभनाथ ने तथा उनके पुत्रों ने क्षत्रियों की धार्मिक दृढ़ता और अतुल पराक्रम का आदर्श संसार के सामने रक्खा।

भगवान् ऋषभनाथ के बाद जो अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकर हुए वे भी क्षत्रिय राजवंश में उत्पन्न हुए, उन्होंने भी क्षत्रियों का आदर्श प्रगट किया, विश्व के शरणागत जीवों की रक्षा के लिए अहिंसा धर्म का स्वयं आचरण किया और उसका सर्वत्र प्रचार किया। इस क्षात्र धर्म अहिंसा पर आरूढ़ रह कर अन्य असंख्य वीर पुरुषों ने भी निर्दोष आत्मध्यान करके मुक्ति प्राप्त की। वीरवर गजकुमार जब आत्म ध्यान में निमग्न हुए तब उनके शत्रु ने उनके शिर पर अग्नि जलाई, वे यदि चाहते तो आत्म ध्यान छोड़कर उसे मार भगाते किन्तु 'जैन साधु अहिंसा का आचरण कितनी दृढ़ता से करता है और आत्म-ध्यान से वह प्राण संकट आने पर भी चलायमान नहीं होता।' इसका आदर्श संसार के समक्ष रखने के लिये आत्मनिमग्न रहे आये। महान् वीर पांचों पांडव भ्राताओं ने, सुकौशल आदि ने भी ऐसी ही अचल दृढ़ता से अहिंसा धर्म का पालन तथा आत्म ध्यान किया। प्राण घातक उपद्रव होने पर भी वे अपने लक्ष्य से विचलित न हुये।

इस तरह क्षत्रिय कुलीन तीर्थंकरों द्वारा प्रचारित जैनधर्म का अहिंसा धर्म वीरता के साथ दीन दुखी निर्बल सन्त्रस्त जीवों की रक्षा का आदर्श सिखलाता है, कायरता का उपदेश नहीं देता। इस तरह अहिंसामय जैनधर्म वीर क्षत्रियों का धर्म है जो कि वास्तव में सर्वोदय विश्वधर्म है क्योंकि विश्व के समस्त जीव इसी धर्म की छाया में अपना जीवन निर्वाह और अभ्युदय प्रकट कर सकते हैं।

धर्मप्राण भारत देश की स्वतन्त्रता को विधर्मी विदेशी आक्रमणकारियों से सुरक्षित रखने वाले सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य, राणा सुहलदेव आदि अहिंसाधर्म के अनुयायी जैन ही थे। इस तरह से विचार किया जावे तो वीर पुरुषों का धर्म '<u>अहिंसा</u>' है, हिंसा नहीं।

लुक छिपकर, पेड़ों के ऊपर मचान बनाकर दूर से गोली चला कर शेर चीते आदि जगली जानवरों की हत्या करने में वीरता समझने वाले अपने आपको वीर भले ही समझें किन्तु वे वास्तव में वीर नहीं हैं, कायर है। कायर लोग ही लुक छिपकर, अपने आपको ओट मे रखकर दूसरों की हिंसा करते हैं।

बहुत से मनुष्य अहिंसा धर्मका उपहास उड़ाते हुए कहते हैं कि जैन लोग तो सर्प बिच्छु से भी डरते हैं, उन मूंजी जानवरों को मारते हुए भी वे कतराते हैं।

सोचने की बात है कि सर्प बिच्छु जैसे छोटे प्राणियो को पत्थर लाठी आदि से मार देने मे कौन सी वीरता है? वास्तव में वीरता तो अपने से निर्बल ऐसे जीव जन्तुओं की रक्षा करने में है जो कि बेचारे भयभीत हो कर अपना प्राण बचाना चाहते हैं। सर्प बिच्छू आदि प्राणियों को जब कोई छेड़ता है, या जब उनके ऊपर किसी का पैर आदि पड़ जाता है तब ये सर्प बिच्छू अपने आपको बचाने क लिये उनको काट लेते है जैसा कि अपनी रक्षा के लिए सब कोई करता है। कुछ काले सांपों आदि के मुख में प्राणघातक विष होता है जिससे उन के काटने से दूसरा प्राणी मर जाता है। अपने आपको बचाने की चेष्टा करने मे वे मूंजी (निर्दय) कैसे हो गये? और उन को मारने वाले मनुष्य क्या मूंजी नहीं है?

बिना छेड़े या बिना दबे सांप किसी को नहीं काटता, वह बेचारा तो अपने प्राण बचाने के लिये मनुष्य को देखते ही भागने की चेष्टा करता है। मनुष्य यदि सर्प को मारने की भावना या चेष्टा न करे तो सांप भी उसको कभी न काटे। यह तो एक दूसरे की भावना का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है।

जैन लोग साप को नहीं मारा करते; तो प्रायः सांप भी उन्हें नहीं काटते हैं। इसलिये सांपों से बचने के लिये उनको मार डालना और अपने आपको वीर समझना उचित नहीं है।

वर्तमान में जो अग्रवाल, खंडेलवाल, ओसवाल आदि जैन जातियां है, वे प्राय. क्षत्रिय कुलों की ही है, उनके इतिहास देखने से ऐसा ही प्रतीत होता है। राजस्थान का इतिहास लिखने वाले टांड साहब ने ओसवालों को 'Pure Rajputs यानी—'शुद्ध राजपूत' बतलाया है। इस तरह आधुनिक जैन जातियां भी प्राय' क्षत्रिय ही है किन्तु व्यापार करते रहने से जैन लोग वैश्य बनिये कहलाने लगे हैं, बनिये कहलाते कहलाते सचमुच उनमें से वीरतापूर्ण क्षात्र-तेज लुप्त हो गया है। वे डरपोक बन गये हैं। जब कभी उन पर तथा उनके धर्मायतनों (मन्दिरों) पर या उनके परिवार पर आक्रमण होता है तो वे शूरवीरता से उसका उत्तर नहीं देते प्राणों के मोह में आक्रमणकारी का सामना करने में कतरा जाते हैं। इस तरह वीर क्षत्रियों का धर्म आज भीरु बनियों का धर्म कहलाने लगा है। यही कारण है कि जैनों की अहिंसा कायरों की अहिंसा समझी जाने लगी है। इसी कारण आज के युग में जैन धर्म का अहिंसा सिद्धान्त उतना प्रभावशाली नहीं रहा, जितना कि होना चाहिये।

इसके सिवाय जैन धर्मानुयायियों की प्रवृत्ति धन संचय की ओर इतनी अधिक हो गई है कि वे आत्मा की सम्पत्ति को भूल भौतिक सम्पत्ति के मोह में फंस गये हैं। धर्मसाधन उनका नाम मात्र को देखा देखी या कुलाचार के रूप मे रह गया है। जिसे धर्म-आराधन के कारण जैन जनता ने अपना

उत्थान किया, यश, धन, परिवार आदि से उनकी समृद्धि हुई, उसी धर्म साधना को जैन समाज ने गौण कर दिया और धर्म के फलस्वरूप धन की आराधना में अपना मन, वचन, शरीर लगा दिया। यह बहुत भूल है। मूल (जड़) को सींचने से ही फल मिलता है। मूल को सुखा कर फल को सींचने से फल नहीं मिला करते। अतः लक्ष्मी, परिवार, यश आदि की उन्नति के मूल कारण धर्म सेवन में ढिलाई नहीं करनी चाहिए।

व्यापार करो, उद्योग धन्धे चालू करो, धन उपार्जन के जो भी अच्छे उपाय हैं उनको काम में लाओ, किन्तु एक तो उनमें अन्याय, अनीति रंच मात्र भी न करो, क्योंकि अन्याय का धन स्थिर नहीं रहता। दूसरे धर्म साधन में जरा भी कमी न आने दो। जिस कार्य में प्राणिघात हो, किसी दीन दरिद्र निर्धन का हृदय दुखता हो, उस धन्धे को न करो। यदि तुम अहिंसा तथा दया की उपेक्षा (लापर्वाही) करके धन सचय करोगे तो फलोगे फूलोगे नहीं।

तथा च—अपने परमपूज्य जिनेन्द्रदेव के उपासक बनकर शांत अहिंसक बनो, किन्तु अपने भुलाये हुए क्षात्र कर्म को फिर से अपनाओ, अपनी सन्तान को निर्भय एवं बलवान बनाओ, स्वयं बलवान बनो। धर्म तथा धर्मायतन की रक्षा के लिए प्राणों का मोह छोड़ देना आवश्यक प्रतीत हो तो वैसा भी करो। स्त्रियों, दीन दुखियों की रक्षा के लिये सर्वस्व अर्पण करना पड़े तो उससे भी न चूको। भीरु (डरपोक) को सब कोई डराता है और निर्भय व्यक्ति से सब कोई डरता है। जैन धर्म वीरता का पाठ पढ़ाता है। अनेक जैन रानियों ने भी बड़ी वीरता से अपने धर्म तथा राज्य की रक्षा की थी। तुम भी वीरता से जीना सीखो।

प्रवचन नं० ६

स्थानः— दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथिः— ज्येष्ठ शुक्ला १५ रविवार ता० ५-६-५५

रात्रि-भोजन

उच्च कुलीन धार्मिक मनुष्यों का कुल-आचार अनेक दुर्व्यसनों से बचाये रखता है। मद्य, मांस, मधु का प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग न होने पर भी जिन जातियों में कुल परम्परा से इन अशुद्ध पदार्थों का व्यवहार नहीं होता है, उन परिवारों के बच्चे इन चीजों के खान पान से बचे रहते हैं। जुआ खेलने की बुरी आदत से, तथा चोरी, व्यभिचार से मनुष्य अपने कुलाचार के कारण बचे रहते है। इस कारण धार्मिक स्त्री पुरुषों को अपना कुलाचार कदापि न छोड़ना चाहिये।

जो मनुष्य अपने धार्मिक कुल-आचार को छोड़ देते हैं या उसमें ढिलाई कर देते हैं उनकी सन्तान में अनेक दुर्गुण आ जाते हैं, इस कारण परिवार के मुखिया को स्वयं अपना आचरण अपने पूर्वज पुरुषों की तरह से रखना चाहिये और अपने घर के सभी बच्चे बड़े स्त्री पुरुषों को अपना धार्मिक कुलाचार पालन करते रहने की प्रेरणा करते रहना चाहिये।

जैन घरों में तम्बाकू, सिगरेट, भंग पीने का व्यवहार नहीं है इस कारण जैनों के बच्चे भी इन बुरी आदतों से बचे रहते हैं। जिन लोगों ने अपना कुलाचार छोड़कर अन्य पुरुषों की संगति से तम्बाकू सिगरेट भंग पीना शुरू कर दिया है उस बुरी आदत में उनके बच्चे भी उनकी देखादेखी पड़ गये हैं।

कुलाचार के अनुसार प्रत्येक जैन प्रातः जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करके भोजन आदि अन्य लौकिक कार्य करते हैं। जिन घरों में यह धार्मिक नियम अभी तक बना हुआ है उनके घर में देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा बनी हुई है। जिन लोगों ने अपना यह कुलाचार छोड़ दिया, उन घरों में से बहुत से घरों में जैनधर्म के संस्कार नहीं रहे। इस कारण अपने धार्मिक कुलाचार का आचरण कभी नहीं छोडना चाहिये।

जैनधर्मानुयायी मनुष्य के तीन चिह्न हैं—१. प्रतिदिन देव दर्शन, २. जल छानकर पीना, ३ रात में भोजन न करना। इन तीनों बातों को देखकर प्रत्येक समझ लेता है कि यह 'जैन' है। ये तीनों बातें केवल हमारे चिह्न ही नहीं हैं बल्कि धार्मिक तथा व्यावहारिक रूप से भी बहुत लाभदायक हैं। यहाँ पर हम पहली दो बातों को छोड़कर तीसरी बात पर विचार करते हैं।

जिन प्राणियों की आँखें सूर्य के प्रकाश में चौंध जाती हैं, ऐसे जानवर अपने भोजन की खोज में रात को निकला करते हैं। ये जानवर प्रायः मांसाहारी होते हैं, अतः विश्राम करते हुए दूसरे जीवों को मार कर भोजन करते हैं। उल्लू, सिंह, चीता, तेंदुआ, बाघ आदि जानवर प्रायः रात को भोजन की तलाश में निकलते हैं और दिन में आराम करते हैं। अतः ऐसे जानवरों को 'निशाचर' यानी—'रात में खाने वाले' कहते हैं। जंगली मनुष्य, राक्षस आदि को भी 'निशाचर' इसीलिये कहा जाता है कि वे प्राय रात को खाते पीते रहते हैं।

मनुष्य के नेत्र सूर्य के प्रकाश में चकाचौंध नहीं होते, अच्छी तरह देखते भालते हैं, इस कारण मनुष्य प्राकृतिक रूप से दिन में भोजन करने वाला प्राणी है, इस कारण मनुष्य निशाचर नहीं है, 'दिवाचर' यानी—दिन में भोजन करने वाला है।

दिन का समय मनुष्य के भोजन के लिये उपयोगी भी है क्योंकि सूर्य के प्रकाश में एक तो मनुष्य को बहुत अच्छी तरह दिखलाई देता है, जैसा कि बिजली आदि का बहुत भारी प्रकाश करने पर भी रात्रि को स्पष्ट दिखलाई नहीं देता। इसका कारण यह है कि मनुष्यों के नेत्रों को जितना सह्य एवं आवश्यक है उतना सर्वत्र व्यापक प्रकाश सूर्य से दिन में मिलता है, वैसा व्यापक प्रकाश रात्रि में चन्द्रमा के रहते हुए अथवा अन्य हजारों उपाय करने पर भी नहीं मिल सकता। उस सूर्य के प्रकाश में मनुष्य अपने भोज्य पदार्थों को अच्छी तरह देख भाल सकता है। चींटी, बाल आदि सूक्ष्म चीजें भोजन में मिल जावें तो वे भी दिन में दिखाई दे जाती हैं, रात्रि को कठिनाई से दीख पड़ती हैं।

[illegible] एक आदमी ने रात के समय रोटी खाने के लिये गाजर का अचार [illegible] में एक चुहिया मरी हुई थी, जो कि गाजर की फांक के बराबर थी, अचार खाते हुए जब वह चुहिया हाथ आई [illegible] उसने उसे बहुतेरा तोड़ा किन्तु वह न

टूट सकी, तब उस ने उसे एक ओर रख दिया। सवेरे उठकर जब उसे देखा तब पता चला कि यह तो मरी हुई चुहिया है।

इन्दौर में एक मन्दिर का पुजारी शाम को दूध लेकर रख लेता था और उसे रात्रि को भोजन के समय पिया करता था। एक दिन लोटे में रक्खे हुए उस दूध में से कुछ दूध को काला सर्प पी गया। सांप के पीने से दूध जहरीला होगया, उसका रंग भी कुछ २ हरा होगया। पुजारी ने यथा समय वह दूध पी लिया। दूध पीते ही सांप का विष उसके शरीर में फैल गया और वह सोते २ ही मर गया। प्रातःकाल जब उस का पोस्टमार्टम हुआ तब सांप के विषैले दूध को पीने की बात मालूम हुई।

ऐसी ही एक घटना उत्तर प्रदेश में हुई। एक मुसलमान की लड़की का विवाह था, उसके यहाँ बाहर से बरात आई। बरात में २५-३० आदमी थे। बरात के भोजन के लिए उसने दूध चावल की खीर एक बड़े हंडे में पकवाई। जब खीर बन रही थी तब थोड़ी देर के लिए खीर बनाने वाले चूल्हे के पास से एक ओर हठकर बातचीत करने लगे। उसी समय चूल्हे की आग की गर्मी से घबड़ा कर छत्त की कड़ियों में बैठा हुआ एक सांप बाहर निकल कर उस खीर में गिर पड़ा, और उसी में मर गया। लोगो को इस बात का कुछ भी पता न लगा।

बारात भोजन करने बैठी, वह मिठी विषैली खीर उन को परोसी गई, बराती उसे खाकर चले गये और आराम से सो गये। सवेरा होने पर जब उन में से कोई न उठा, तो लड़की वालों को सन्देह हुआ, उन्होंने जब वहाँ जा कर देखा तो बहुत से आदमी तो मर चुके थे, जो जीवित थे वे भी अचेत पड़े हुए थे और उनके मुख मे झाग निकल रहा था। छान बीन करने पर जब उन्होंने वह खीर का बर्तन देखा तब उसमें मरा सांप पाया। सांप के विष से खीर का रंग हरा होगया था। रात के धुंधले प्रकाश में इस बात का पता न चल सका। यदि वह खीर दिन में बनाई गई होती और दिन में ही बारात को भोजन कराया गया होता तो सांप का खीर में मिल जाना मालूम होजाता।

मुजफ्फरनगर के एक गांव में गर्मी के दिनों में एक आदमी सो रहा था। कुछ रात बीतने पर जब उस को प्यास लगी तो उसने उठकर उघड़े हुए लोटे में रक्खा हुआ पानी पी लिया। लोटे में एक बिच्छु चिपटा हुआ था जो कि पानी के साथ उसके मुख में चला गया और उसके तालु से चिपट गया। वहीं पर चिपटा हुआ वह उस के मुख में डंक मारता रहा। जब उसने उस को हाथ से छुटाना चाहा तब उसके हाथ में भी डंक मारा इस तरह डाक्टरी सहायता पहुंचने तक वह आदमी अनेक बार डंक लगने से मर गया। यदि दिन का समय होता तो ऐसी घटना न होने पाती।

इस तरह रात्रि के धुंधले प्रकाश में भोजन करने वालों के साथ अनेक प्राणघातक दुर्घटनाएँ भी हो जाया करती हैं।

दूसरे सूर्य के गर्म प्रकाश में छोटे छोटे कीटाणु उत्पन्न नहीं होते। इसका अनुमान इसी बात से प्रत्येक व्यक्ति लगा सकता है कि वर्षा के दिनों में दिन के समय पतंगे नहीं होते। दिन छिपते ही असंख्य पतंगे उत्पन्न हो कर दीपकों, लालटेनों, बिजली के बल्बों पर आकर गिरते हैं और मर कर ढेर होते जाते हैं। ऐसे कीटाणु सूर्य की गर्मी से उत्पन्न नहीं हो पाते। सूर्य अस्त हो जाने पर उन कीटाणुओं की उत्पत्ति

होने लगती है। उनमें से बहुत से इतने सूक्ष्म होते हैं कि सुई की नोंक के बराबर होते है अतः नेत्रों से दिखाई नहीं देते।

ऐसे कीटाणु भोज्य पदार्थों के निकट अधिकतर उत्पन्न होते हैं, और रेंग रेंग कर खाने की चीजों में मिल जाते हैं। भोजन करते समय दिखाई न देने से भोजन के साथ उन कीटाणुओं का भी भोजन हो जाता है। जिससे रात्रि के भोजन में बड़ी हिंसा भी होती है। वे कीटाणु त्रस होते हैं। अत. मास भक्षण का दोष लगता है।

तीसरे–दिन में सूर्य की गर्मी से वायु अधिकतर शुद्ध रहती है। उसमें जहरीली गैस नहीं मिलने पाती। पेड़ भी दिन में मनुष्यों तथा पशुओं के श्वास की निकली हुई दूषित वायु को स्वयं ग्रहण करते हैं और स्वास्थ्यवर्द्धक प्राणवायु को छोड़ा करते है। इस कारण दिन के समय पेड़ों के नीचे बैठना, बाग में घूमना, स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक होता है। किन्तु रात्रि के समय ठीक इस से उल्टी बात होती है। यानी—पेड़ दूषित वायु छोड़ते हैं जो कि श्वास में शरीर के भीतर जाने पर मनुष्यों के स्वास्थ्य का हानि पहुचाती है, इसी कारण वैज्ञानिकों के मत से रात्रि के समय न तो वृक्षों के नीचे बैठना सोना चाहिये, न बाग बगीचों मे घूमना फिरना चाहिये।

तथा–रात्रि को नमी तथा ठडक से वायु में मिलने वाली जहरीली गैस भी उड़ने नहीं पाती जो धुँआ दिन में गर्मी के कारण ऊपर उड़ जाता है रात को वह ऊपर न उड़ कर नीचे ही रह कर फैल जाता है। इस तरह रात्रि के समय वायु अशुद्ध हो जाती है। वह अशुद्ध विषैली वायु भोज्य पदार्थों से छूकर उन पदार्थों को भी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक बना देती है। अतः रात्रि का भोजन इस तरह भी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होता है। दिन की अपेक्षा रात्रि के समय रोगी स्त्री पुरुषों की अधिक मृत्यु होती है।

चौथे—दिन में किया हुआ भोजन रात्रि को सोने से पहले पच जाता है जिससे रात्रि को सोते समय पेट को भोजन की पाचन क्रिया नहीं करनी पड़ती। यह बात भी स्वास्थ्य के पक्ष में अच्छी लाभदायक सिद्ध होती है।

पांचवें—रात्रि को भोजन न करने से वर्ष में ६ मास का उपवास हो जाता है। जो कि इन्द्रिय-संयम तथा प्राणिसंयम की दृष्टि से संयम का अंग बन जाता है।

इस तरह रात्रि का भोजन त्याग सब दृष्टियों से लाभदायक है। अतः रात्रि भोजन नहीं करना चाहिये।

एक हाथी को निकट भव्य जानकर एक मुनिराज ने हिंसा त्याग का उपदेश दिया, उसी प्रसंग में उसको रात के समय खाना पीना न करने की भी प्रेरणा की। बुद्धिमान भव्य हाथी ने मुनि महाराज का उपदेश स्वीकार किया।

एक दिन गर्म ऋतु में सन्ध्या समय उस हाथी को बहुत प्यास लगी, वह सीढ़ियों वाली एक बावड़ी में पानी पीने के लिये उतरा। बावड़ी बहुत नीची थी अतः वहाँ शाम को सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता था इस कारण वहाँ अन्धकार था। हाथी जब पानी के पास पहुँचा तब उसको वहाँ अन्धकार दीखा जिस से उसको रात्रि हो जाने का भ्रम हुआ रात्रिको उसको पानी पीने का त्याग था, अतः उसने

टूट सकी, तब उस ने उसे एक ओर रख दिया। सवेरे उठकर जब उसे देखा तब पता चला कि यह तो मरी हुई चुहिया है।

इन्दौर में एक मन्दिर का पुजारी शाम को दूध लेकर रख लेता था और उसे रात्रि को भोजन के समय पिया करता था। एक दिन लोटे में रक्खे हुए उस दूध में से कुछ दूध को काला सर्प पी गया। सांप के पीने से दूध जहरीला होगया, उसका रंग भी कुछ २ हरा होगया। पुजारी ने यथा समय वह दूध पी लिया। दूध पीते ही सांप का विष उसके शरीर में फैल गया और वह सोते २ ही मर गया। प्रातःकाल जब उस का पोस्टमार्टम हुआ तब सांप के विषैले दूध को पीने की बात मालूम हुई।

ऐसी ही एक घटना उत्तर प्रदेश में हुई। एक मुसलमान की लडकी का विवाह था, उसके यहाँ बाहर से बरात आई। बरात में २५-३० आदमी थे। बरात के भोजन के लिए उसने दूध चावल की खीर एक बड़े हडे में पकवाई। जब खीर बन रही थी तब थोड़ी देर के लिए खीर बनाने वाले चूल्हे के पास से एक ओर हटकर बातचीत करने लगे। उसी समय चूल्हे की आग की गर्मी से घबड़ा कर छत्त की कडियों में बैठा हुआ एक सांप बाहर निकल कर उस खीर में गिर पड़ा और उसी में मर गया। लोगों को इस बात का कुछ भी पता न लगा।

बारात भोजन करने बैठी, वह मिठी विषैली खीर उस को परोसी गई, बराती उसे खाकर चले गये और आराम से सो गये। सवेरा होने पर जब उन में से कोई न उठा, तो लडकी वालों को सन्देह हुआ, उन्होंने जब वहाँ जा कर देखा तो बहुत से आदमी तो मर चुके थे, जो जीवित थे वे भी अचेत पडे हुए थे और उनके मुख से झाग निकल रहा था। छान बीन करने पर जब उन्होंने वह खीर का बर्तन देखा तब उसमें मरा सांप पाया। सांप के विष से खीर का रंग हरा होगया था। रात के धुंधले प्रकाश में इस बात का पता न चल सका। यदि वह खीर दिन में बनाई गई होती और दिन में ही बारात को भोजन कराया गया होता तो सांप का खीर में मिल जाना मालूम होजाता।

मुजफ्फरनगर के एक गांव में गर्मी के दिनों में एक आदमी सो रहा था। कुछ रात बीतने पर जब उस को प्यास लगी तो उसने उठकर उघड़े हुए लोटे में रक्खा हुआ पानी पी लिया। लोटे में एक बिच्छु चिपटा हुआ था जो कि पानी के साथ उसके मुख में चला गया और उसके तालु से चिपट गया। वही पर चिपटा हुआ वह उस के मुख में डक मारता रहा। जब उसने उस को हाथ से छुटाना चाहा तब उसके हाथ में भी डंक मारा इस तरह डाक्टरी सहायता पहुंचने तक वह आदमी अनेक बार डक लगने से मर गया। यदि दिन का समय होता तो ऐसी घटना न होने पाती।

इस तरह रात्रि के धुंधले प्रकाश में भोजन करने वालों के साथ अनेक प्राणघातक दुर्घटनाएँ भी हो जाया करती हैं।

दूसरे सूर्य के गर्म प्रकाश में छोटे छोटे कीटाणु उत्पन्न नहीं होते। इसका अनुमान इसी बात से प्रत्येक व्यक्ति लगा सकता है कि वर्षा के दिनों में दिन के समय पतंगे नहीं होते। दिन छिपते ही असंख्य पतंगे उत्पन्न हो कर दीपकों, लालटेनों, बिजली के बल्वों पर आकर गिरते हैं और मर कर ढेर होते जाते हैं। ऐसे कीटाणु सूर्य की गर्मी से उत्पन्न नहीं हो पाते। सूर्य अस्त हो जाने पर उन कीटाणुओं की उत्पत्ति

होने लगती है। उनमें से बहुत से इतने सूक्ष्म होते हैं कि सुई की नोंक के बराबर होते है अतः नेत्रों से दिखाई नहीं देते।

ऐसे कीटाणु भोज्य पदार्थों के निकट अधिकतर उत्पन्न होते हैं, और रेंग रेंग कर खाने की चीजों में मिल जाते हैं। भोजन करते समय दिखाई न देने से भोजन के साथ उन कीटाणुओं का भी भोजन हो जाता है। जिससे रात्रि के भोजन में बड़ी हिंसा भी होती है। वे कीटाणु त्रस होते हैं। अत मास भक्षण का दोष लगता है।

तीसरे–दिन में सूर्य की गर्मी से वायु अधिकतर शुद्ध रहती है। उसमें जहरीली गैस नहीं मिलने पाती। पेड़ भी दिन में मनुष्यो तथा पशुओं के श्वास की निकली हुई दूषित वायु को स्वयं ग्रहण करते हैं और स्वास्थ्यवर्द्धक प्राणवायु को छोड़ा करते है। इस कारण दिन के समय पेड़ों के नीचे बैठना, बाग में घूमना, स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक होता है। किन्तु रात्रि के समय ठीक इस से उल्टी बात होती है। यानी—पेड़ दूषित वायु छोड़ते हैं जो कि श्वास में शरीर के भीतर जाने पर मनुष्यों के स्वास्थ्य का हानि पहुचाती है, इसी कारण वैज्ञानिकों के मत से रात्रि के समय न तो वृक्षों के नीचे बैठना सोना चाहिये, न बाग बगीचों में घूमना फिरना चाहिये।

तथा–रात्रि को नमी तथा ठंडक से वायु में मिलने वाली जहरीली गैस भी उड़ने नहीं पाती जो धुँआ दिन में गर्मी के कारण ऊपर उड़ जाता है रात को वह ऊपर न उड़ कर नीचे ही रह कर फैल जाता है। इस तरह रात्रि के समय वायु अशुद्ध हो जाती है। वह अशुद्ध विषैली वायु भोज्य पदार्थों से छूकर उन पदार्थों को भी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक बना देती है। अतः रात्रि का भोजन इस तरह भी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होता है। दिन की अपेक्षा रात्रि के समय रोगी स्त्री पुरुषों की अधिक मृत्यु होती है।

चौथे—दिन में किया हुआ भोजन रात्रि को सोने से पहले पच जाता है जिससे रात्रि को सोते समय पेट को भोजन की पाचन क्रिया नहीं करनी पड़ती। यह बात भी स्वास्थ्य के पक्ष में अच्छी लाभदायक सिद्ध होती है।

पांचवें—रात्रि को भोजन न करने से वर्ष में ६ मास का उपवास हो जाता है। जो कि इन्द्रिय-संयम तथा प्राणिसंयम की दृष्टि से संयम का अंग बन जाता है।

इस तरह रात्रि का भोजन त्याग सब दृष्टियों से लाभदायक है। अतः रात्रि भोजन नहीं करना चाहिये।

एक हाथी को निकट भव्य जानकर एक मुनिराज ने हिंसा त्याग का उपदेश दिया, उसी प्रसंग में उसको रात के समय खाना पीना न करने की भी प्रेरणा की। बुद्धिमान भव्य हाथी ने मुनि महाराज का उपदेश स्वीकार किया।

एक दिन गर्म ऋतु में सन्ध्या समय उस हाथी को बहुत प्यास लगी, वह सीढ़ियों वाली एक बावड़ी में पानी पीने के लिये उतरा। बावड़ी बहुत नीची थी अतः वहाँ शाम को सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता था इस कारण वहाँ अन्धकार था। हाथी जब पानी के पास पहुँचा तब उसको वहाँ अन्धकार दीखा जिस से उसको रात्रि हो जाने का भ्रम हुआ रात्रिको उसको पानी पीने का त्याग था, अतः उसने

वहाँ पानी न पिया और बावड़ी से बाहर आ गया। बाहर आते ही उसको सूर्य का प्रकाश और दिन दीखा अतः फिर अपनी प्यास बुझाने के लिए बावड़ी में उतरा परन्तु वहाँ पर तो रात के समान अन्धेरा था इस कारण रात्रि समझ कर लौट आया। इतने में दिन समाप्त हो गया, रात्रि हो गई। तब उसने शान्ति से प्यास का कष्ट सहन किया और उसी प्यास में प्राण त्याग दिये।

कठोरता के साथ अपना धार्मिक नियम पालन करने तथा शान्ति से प्राण विसर्जन करने के फलस्वरूप उसने पशुपर्याय से छुटकारा पाकर देव-पर्याय पाई।

सोमा सती ने रात्रि भोजन का व्रत अपने विधर्मी पति और सास की प्रेरणा करने पर भी न छोड़ा, इस पर उसकी सास ने तथा पति ने उसे अनेक कष्ट दिये किन्तु फिर भी वह अपने व्रत से न टली। तब उसके पति ने उसको मारने के लिये एक घड़े में रखवा एक विषधर सांप मगवाया और सोमा से कहा कि मैं तेरे लिये एक रत्न हार बनवाकर लाया हूँ सो घड़े में से निकाल कर पहन ले। भोली भाली भव्य सोमा ने पति की बात सत्य समझ कर उस घड़े में हाथ डाला तो उसके शुभ कर्म के उदय से दैवी शक्ति के द्वारा वह विषधर नाग रत्नहार के रूप में बन गया।

ऐसा प्रभावशाली तथा उपयोगी रात्रि भोजन त्यागव्रत जैन समाज में पूर्व परम्परा से कुलाचार के रूप में चला आ रहा है। इसके महत्त्व को जैनेतर ग्रन्थकारों ने भी स्वीकार किया है और अपने ग्रन्थों में रात्रि में भोजन न करने का उपदेश दिया है।

परन्तु खेद है कि अब इस प्रशंसनीय धार्मिक नियम के परिपालन में कुछ जैन भाई ढील करने लगे हैं। कुछ धनिक लोगों ने रात के समय रोटी खाना प्रारम्भ कर दिया है, उनके देखा देखी उनके बाल बच्चे तथा अन्य साधारण व्यक्ति भी अपनी कुल मर्यादा को तोड़ कर रात्रि भोजन करने लगे हैं। देहली में आकर मालूम हुआ कि यहाँ पर विवाह के समय बारात चढ़ने के बाद रात्रि के समय कन्या पक्ष वर पक्ष को जीमनवार कराता है, यह कितने धार्मिक पतन और दुख की वार्ता है। दिल्ली के प्रमुख पुरुष अच्छे धार्मिक हैं यदि वे इस आरम्भ होने वाली कुप्रथा के विरुद्ध आवाज उठावें और थोड़ी सी भी प्रेरणा करें तथा स्वय ऐसी रात्रि की जीमनवार न करावें, न ऐसे कार्य में सहयोग दें तो धर्मघातक यह प्रथा शीघ्र बन्द हो सकती है।

प्रवचन नं० १०

स्थानः—	तिथिः—
दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।	आषाढ़ कृष्णा १ सोमवार ६ जून १९५५

कुछ उपयोगी दैनिक नियम

संसार के प्रायः समस्त प्राणी इन्द्रियों के दास बने हुए हैं। जो मनुष्य अपने आप को बड़े धनिक समझ अपने आपको स्वतन्त्र मानते हैं, जो उद्योगपति अपने आपको अपनी मिल के हजारों

मजदूरों का स्वामी समझते हैं और जो पूंजीपति अपने आप को यह मानते हैं कि मैं किसी का चाकर नहीं हूं, अपनी इच्छा का स्वतन्त्र सर्वतन्त्र स्वामी हू। एवं जो सर्वोच्च राज-अधिकारी (वे चाहे सम्राट् हों, डिक्टेटर हों या राष्ट्रपति हों) अपने आप को सब का संचालक नेता मानते हैं। वास्तव में देखा जावे तो उन सब की मान्यता असत्य है क्योंकि वे भी एक दरिद्र मजदूर की तरह स्वतन्त्र नहीं हैं, उन्हें भी अपनी इन्द्रियों की गुलामी करनी पड़ती है। इन्द्रियों की प्रेरणा जैसी उनको मिलती है उनको उसी तरह कार्य करना पड़ता है।

घोड़े से सम्पर्क रखने वाले मनुष्य संसार में दो प्रकार के होते हैं—१. रईस, २. सईस। सईस तो घोड़े की सेवा में लगा रहता है, घोडे को घास खिलाता है, पानी पिलाता है, उसकी मालिश करता है, उसे स्नान कराता है, उसकी लीद उठा कर साफ करता है, घोडे का स्वामी जब कहता है तब घोड़े पर जीन कस देता है। इत्यादि घोड़े के सभी सेवा कार्य करता है, परन्तु उसपर सवारी करने का अधिकार उसको नहीं होता, अतः वह कभी घोड़े पर सवारी नहीं करता। घोड़े पर सवारी का सौभाग्य रईस को होता है, वह कभी घोडे की सेवा नहीं करता किन्तु अपनी इच्छानुसार उस पर सवार होकर उसको चलाता है।

इसी तरह जो स्त्री पुरुष इन्द्रियों के दास होते हैं उन्हें अपना जीवन इन्द्रियों की सेवा गुलामी में बिताना पड़ता है, वे अपने आत्म-कल्याण के लिये अपनी इच्छानुसार उन इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं रख सकते, उन्हें ही इन्द्रियों की इच्छा पूर्ण करने के लिये इन्द्रियों के संकेत पर चलना पड़ता है। परन्तु व्रती त्यागी पुरुष इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके उन पर शासन करते हैं, इन्द्रियां उनकी दासी बनी रहती हैं, उसके व्रत, तप, संयम में बाधा नहीं करतीं, सहायक बनी रहती हैं। यदि व्रती त्यागी मुनि भी इन्द्रियों के दास बने रहते तो वे न तो महान् उपसर्ग और परीषहों पर विजय प्राप्त कर पाते और न अनादि कालीन कर्म-बन्धन को छिन्न भिन्न करके संसार से मुक्त हो पाते।

अतः प्रत्येक स्त्री पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह आत्म शुद्धि के लिए इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे कदाचित् गृहस्थाश्रम की बेड़ी तोड़कर वह स्वतन्त्र मुनि जीवन में नहीं आ सकता तो उसे इन्द्रियों पर आंशिक (थोडी बहुत) विजय प्राप्त करने का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। उस अभ्यास के लिये जिन वाणी में हमारे पूर्वाचार्यों ने कुछ नियमों का निर्देश किया है। समस्त विषयों के प्रसिद्ध उद्भट विद्वान् आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है—

भोजन वाहन शयन स्नान पवित्राङ्गरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसङ्गीतगीतेषु ॥ ८८॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षोमासस्तथर्तु रयनं वा।
इति कालपरिच्छित्याप्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥८९॥

आज, दिन, रात, सप्ताह (सात दिन), पक्ष (१५ दिन), मास ऋतु (दो महिना या ४ महिना), अयन (६ महिना), वर्ष आदि समय की मर्यादा रख कर भोजन, पान, वाहन, (सवारी), शयन (सोना), स्नान, लेप, फूल, पान, वस्त्र, आभूषण, कामसेवन, गायन, वादन का नियम करके शेष विषयों का त्याग करना चाहिये। जैसे कि—

वहाँ पानी न पिया और बावड़ी से बाहर आ गया। बाहर आते ही उसको सूर्य का प्रकाश और दिन दीखा अतः फिर अपनी प्यास बुझाने के लिए बावड़ी में उतरा परन्तु वहाँ पर तो रात के समान अन्धेरा था इस कारण रात्रि समझ कर लौट आया। इतने में दिन समाप्त हो गया, रात्रि हो गई। तब उसने शान्ति से प्यास का कष्ट सहन किया और उसी प्यास में प्राण त्याग दिये।

कठोरता के साथ अपना धार्मिक नियम पालन करने तथा शान्ति से प्राण विसर्जन करने के फल-स्वरूप उसने पशुपर्याय से छुटकारा पाकर देव-पर्याय पाई।

सोमा सती ने रात्रि भोजन का व्रत अपने विधर्मी पति और सास की प्रेरणा करने पर भी न छोड़ा, इस पर उसकी सास ने तथा पति ने उसे अनेक कष्ट दिये किन्तु फिर भी वह अपने व्रत से न टली। तब उसके पति ने उसको मारने के लिये एक घड़े में रखवा एक विषधर सांप मगवाया और सोमा से कहा कि मैं तेरे लिये एक रत्न हार बनवाकर लाया हूँ सो घड़े में से निकाल कर पहन ले। भोली भाली भव्य सोमा ने पति की बात सत्य समझ कर उस घड़े में हाथ डाला तो उसके शुभ कर्म के उदय से दैवी शक्ति के द्वारा वह विषधर नाग रत्नहार के रूप में बन गया।

ऐसा प्रभावशाली तथा उपयोगी रात्रि भोजन त्यागव्रत जैन समाज में पूर्व परम्परा से कुलाचार के रूप में चला आ रहा है। इसके महत्त्व को जैनेतर ग्रन्थकारों ने भी स्वीकार किया है और अपने ग्रन्थों में रात्रि में भोजन न करने का उपदेश दिया है।

परन्तु खेद है कि अब इस प्रशसनीय धार्मिक नियम के परिपालन में कुछ जैन भाई ढील करने लगे हैं। कुछ धनिक लोगों ने रात के समय रोटी खाना प्रारम्भ कर दिया है, उनके देखा देखी उनके बाल बच्चे तथा अन्य साधारण व्यक्ति भी अपनी कुल मर्यादा को तोड़ कर रात्रि भोजन करने लगे हैं। देहली में आकर मालूम हुआ कि यहाँ पर विवाह के समय बारात चढ़ने के बाद रात्रि के समय कन्या पक्ष वर पक्ष को जीमनवार कराता है, यह कितने धार्मिक पतन और दुख की बात है। दिल्ली के प्रमुख पुरुष अच्छे धार्मिक हैं यदि वे इस आरम्भ होने वाली कुप्रथा के विरुद्ध आवाज उठावें और थोड़ी सी भी प्रेरणा करें तथा स्वयं ऐसी रात्रि की जीमनवार न करावें, न ऐसे कार्य में सहयोग दें तो धर्मघातक यह प्रथा शीघ्र बन्द हो सकती है।

प्रवचन नं० १०

स्थानः— दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथिः— आषाढ़ कृष्णा १ सोमवार ६ जून १९५५

कुछ उपयोगी दैनिक नियम

संसार के प्रायः समस्त प्राणी इन्द्रियों के दास बने हुए हैं। जो मनुष्य अपने आप को बड़े धनिक समझ अपने आपको स्वतन्त्र मानते हैं, जो उद्योगपति अपने आपको अपनी मिल के हजारों

मजदूरों का स्वामी समझते हैं, और जो पूंजीपति अपने आप को यह मानते हैं कि मैं किसी का चाकर नहीं हूं, अपनी इच्छा का स्वतन्त्र सर्वतन्त्र स्वामी हूं। एवं जो सर्वोच्च राज-अधिकारी (वे चाहे सम्राट् हों, डिक्टेटर हों या राष्ट्रपति हों) अपने आप को सब का संचालक नेता मानते हैं। वास्तव में देखा जावे तो उन सब की मान्यता असत्य है क्योंकि वे भी एक दरिद्र मजदूर की तरह स्वतन्त्र नहीं हैं, उन्हें भी अपनी इन्द्रियों की गुलामी करनी पड़ती है। इन्द्रियों की प्रेरणा जैसी उनको मिलती है उनको उसी तरह कार्य करना पडता है।

घोड़े से सम्पर्क रखने वाले मनुष्य संसार में दो प्रकार के होते हैं—१. रईस, २. सईस। सईस तो घोड़े की सेवा में लगा रहता है, घोडे को घास खिलाता है, पानी पिलाता है, उसकी मालिश करता है, उसे स्नान कराता है, उसकी लीद उठा कर साफ करता है, घोडे का स्वामी जब कहता है तब घोड़े पर जीन कस देता है। इत्यादि घोड़े के सभी सेवा कार्य करता है, परन्तु उसपर सवारी करने का अधिकार उसको नहीं होता, अतः वह कभी घोड़े पर सवारी नहीं करता। घोड़े पर सवारी का सौभाग्य रईस को होता है, वह कभी घोड़े की सेवा नहीं करता किन्तु अपनी इच्छानुसार उस पर सवार होकर उसको चलाता है।

इसी तरह जो स्त्री पुरुष इन्द्रियों के दास होते हैं उन्हे अपना जीवन इन्द्रियों की सेवा गुलामी में बिताना पड़ता है, वे अपने आत्म-कल्याण के लिये अपनी इच्छानुसार उन इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं रख सकते, उन्हें ही इन्द्रियों की इच्छा पूर्ण करने के लिये इन्द्रियों के सकेत पर चलना पड़ता है। परन्तु व्रती त्यागी पुरुष इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके उन पर शासन करते हैं, इन्द्रियां उनकी दासी बनी रहती है, उसके व्रत, तप, सयम में बाधा नहीं करतीं, सहायक बनी रहती हैं। यदि व्रती त्यागी मुनि भी इन्द्रियों के दास बने रहते तो वे न तो महान् उपसर्ग और परीषहों पर विजय प्राप्त कर पाते और न अनादि कालीन कर्म-बन्धन को छिन्न भिन्न करके संसार से मुक्त हो पाते।

अत प्रत्येक स्त्री पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह आत्म शुद्धि के लिए इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे कदाचित गृहस्थाश्रम की बेड़ी तोड़कर वह स्वतन्त्र मुनि जीवन में नहीं आ सकता तो उसे इन्द्रियों पर आंशिक (थोडी बहुत) विजय प्राप्त करने का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। उस अभ्यास के लिये जिन वाणी में हमारे पूर्वाचार्यों ने कुछ नियमों का निर्देश किया है। समस्त विषयों के प्रसिद्ध उद्भट विद्वान् आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है—

> भोजन वाहन शयन स्नान पवित्राङ्गरागकुसुमेषु।
> ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसङ्गीतगीतेषु ॥ ८८॥
> अद्य दिवा रजनी वा पक्षोमासस्तथर्तु रयनं वा।
> इति कालपरिच्छित्याप्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥८९॥

आज, दिन, रात, सप्ताह (सात दिन), पक्ष (१५ दिन), मास ऋतु (दो महिना या ४ महिना), अयन (६ महिना), वर्ष आदि समय की मर्यादा रख कर भोजन, पान, वाहन, (सवारी), शयन (सोना), स्नान, लेप, फूल, पान, वस्त्र, आभूषण, कामसेवन, गायन, वादन का नियम करके शेष विषयों का त्याग करना चाहिये। जैसे कि—

१—आज मै इतनी बार भोजन करूंगा, इतने से अधिक बार न खाऊंगा। भोजन में अमुक अमुक रस (घी, तेल, दूध, दही, खाण्ड, नमक ये छह रस हैं) ग्रहण करूंगा, अमुक अमुक व्यंजन (मिठाई आदि स्वादिष्ट) खाऊँगा, अमुक अमुक खाद्य (रोटी, परांवठा, पूड़ी, भात, दाल, शाक आदि) भोजन मे लूंगा, और कुछ नहीं लूंगा।

२—मैं आज आम, अंगूर, अनार, सेव, अमरूद, नारियल आदि सचित्त फलों तथा किशमिश, बादाम, छुहाड़ा, पिश्ता, अखरोट, चिलगोजा, काजू आदि सूखे फलों मे से अमुक फल खाऊंगा, शेष नहीं।

३—आज मैं जल इतनी बार पीऊंगा, दूध, शिकंजबीन, शर्बत, जीरे का पानी, गन्ने का रस, फलों का रस आदि पेय (पीने योग्य) पदार्थों में अमुक अमुक पदार्थ पीऊँगा इनके सिवाय और कोई चीज नहीं पीऊँगा।

४—आज मैं घोड़ा, हाथी, ऊँट, बैलगाड़ी, तांगा, रिक्शा, मोटर, ट्राम, रेलगाडी, हवाई जहाज आदि सवारियों में से अमुक सवारी काम में लूंगा, उसके सिवाय अन्य किसी पर सवारी न करूंगा।

५—मैं आज खाट, तख्त, पलंग, जमीन में से अमुक चीज पर सोऊंगा।

६—मैं आज कुर्सी, चौकी, मूढ़ा, सोफा आदि आसनों में से अमुक आसन पर बैठूंगा।

७—मैं आज इतनी बार ठडे या गरम जल से स्नान करूंगा।

८—मैं आज चन्दन, केसर, मिट्टी आदि में से अमुक वस्तु का इतनी बार शरीर पर लेप करूंगा।

९—मैं आज गुलाब, चमेली, चम्पा, गेंदा, बेला, कमल आदि के फूलों में से अमुक अमुक फूल का हार, माला पहनूंगा या सूंघने, गुलदस्ता बनाने आदि में अमुक फूलों को काम में लूंगा।

१०—मैं आज पान, सुपारी, इलायची, लौंग, सौंफ आदि में से अमुक अमुक वस्तु, इतनी बार ही खाऊंगा, और नहीं लूंगा।

११—मैं आज कुर्ता, कमीज, बनियान, धोती, पगड़ी, साफा, टोपी, अंगरखा, कोट, पाजामा, पेन्ट, नेकर आदि में से अमुक अमुक कपड़ा पहनूंगा, और नहीं पहनूंगा।

१२—मैं आज हार, जंजीर, अंगूठी, चैन, अनन्त, करधनी, कड़े आदि आभूषणों में से अमुक अमुक आभूषण पहनूंगा, उसके सिवाय और नहीं पहनूंगा।

१३—मैं आज ब्रह्मचर्य से रहूँगा, या मैं आज इतनी बार ही कामसेवन (मैथुन) करूंगा।

१४—मैं आज इतनी बार गाना गाऊंगा, या गाना इतनी बार सुनूंगा।

१५—मैं आज सितार, तबला, बंसरी, हारमोनियम, बेला आदि बाजों में से अमुक अमुक बाजों को बजाऊंगा, या अमुक बाजे की ध्वनि सुनूंगा।

१६—मैं आज नर्तकी, नृत्यकार, नट, नटी आदि में से अमुक कलाकार (नाचने वाले) का नृत्य देखूंगा, अन्य का नहीं।

१७—मैं आज नाटक, चलचित्र (सिनेमा), खेल, तमाशें, दौड़ आदि में से अमुक अमुक देखूंगा या कोई भी नहीं देखूंगा।

इन ऊपर लिखी बातों का नियम, रात, दिन, घंटे, सप्ताह, पखवाड़ा, महीना, ऋतु, अयन आदि समय को मर्यादा करके भी किया जाता है।

ऐसे नियम करते रहने से इन्द्रियों को अपने वश में करते रहने का अभ्यास होता जाता है, क्योंकि इन्द्रियां संसार के सभी इष्ट विषयों की ओर बे-लगाम होकर दौड़ती रहती हैं, जिस सुन्दर वस्तु को अपने सामने पाती हैं उनको ही ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाती हैं, यदि पदार्थों का नियम करके उन इन्द्रियों पर लगाम लगा दी जाती है तो नियमित वस्तुओं के सिवाय अन्य वस्तुओं की लालसा उत्पन्न नहीं होने पाती और इन्द्रियां उनकी ओर नहीं दौड़ने पातीं। इस तरह जिस इन्द्रिय-संयम को बहुत कठिन समझा जाता है उस इन्द्रिय संयम का सरलता से आचरण हो जाता है। इन्द्रिय संयम होते ही प्राणी-संयम तो हो ही जाता है।

उपर्युक्त नियमों के सिवाय नीचे लिखी बातों का भी प्रति दिन नियम करते रहना उपयोगी है अतः पूर्व लिखित १७ नियमों के सिवाय इन नियमों को भी करते रहना चाहिये।

१—मनोरंजन या समय बिताने के लिये ताश, चौपड़ आदि खेलना, तोता मैना की कथायें, आल्हा की कथायें, शृङ्गार रस की कथा, उपन्यास आदि पढ़ना।

२—अश्लील हंसी, मजाक, दिल्लगी करना।

३—किसी की अनुकृति यानी नकल करके मजाक उड़ाना।

४—किसी का अपवाद (बदनामी) करना, बुराई करना, चुगली खाना, गाली देना।

५—झूठी साक्षी (गवाही) देना।

६—क्रोध करना, मारना, पीटना आदि।

७—असत्य भाषण, धोखा देना, विश्वासघात करना।

८—परस्वापहरण—यानी—अन्य व्यक्ति के अधिकार (हक) का छीनना।

९—अन्य का अहित यानी—जान बूझ कर दूसरे का बुरा करना।

इन ९ बातों का तथा इनसे मिलती जुलती अन्य बातों के न करने का भी नियम करते रहना चाहिये जिससे कि मन की शुद्धि होती रहे, व्यर्थ में पापबन्ध न होने पावे, और सद्गुणों का अभ्यास होता जावे।

इसके सिवाय निम्नलिखित बातों का यम रूप से (जन्म भर के लिये) त्याग करना चाहिये।

१—परस्त्री शरीर स्पर्श का त्याग—अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियों के शरीर को छूने का त्याग। इसमें अपनी माता, दादी, नानी आदि बड़ी बूढ़ी स्त्रियों तथा ७-८ वर्ष तक की छोटी बच्चियों को छूने की छूट है।

स्त्रियों की अपेक्षा से 'पर पुरुष स्पर्श त्याग' है। यानी-अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष के शरीर को छूने का त्याग। इसमें पिता, बाबा, नाना आदि बड़े बूढ़े पुरुषों तथा ५-६ वर्ष तक के बच्चों छोटी अवस्था के पुत्र-पौत्र आदि को छूने की छूट है।

२—मादक (नशीली) चीजों का त्याग—भंग, चरस, तम्बाकू, सिगरेट, बीड़ी, गाजा, अफीम आदि वस्तुओं का त्याग।

३—द्यूत का त्याग—जुआ खेलना, सट्टा फाटका के व्यापार का त्याग करना।

४—अभक्ष्य भक्षण त्याग—शराब, मांस, शहद खानेका सर्वथा त्याग करना चाहिये। तथा प्याज, लहसन का भक्षण भी न करना चाहिये। अन्य कन्द मूल आदि पदार्थों के त्याग का प्रयत्न करना चाहिये। विवाह का भोजन, प्रीतिभोज, धर्म उत्सवों के जीमनवार, पंचायती जीमनवार आदि सामूहिक भोजन में आलू, गोभी, गाजर आदि कन्दमूल का शाक न बनाना चाहिये।

५—रात्रि भोजन त्याग—जहां तक हो सके रात्रि में सब तरह के भोजन पान करने का त्याग करना श्रेष्ठ है। यदि इतना न हो तो औषधि आदि के रूप में जल पीना रख लेवे, इतना भी न निभ सके तो जल और दूध की छूट ले लेवे। इतने से भी निर्वाह न होता दीखे तो आवश्यकता के समय फल मेवा आदि के सिवाय कुछ न ले। अन्न के बने हुए भोजन का त्याग तो प्रत्येक जैन स्त्री पुरुष को अवश्य होना चाहिये। रात्रि के समय जीमनवार करना सर्वथा त्याज्य है।

६—निर्दयता के चर्म का त्याग—उत्तम तो यही है कि प्रत्येक तरह के चमड़े के बने जूते पहनने का त्याग करके या तो नंगे पैर रहा जावे अथवा कपड़े, रबड़ के बने हुए जूतों का उपयोग हो। कदाचित् कोई इतना भी त्याग न कर सके तो जो चमड़ा कसाई लोग जीवित गाय, बछड़े आदि जानवरों को बडी वेदना देकर उनके शरीर से उतारते हैं अथवा गाय, भेड़, बकरी आदि के बच्चों को दवा खिलाकर गर्भ में से निकाल कर उन बच्चों के शरीर से जो चमड़ा उतारा जाता है उस काफलैदर, क्रोम लैदर आदि चमकीले चटकीले नर्म चमड़ों, हिरन बाघ आदि के चमड़ों से बने हुए बूटों के पहनने का त्याग अवश्य कर देना चाहिये।

७—चर्म वस्तु का त्याग—जूते के सिवाय अन्य सब चमड़े की वस्तुओं (कमर पेटी, हैण्ड बैग आदि) के व्यवहार का त्याग कर देना चाहिये, जिससे पशु हिंसा के पाप से बचा जा सके। इसमें रेल, मोटर, जहाज आदि की सीटों पर लगे हुए चमड़े पर बैठने की छूट दी जा सकती है।

धार्मिक जैन को ऊपर लिखे ७ प्रकार के त्याग को अवश्य क्रियात्मकरूप (असली रूप) देना चाहिये, जिससे अनेक पाप बन्ध और निन्दनीय कामों से बचाव हो सके।

प्रतिज्ञापूर्वक थोड़ा सा त्याग भी आत्मा के उत्थान में बहुत सहायक हो जाता है। इसके लिये एक प्राचीन प्रसिद्ध घटना अच्छा उदाहरण रखती है।

एक बार एक मुनिराज का प्रभावशाली उपदेश सुनकर उपस्थित स्त्री पुरुषों ने अनेक प्रकार व्रत नियम लिये। सब से अंत में एक भील भी मुनि महाराज के पास आया और उसने भी कोई व्रत लेने की इच्छा प्रकट की। मुनि महाराज ने कहा कि भाई तू शिकार खेलना छोड़ दे। भील ने कहा कि महाराज! जंगल में रहकर परिवार का पालन पोषण किस तरह करूंगा? तब मुनि श्री ने कहा तो अच्छा, तू मांस खाना छोड़ दे। भील ने उत्तर दिया यह भी नहीं कर सकता। तब मुनि बोले किसी जीव का मांस खाना तो छोड़ दे। भील ने सोच विचार कर कहा कि महाराज! कौए का मांस छोड़ सकता हूँ। मुनि महाराज ने उसको धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देते हुए कहा कि अच्छा कौए का मांस खाना ही छोड़ दे। भील ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

एक बार भील बहुत बीमार पड़ गया, तब एक वैद्य ने भील को कौए का मांस खाना बतलाया भील अपने त्याग पर दृढ़ रहा, उसने कौए का मांस खाना स्वीकार न किया। वैद्य की सम्मति में उसके रोग की औषधि न थी। भील ने मुनि से ली हुई प्रतिज्ञा का पालन किया और शान्ति तथा सन्तोष के साथ प्राण त्याग किया। वह मरकर एक यक्षदेव हुआ।

~~~~~~

प्रवचन नं० ११

स्थानः—	तिथिः—
दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली	आषाढ़ कृष्णा २ मंगलवार ७ जून १९५५

मांस भक्षण-त्याग

संसार में पशुवर्ग यद्यपि मनुष्य की अपेक्षा बहुत शक्तिशाली है। घोड़ा, बैल, ऊँट आदि पालतू पशुओं को यद्यपि यथेष्ट भोजन, पान तथा घूमने फिरने की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती है, उनसे कठोर परिश्रम कराया जाता है फिर भी उनके शरीर के बल की समानता बलवान मनुष्य नहीं कर सकता, तब फिर सिंह, बाघ, हाथी आदि पशुओं के शारीरिक बल की तुलना में तो मनुष्य का बल तुच्छ ठहरता है। फिर भी मनुष्य अपने बुद्धिबल से उन बलवान पशुओं पर शासन करता है और अपनी इच्छानुसार अपने संकेत पर उन्हें अनेक तरह नचाता है। सिंह—जैसे दुर्द्धर्ष भयानक हिंसक वनराज पशु को सर्कश में रिंग-मास्टर चाबुक की मार से अनेक प्रकार के खेल दिखाकर जनता का मनोरंजन करता है।

घोड़े, बैल आदि पालतू पशुओं से खेती बाड़ी, सवारी, लदाई आदि अनेक प्रकार के कठोर परिश्रम लेने के सिवाय मनुष्य, गाय, भैंस, बकरी आदि पशुओं का दूध अपने भोजन में उपयोग करता है। इस तरह अपनी शरण में आये हुए पशुओं की जीवन रक्षा करना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है किन्तु दुर्व्यसनी स्वार्थपरायण मनुष्य अपनी लोलुपता शान्त करने के लिये उन पशुओं के
~~~~~~

जीवन से भी खिलवाड़ करते हैं। प्रकृति के प्रिय सुन्दर पशु पक्षियों को तथा जलचर जीवों को भाला, बन्दूक, छुरी, जाल आदि से मारकर उनके मांस से अपनी भूख मिटाकर निर्दय मनुष्य हर्षित होते हैं।

यदि कोई जंगली पशु या जलचर जन्तु अथवा पालतू जानवर किसी मनुष्य को मार डालता है तो मनुष्य हाय तोबा मचाकर पृथ्वी आकाश एक कर डालता है, पशुओं की निर्दयता का बखान करके उनसे बदला लेने के सभी सम्भव उपाय काम में लेने से नहीं चूकता, किन्तु स्वयं उनको बुरी तरह मारते समय उनके दुखका अनुभव नहीं करता। दया को धर्म का मूल बतलाते हुए और अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहते हुए भी मांस लोलुपी धर्मध्वजी मनुष्यों ने भी स्वार्थवश धर्म के नाम पर भी मांस खाने के लिये अनेक मार्ग निकाल लिये हैं।

अनेक शताब्दियों पहले जब भारत में अनेक जगह वाम-मार्ग का प्रचार था उस समय उन लोगों ने मांस भक्षण तथा व्यभिचार को मुक्ति बतलाकर मद्यपान, मांस भक्षण तथा व्यभिचार का खुला प्रचार किया था। उनका प्रसिद्ध धार्मिक वाक्य था—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पंच मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे ॥ कालीतंत्र ॥

यानी—मद्य, मांस, मीन (मछली), मुद्रा, (मैथुन के आसन) और मैथुन (स्त्रीमात्र के साथ कामसेवन) ये पांच मकार युग युग में मोक्ष देने वाले हैं।

इसी प्रकार मांस लोलुप अन्य लोगों ने वैदिक ऋचाओं के आधार से अश्वमेध, गो मेध, अजमेध आदि यज्ञों का प्रचार करके जीवित पशुओं को मारकर हवन करके मांस खाने की विधि बतलाई।

मनुस्मृति में लिखा है—

न मांस भक्षणे दोषो न मद्य न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥५६। अ० ५।

यानी—मांस भक्षण, मद्यपान और मैथुन करने में कुछ दोष नहीं है। क्योंकि यह तो जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इनका त्याग महाफलदायक है।

इस श्लोक में मांस भक्षण का समर्थन भी कर दिया, मांस भक्षण त्याग की भी प्रशंसा करदी। बेचारा भोला भाला जिज्ञासु इन दोनों में से किस बात को धर्म माने और किस को अधर्म माने, पुराने जमाने की बात जाने दीजिए, इस जमाने में भी काली, दुर्गा आदि देवी-देवताओं की पूजा करने के लिये बकरा, सूअर, भैंसा, भेड़, मुर्गी आदि पशु पक्षियों को निर्दयता से कत्ल करने की प्रथा चालू है। बंगाल की अधिकतर जनता मछली खाती है, मछली को 'जल तोरई' कहते हैं, उसको त्याज्य मांस भी नहीं समझते। इस तरह स्वार्थी लोगों ने अपने उदर पोषण तथा लोलुपता शान्त करने के लिए अनेक बहाने ढूंढ लिये हैं।

मांस-भक्षण के लिये निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं—

१. अन्न फल, दूध आदि की तरह मांस भी एक खाद्य पदार्थ है, अतः अन्न की तरह मांस भी मनुष्य को खाना चाहिये।

२. पशु, पक्षी, मछली आदि यदि मारकर न खाये जावें तो ये जानवर इतने बढ़ जावें कि मनुष्यों का रहना कठिन हो जावे।

३. मांस खाने से शरीर बहुत शक्तिशाली बनता है। मांस में अन्न की अपेक्षा पोषक तत्व अधिक हैं।

ये तीनों युक्तियाँ निःसार हैं क्योंकि—

१. मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है। एक छोटे से बच्चे के सामने सेव, आम अमरूद आदि सुन्दर फल रख दिये जावें और मांस का लोथड़ा रख दिया जाय तो बच्चा स्वयं फलों को लेने के लिये हाथ बढ़ावेगा, मास को छूना पसन्द नहीं करेगा।

मांस खाने वाले जीवों के दांत गोल नोकीले होते हैं, जैसे बिल्ली, कुत्ता, भेड़िया, सिंह आदि के होते हैं। तथा चबाने के लिये उनके डाढ़ें नहीं होती। मनुष्य के दांत न गोल होते हैं, न नौकीले। और भोजन चबाने के लिये मनुष्य के डाढ़ें होती हैं।

मांस खाने वाले जानवर जीभ से लपलप करके पानी पीते है, घूंट भरकर पानी नहीं पीते, किन्तु मनुष्य पानी घूंट भर कर पीता है।

मांसभक्षी जानवरों को पसीना जीभ पर आता है, शरीर के अन्य भागों पर नहीं आता जैसे कि कुत्ता गर्मी से हांफता हुआ जीभ से टपकाता है, मनुष्य को पसीना सारे शरीर पर आता है, जीभ पर नहीं आता।

इन बातों से सिद्ध होता है कि मनुष्य का स्वाभाविक मांस भोजन नहीं है, अन्न, फल, दूध आदि निरामिष पदार्थ ही उसके स्वाभाविक भोज्य पदार्थ हैं। अतः मनुष्य को मांस नहीं खाना चाहिये।

२. पशु पक्षी भी इस जगत् के प्राणी हैं, वे पेड, गुफा, जंगल, जल आदि में अपना अपना स्थान बनाकर रहते हैं, प्रकृति ने उनको भी स्थान दिया है। उनके रहने से मनुष्य को अनेक लाभ हैं। वे असंख्य जीव जन्तु स्वयं अपना घास फूस आदि भोजन खोज लेते हैं। अतः दूसरी युक्ति भी व्यर्थ है।

३. 'मास खाने से शरीर में शक्ति बढ़ती है।' यह तो एक उल्टी एवं गलत धारणा है। मांस में शक्ति के पोषक अश अन्न, फल, दूध की अपेक्षा बहुत कम हैं। वैज्ञानिक खोज से इस विषय में तथ्य आंकड़ा प्राप्त हुआ है वह निम्न प्रकार है—

बादाम में ९१ प्रतिशत शक्ति (ताकत) के अंश हैं।

चना आदि अन्न में ८७ प्रतिशत शक्ति (ताकत) के अंश हैं।

चावल में ८७ प्रतिशत अंश शक्ति है।

मक्खन और घी में ८७ प्रतिशत शक्ति पाई जाती है।

गेहूं के आटे में ८६ प्रतिशत ताकत के अंश हैं।

मक्का के आटे में ८६ प्रतिशत शक्ति-अंश हैं।

किशमिश में ७३ प्रतिशत ताकत है।

मलाई में ६६ प्रतिशत शक्ति का अंश है।

मांस मे २८ प्रतिशत ताकत के अंश हैं।

अंडे में २६ प्रतिशत शक्ति होती है।

मछली में १३ प्रतिशत ताकत के अंश हैं।

इस तरह मांस से दुगुनी शक्ति अन्न में होती है, बादाम में उससे भी अधिक होती है। इसी कारण मांस भक्षी जानवरों की अपेक्षा वनस्पति भोजन करने वाले जानवरों में शक्ति अधिक होती है। सिंह में क्रूरता और स्फूर्ति (फूर्ती) अधिक होती है। हाथी, सूअर, गेंडा आदि मांस न खाने वाले जानवरों से सिंह ताकत में कम होता है। हाथी जितना बोझ उठा सकता है, खींच सकता है उतना सिंह नहीं उठा सकता। इसी तरह मांस खाने वाले मनुष्यों की अपेक्षा निरामिष भोजियों में अधिक शक्ति होती हे। जाट मांस नहीं खाते हैं किन्तु उनकी शारीरिक शक्ति मास भोजियों की तुलना में अधिक होती है। पिछले महायुद्ध में वीरता का सर्वोच्चपदक विक्टोरिया जाट सैनिकों ने अधिक लिये।

मांस एक तामसी पदार्थ है, अतः उससे दिमाग को बहुत हानि पहुँचती है। संसार में जितने बड़े २ दार्शनिक तथा आविष्कार करने वाले विद्वान् हुए हैं, उनमें अधिकतर विद्वान् शाकाहारी थे, मांस नहीं खाते थे। मांस खाने से मनुष्य की पाचन शक्ति बिगड जाती है।

जगत् में पदार्थ दो प्रकार के हैं—१. आबी (पानी से उत्पन्न होने वाले) जैसे—अनाज, फल, फूल, मेवा आदि। २. पेशाबी (वीर्य से उत्पन्न होने वाले) यानी—मांस या मांस वाला शरीर, इनमें से आबी पदार्थ खाने के लिये पवित्र होते हैं और पेशाबी अपवित्र होते हैं। उनको (मांस, खून, हड्डी, चर्बी आदि को) देखते ही घृणा आती है, उनमें से दुर्गन्ध (बदबू) आती है। अतः अपवित्र, घृणित, दुर्गन्धित मांस का भोजन त्याज्य है।

इसके सिवाय मांस में सबसे अधिक बुरी बात यह है कि वह त्रस जीवों को मारने से उत्पन्न होता है। छोटे से कीड़े मकोड़े मे भी मनुष्य के ही समान जान है, वह भी जीना चाहते हैं जैसे मनुष्य मरना नहीं चाहता इसी तरह कोई जानवर भी नहीं मरना चाहता, ऐसी दशा में दूसरे जीवों को बलात् (जबरदस्ती) मार कर मांस निकालना महान् पाप और अत्याचार है। यदि मनुष्य के साथ भी ऐसा अत्याचार हो तो उसे कितनी व्याकुलता और वेदना होती है वैसी ही बात जानवरों के लिये भी समझनी चाहिये। जो पेट अन्न, फल, घी दूध, मेवा आदि पवित्र शक्तिशाली पदार्थों से भरा जा सकता है उसको पापजनक, अत्याचारपूर्ण मांस से भरना अनुचित है।

जीव जैसा करता है वैसा भोगता है, इस कारण सुख पाने के अभिलाषी मनुष्य को भी सब जीवों को सुख देना चाहिये, दुःख किसी को न देना चाहिये। दूसरे को दुख देने वाले दुखी रहते हैं, दूसरों को न सताने वाले सुखी रहते हैं। मनुष्य को प्राणों के बदले में यदि पर्वत के बराबर सोना दिया जावे तो अपनी जान के बदले में इतना मूल्यवान सोना भी नहीं लेना चाहता तब विचारना चाहिये कि जानवरों को भी तो अपना जीवन इतना ही प्यारा है।

मुलतान में एक मुसलमान मौलवी ने मांस खाना छोड़ दिया था। मांस त्याग करने का कारण उसने यों सुनाया कि "मैं एक दिन मुर्गी को हलाल करना (मारना) चाहता था ज्यों ही मैंने उसको उठाया, वह मेरे मुँह की ओर बडी दुख भरी आंखों से देखने लगी, मेरे दिल ने कहा कि बेचारी लाचार है तुझ से रहम की भीख मांग रही है, तू इतना बेरहम है कि फिर भी बेचारी को मार डालेगा।" दिल की इस पुकार को मैंने सुना और उस मुर्गी को छोड़ दिया, उसी दिन से मैंने गोश्त (मांस) न खाने का अहद (प्रतिज्ञा) कर लिया।

इसलिये निर्दयता का मूल कारण मांस न खाना चाहिये।

इसके सिवाय मांस में (वह चाहे गीला हो, सूखा हो, कच्चा हो या पका हुआ) प्रतिसमय असंख्य जीव पैदा होते हैं अतः मांस खाने से उन असंख्य जीवों की भी हिंसा होती है।

अंडा

आजकल कुछ व्यक्ति अंडा को वनस्पति रूप कहकर जनता में भ्रम फैला रहे हैं, बहुत से नव-युवक पथभ्रष्ट होकर अंडे खाने लगे हैं। अंडा भी नर मादा के रज वीर्य से उत्पन्न होने वाला पदार्थ है, मुर्गी आदि के गर्भाशय से निकलता है, उन अंडों के पक जाने पर उनमें से बच्चे निकल आते हैं अतः अंडा भ्रूण (कच्चे गर्भ) के रूप में मांस-जैसा ही पदार्थ है। यदि किसी अंडे से बच्चा न निकले तो उसे मृतक (मुर्दा) भ्रूण (गर्भ) के समान समझना चाहिये।

दूध न तो खून के समान गाय, बकरी आदि के शरीर-धातु है, क्योंकि खून निकालने में जानवरों को कष्ट होता है, दूध निकालने से नहीं होता। तथा दूध की समानता अंडे से भी नहीं की जा सकती, क्योंकि अंडा गर्भाशय से गर्भ के रूप में होता है जब कि दूध गर्भाशय से न हो कर दुग्ध कोष से उत्पन्न होता है। अतः मांस की तरह अंडा भी न खाना चाहिये।

—०—

प्रवचन नं० १२

स्थान:— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि:— आषाढ कृष्णा ३ बुधवार ८ जून १९५५

भक्ष्य अभक्ष्य वनस्पति

जैसे नदी, समुद्र, गर्म स्रोत, कुआं, झील आदि भिन्न भिन्न जलाशयों का जल अपने जलद्रव्य की दृष्टि से एक समान है किन्तु भिन्न भिन्न आधारों के कारण अपने पर्याय की अपेक्षा भिन्न भिन्न प्रकार

का है। कोई मैला है, किन्तु मीठा है, कोई साफ है, किन्तु खारा है, कोई साफ भी है और मीठा भी है, कोई गर्म है किन्तु स्वाद में मीठा है इत्यादि। इसी प्रकार द्रव्य की दृष्टि से समस्त जीव—वे चाहे मुक्त हों या संसारी, नरगति के हों या नरक, देव, पशुगति के हों, एकेन्द्रिय स्थावर हों अथवा दो, तीन, चार, पांच-इन्द्रिय हों—एक समान हैं, परन्तु पर्याय दृष्टि से उनमें परस्पर भेद है, मुक्त जीवों के आध्यात्मिक गुण पूर्ण विकसित है जब कि संसारी जीवों के पूर्ण विकसित नहीं हैं। यही नहीं किन्तु संसारी जीवों में भी सब जीवों के गुण एक समान नहीं हैं। इस कारण पर्याय की अपेक्षा सब जीवों में परस्पर अन्तर है।

जैन सिद्धान्त में इतर सिद्धान्तों की अपेक्षा जीव तत्व का बहुत विशद विस्तृत विवेचन किया गया है, जीवों के बन्धन, मुक्ति, विकास, विभिन्न दशाओं का आत्मा की अपेक्षा, गुणों की अपेक्षा तथा शरीर की अपेक्षा जैसा विस्तृत वर्णन जैन दर्शन ने प्रकट किया है, संसार के अन्य किसी दर्शन ने वैसा इस विषय में प्रकाश नहीं डाला। जैन सिद्धान्त ने संसारी जीवों को शारीरिक तथा ऐन्द्रियिक विकास की दृष्टि से पांच भागों में विभक्त किया है—१-एक इन्द्रिय वाले जीव, २-दो इन्द्रियों वाले, ३-तीन इन्द्रियों वाले, ४-चार इन्द्रियधारी जीव तथा ५-पांच इन्द्रियों वाले जीव।

शरीर धारी जीव को ज्ञान उत्पन्न करने के साधन को 'इन्द्रिय' कहते हैं, यह साधन पांच हैं १-स्पर्शन (त्वचा; चमड़ा), २-रसना (जीभ), ३-नासिका (नाक), ४-नेत्र (आंख) और ५-कान। इन इन्द्रियों द्वारा ससारी जीव क्रम से पदार्थों को छूकर, रस चख कर, सूंघ कर, देखकर तथा सुन कर पदार्थों को जानते हैं। तदनुसार एकेन्द्रिय-जीव केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले होते हैं अतः पदार्थों को छू कर ही वे जान सकते हैं। दो इन्द्रिय जीव छू कर तथा रसना इन्द्रिय द्वारा चख कर पदार्थों को जानते हैं। तीन इन्द्रिय जीवों के पहली तीन इन्द्रियां होती हैं अतः वे छू कर, चख कर और सूंघकर पदार्थ ज्ञान करती हैं। चार इन्द्रिय वाले जीवों के कान के सिवाय चार इन्द्रियां होती हैं अतः वे छू कर, चख कर, सूंघ कर और देख कर पदार्थों को जानते हैं। तथा पंचेन्द्रिय जीवों के पांचों इन्द्रियां होती हैं, अतः छू कर, रस चख कर, सूंघ कर, देख कर और सुन कर चीजों को जानते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों में पांच भेद हैं—१-पृथ्वी, २-जल, ३-अग्नि, ४—वायु और ५-वनस्पति। पहले वैज्ञानिक लोग वनस्पति यानी—वृक्षों (घास, बेल, पौधे, पेड़) में जीव नहीं मानते थे उन्हें निर्जीव समझते थे, किन्तु जब से भारत के प्रख्यात वैज्ञानिक विद्वान् स्व० श्री जगदीश चन्द्र जी बोस ने वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा वृक्षों में जीव की सत्ता सिद्ध कर दी है तब से संसार के आधुनिक विद्वान पेड़ों में जीव मानने लगे हैं।

एक बार कलकत्ता के ईडन बाग में शाम को स्व० डा० जगदीश चन्द्र बोस वायु सेवन के लिये एक बेंच पर बैठे हुए थे, संयोग से उसी बेंच पर स्व० पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल भी आकर बैठ गये वार्तालाप के प्रसङ्ग से डा० बोस को मालूम हुआ कि श्री पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल 'जैन' हैं। डाक्टर बोस को स्मरण आया कि 'जैन दर्शन में वृक्ष सजीव माने गये हैं।' अतः उन्होंने बाकलीवालजी से पूछा कि जैन सिद्धान्त-अनुसार वृक्षों में जीव की प्राणशक्ति किस प्रकार मानी गई है?

पं० पन्नालाल जी ने उत्तर दिया कि जैन दर्शन ने वृक्ष में चार प्राण माने हैं—१-स्पर्शन इन्द्रिय, २-शरीर (काय बल), ३-आयु, और ४-श्वासनिःश्वास।

पं० पन्नालाल जी का उत्तर सुन कर डा० जगदीश चन्द्र जी ने बहुत प्रसन्नता प्रकट की, उन्होंने कहा कि पहले तीन प्राणों का निश्चय तो पेड़ों में मैं कर चुका हूँ, श्वासनिःश्वास के विषय में मुझे कुछ सन्देह था, अब मैं वैज्ञानिक ढंग से पेड़ों में सांस लेना सिद्ध करूंगा।

तदनुसार श्री डा० जगदीशचन्द्र बोस ने कुछ दिनों पीछे पेड़ों में सांस लेने की प्रक्रिया विद्वानों के सामने वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करके बतलाई थी।

सजीव वनस्पतियां अनेक ढंग से उत्पन्न होती हैं। अनेक पेड़ तो अपने अपने बीजों से पैदा होते हैं जैसे, आम, नीबू गेहूं, चना आदि।

कोई बनस्पतियां मूल से उत्पन्न होती है जैसे अदरक, हल्दी आदि।

कोई पेड़ अपनी ही जाति के पेड़ के अग्रभाग (ऊपरी शाखा) से उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे-गुलाब।

कोई पेड़ पर्व (पंगोली) से पैदा होते हैं, जैसे-गन्ना।

कोई कन्द से उगते हैं, जैसे-सूरण।

कोई स्कन्ध से उत्पन्न हो जाते है, जैसे- ढाक।

कोई वनस्पतियां बिना बीज आदि के जहां तहां उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे- घास आदि।

इन वनस्पतियों के दो भेद हैं—१—प्रत्येक, २—साधारण। जिन पेड़ों का स्वामी एक ही जीव होता है वे पेड़ प्रत्येक वनस्पति कहलाते हैं। जिस वनस्पति के शरीर के स्वामी बहुत से जीव होते हैं वे वनस्पति साधारण कही गई हैं।

प्रत्येक वनस्पति दो प्रकार की होती है। सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय निगोदिया जीव रहते हों वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति होती है और जिसके आश्रय निगोद न हों वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है।

सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित वनस्पति के विषय में गोम्मटसार में निम्नलिखित रूप से बतलाते हैं—

गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।

साहारणं सरीर तव्विवरीयं च पत्तेयं॥ १८६॥

यानी—वनस्पतियों की शिरा (नस जैसा चिन्ह), संधि (जोड़) और पूर्व (पंगोली) प्रगट न हुई हों, तथा जिन वनस्पतियों को तोड़ने पर ठीक बराबर टुकड़े हो जावें, जिन वनस्पतियों को तोड़ने पर तन्तु न लगा रहे एव जिन वनस्पतियों को काट लेने पर भी फिर बढ़वारी हो वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति होती हैं। जिन वनस्पतियों में ये बातें नहीं होती यानी—जिन वनस्पतियों में शिरा, जोड़, पंगोली प्रकट दीखने लगें, जो तोड़ने से साफ एक सी न टूटें, तोड़ने पर जिनमें तन्तु लगा रहे वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति होती हैं, बहुत कच्चे (थोड़े ही दिन के लगे) फल, तोरई, ककड़ी, भिंडी आदि प्रतिष्ठित होती हैं। कुछ दिन बाद ज़ब उनमें नशा, तन्तु आदि आ जाते हैं, तब वे अप्रतिष्ठित हो जाती हैं।

इसी को और स्पष्ट करते हैं—

मूले कंदे छल्लीपवालसालदलकुसुमफलबीजे।
समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥ १८७ ॥

जिन वनस्पतियों के मूल, कन्द, छाल, कोंपल, टहनी, पत्ते, फूल और फलो को तोड़ने पर बराबर दो टुकड़े हो जावें तो वह सप्रतिष्ठित वनस्पति होती है, यदि समान टुकड़े न हों तो वह अप्रतिष्ठित होती है।

एक चिह्न और बतलाया है—

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वावि बहुलतरी।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥ १८८ ॥

जिन वनस्पतियों के कन्द, मूल, टहनी, स्कन्ध की छाल मोटी हो वे सप्रतिष्ठित वनस्पति हैं और जिनकी छाल पतली होती है वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति होती है।

सारांश यह है कि प्रारम्भ में नितान्त कच्ची दशा में फल, टहनी, स्कन्ध आदि सप्रतिष्ठित (अनन्तकायिक) प्रत्येक वनस्पति होती है, फिर गुठली पड़ जाने पर तथा पतली छाल हो जाने पर अप्रतिष्ठित हो जाती है।

इस विषय में एक नियम और है—

बीजे जोणी भूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा।
जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदास ॥ १८९ ॥

यानी—उत्पन्न होने योग्य बीज को बो देने पर उस बीज में बीज वाला पहला जीव अथवा अन्य जीव आकर जन्म लेता है। उत्पन्न होते समय मूल कन्द आदि (जिन्हें सप्रतिष्ठित कहा है) अन्तर्मुहूर्त तक अप्रतिष्ठित रहते हैं। पीछे उनमें अनन्त जीव आ जाते हैं तब वे सप्रतिष्ठित हो जाते हैं।

इस तरह प्रत्येक वनस्पति का संक्षिप्त विवरण है। साधारण वनस्पति का संक्षेप विवरण निम्नलिखित है।

साहारणोदयेणणिगोदसरीरा हवेति सामण्णा।
ते पुण दुविदा जीवा बादरसुहुमाति विण्णेया ॥ १९० ॥

यानी—साधारण नामकर्म के उदय से सामान्य निगोद शरीर वाले जीव होते हैं। वे दो प्रकार के हैं। बादर और सूक्ष्म। जिस एक ही शरीर में अनन्त जीव सामान्य रूप से रहते हैं उन्हें साधारण या निगोद(अनन्त जीवभ्यः नियतां गां ददातिः इति निगोदः) कहते हैं,जो निगोद शरीर अन्य से रुक सके या अन्य को रोक सके वह बादर निगोद है। जो न किसी को रोक सके, न दूसरे से रुक सके वह सूक्ष्म निगोद शरीर होता है।

साधारण (निगोदिया) जीव किस तरह के होते हैं—

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारण लक्खणं भणियं ॥ १६१ ॥
जत्थेवक मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।
वक्कमइ तत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥ १६२ ॥

यानी—एक साधारण शरीर का समान रूप से अपना शरीर बनाने वाले अनन्त जीवों का आहार, श्वास नि.श्वास ग्रहण करना एक समान होता है। जहाँ एक जीव जन्म लेता है वहाँ एक ही समय अनन्तों जीव उत्पन्न होते हैं और एक जीव के मरण होने पर अनन्त जीवों का मरण हो जाता है। अर्थात—अनन्त जीव एक ही शरीर में एक समान रूप से उत्पन्न होते हैं, आहार ग्रहण करते हैं, सांस लेते हैं और मरते भी सबके सब एक साथ है वे साधारण या निगोदिया जीव होते हैं।

जिन वनस्पतियों को सूर्य का प्रकाश नहीं छूने पाता ऐसी वनस्पतियाँ नियम से साधारण यानी अनन्तकायिक वनस्पति होती हैं। ऐसी साधारण वनस्पतियाँ एक तो पृथ्वी के भीतर फैलकर बढ़ती रहती है उन्हे कन्द कहते हैं, जैसे आलू, अदरक, सकरकदी, अरुई, कचालू आदि। और जो वनस्पति जड़ की तरह पृथ्वी में नीचे की ओर जाती हैं वह मूल कहलाती हैं जैसे मूली, गाजर।

इन कन्द मूल वनस्पतियों में अनन्त स्थावर जीव होते हैं। एक आलू, गाजर, मूली की जड़, लहसुन, प्याज आदि के खाने पर अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है, अतः साधारण (कन्द मूल) वनस्पति भक्षण करने में महान् स्थावर जीव हिंसा होती है, इस कारण कन्द मूल वनस्पति नहीं खानी चाहिये।

सेव, सन्तरा, नाख, आम आदि एक २ फल में केवल एक एक स्थावर जीव होता है अतः उसके भक्षण में अनन्त जीवों का घात नहीं होता जब कि आकार में उससे छोटे एक आलू के खाने में अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है।

साराश यह है कि साधारण वनस्पति का तो सर्वथा त्याग करना चाहिये और प्रत्येक वनस्पति में अत्यन्त कच्ची दशा में पत्ते फल फूल, टहनी आदि को—जब तक कि वह पूर्वोक्त चिह्नों के अनुसार सप्रतिष्ठित रहती है तब तक—न खाना चाहिये।

जैनों के सामूहिक भोजन (जीवनवार) में कन्द मूल का शाक इसी कारण नहीं बनाया जाता है। मालूम हुआ है अब कुछ लोग ऐसे सुन्दर नियम की अवहेलना करके आलू आदि कन्दमूल का शाक भी जीमनवार में बनाने लगे है, यह बहुत बुरी बात है। पंचायती प्रबन्ध से इस प्रथा को तुरन्त रोक देना चाहिये।

संसार में सैकड़ों तरह के अच्छे रसदार सुन्दर प्रत्येक वनस्पतिकायिक फल हैं मनुष्य उनके आहार से अपनी इच्छा पूर्ण कर सकता है फिर अनन्तकायिक कन्द मूल को न ग्रहण करेंगे तो ऐसी कौन सी विपत्ति या कठिनाई आती है जिससे महान् हिंसा से न बचा जा सके।

प्रवचन नं० १३

स्थानः— दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथिः— आषाढ कृष्णा ४ बृहस्पतिवार ६ जून १६५५

कन्दमूल अभक्ष्य क्यों हैं?

अनन्त ज्ञान का स्वामी यह आत्मा ज्ञानावरण कर्म के निमित्त आत्मज्ञानी बना हुआ है और अविनश्वर होता हुआ भी आयुकर्म के कारण छोटे छोटे समय वाले जीवन को अनुभव कर रहा है, अनुपम सुख शान्ति का निधान इस संसारी जीव का आत्मा स्वय है किन्तु भ्रम तथा मिथ्या श्रद्धा वश सुख शान्ति की खोज अन्य पदार्थों में कर रहा है। आत्मा के साथ इसकी रुचि होनी चाहिये किन्तु इसकी रुचि भौतिक शरीर के साथ है जिस तरह व्यभिचारी मनुष्य अपनी सती गुणवती रूपवती स्त्री का तिरस्कार अनादर करके असती, व्यभिचारिणी, मायाविनी वेश्या से अपमान पाता हुआ भी प्रेम करता है। ऐसी ही घटनाओं को देख कर एक नीतिकार ने कहा है—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं,
स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भजातां,
मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्॥

यानी—जो व्यक्ति जिस पदार्थ के महत्त्व को नहीं समझता, वह उस महत्वशाली पदार्थ की सदा निन्दा किया करता है। जिस प्रकार कि भीलनी हाथियों के मस्तक से निकले हुए गज मोतियों का महान् मूल्य न जानते हुए उन्हें छोड़ कर गुञ्जा (रत्ती) का हार बना कर पहनती है।

किन्तु खेद तो इस नरभव धारी मनुष्य की समझ पर है जो कि सर्व श्रेष्ठ भव को पाकर भी अपनी बुद्धिमानी का उपयोग सांसारिक कार्यों के लिये तो करता है परन्तु आत्म-उन्नति के लिये अपने विशाल ज्ञान का प्रयोग रंचमात्र भी नहीं करता।

संसार में इस जीव का सब से बड़ा शत्रु कोई पुरुष, स्त्री, पशु या कोई दृश्यमान जड़ पदार्थ नही है, इसका सबसे बड़ा बैरी तो एक मिथ्यात्व है जिसके प्रभाव से जीव की श्रद्धा विपरीत हो गई है। अज्ञानी व्यक्ति को यदि समझाया जाय तो वह तो समझ जाता है किन्तु जिसकी श्रद्धा ही विकृत हो जाय उसका समझना समझाना बहुत कठिन है। यही कारण है कि मिथ्या श्रद्धालु को तात्विक ज्ञान भी कार्यकारी नहीं होता। अतः ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को कम तो कर देता है किन्तु ज्ञान को मिथ्या ज्ञान नहीं करता। परन्तु मिथ्यात्व कर्म तो समस्त पतन के आधारभूत श्रद्धान को ही विकृत कर डालता है, इसलिये ज्ञानावरण आदि कर्मों की अपेक्षा मिथ्यात्व कर्म महान् अहित इस जीव का करता रहता है।

इस मिथ्यात्व के प्रभाव से ही संसार में इस जीव की बड़ी भारी दुर्गति होती है। वैसे कहने को तो सब से अधिक दुख वेदना सातवें नरक में कही जाती है, जो कि किसी अंश में है भी सत्य, क्योंकि सप्तम नरक का सारा वातावरण जगत् में जीव को सब से अधिक शारीरिक दुख देने वाला है, परन्तु उस

महान् कष्ट सहने की क्षमता भी वहाँ के जीवों में रहा करती है, वे उस वेदना को सहन करते हुए भी सचेत रहते हैं मूर्छित नहीं होते, अतः वे अपनी महती वेदना से भविष्य के लिये लाभदायक शिक्षा भी ग्रहण कर सकते है। अपनी वेदना के अनुभव तथा पूर्व भव के स्मरण से अनेक नारकी जीव अपने आत्म-उद्धार के मूल आधार सम्यक् श्रद्धान या आत्मानुभूति को प्राप्त कर लेते है।

परन्तु ससार मे सबसे निकृष्ट और सबसे अधिक दुखप्रदाता भव एक और है जिसका कि नाम 'निगोद' है। ससार में औदारिक शरीरधारी जीव सबसे अधिक वेदना मरण के अवसर पर पाता है, यदि कोई जीव मर करके पुन. उसी रूपमें फिर लौट कर आता तो मरण के समय के दुःखका कुछ अनुभव लोगो को सुनाता। कोई कोई जीव मरणासन्न हो कर पुनः अच्छे हो जाते हैं तब वे उस समय की वेदना को सब से अधिक दुखदायी बतलाते हैं। अस्तु! हाँ, तो निगोद के दुख का अनुमान इसी बात पर से किया जा सकता है कि वहां पर जीव बहुत थोड़े समय में (स्वस्थ मनुष्य के एक श्वास में) १८ बार मर जाता है। निरन्तर जन्म मरण करते करते उसकी अवस्था मूर्छित हो जाती है। इसी कारण संसार में निगोदिया जीव की ज्ञानशक्ति सब से कम श्री सर्वज्ञदेव ने बतलाई है। उसका परिमाण है अक्षरज्ञान के अनन्तवें भाग। जगत् में यदि सबसे अधिक ज्ञान निवारण केवल ज्ञानी (सर्वज्ञ) का है तो सब से अल्पज्ञान निगोदिया जीव का है।

उस निकृष्टतन-धारी निगोदिया जीव के विषय में कुछ विवरण कल बतला दिया था, उसी विषय में कुछ और प्रकाश डालते है।

अनन्त जीव जो नियत थोड़े से स्थान मे रहते है (अनन्त जीवेभ्यः नियतागां ददाती इति निगोदः) उसे निगोद कहते हैं। निगोद के अनन्तों जीव जहाँ कहीं भी उत्पन्न हों तो सबके सब एक ही साथ उत्पन्न होते हैं, उन सब का शरीर एक ही वस्तु होती है यानी-एक ही शरीर का उपभोग अनन्तों जीव एक समान साधारण रूप से करते है। वे सब सांस भी एक साथ ही लेते हैं और मरते भी सब के सब एक ही साथ है। लब्धि अपर्याप्तक निगोदी जीव सांस भी नहीं लेने पाते कि उनका मरण हो जाता है।

निगोदिया जीव साधारण बनस्पतिकाय एकेन्द्रिय जीव होते हैं।

कोई निगोदी जीव किसी वनस्पति के सहारे होते हैं—जैसे कोंपल रूप बिल्कुल कच्चा नया पत्ता, बिल्कुल नया कच्चा फल आदि। इन में कुछ दिनों तक निगोदो जीव रहते है फिर जब वह पत्ता हरा हो जाता है फल में गुठली आ जाती है तब निगोदी जीव वहा नहीं रहने पाते।

तोरई आदि फलों शाकों पर जब नशाजाल नहीं आवे, भिंडी आदि में जब तक तन्तु (तार) पैदा न हों तब तक उसमें निगोद रहता है फिर नशाजाल (जाली) तथा तार पैदा हो जाने पर वे वनस्पतियां निगोदशून्य प्रत्येक वनस्पति हो जाती हैं।

ककड़ी आदि जब तक बहुत कच्ची होती हैं तब तक उन में निगोद रहता है। उस समय यदि उनको तोड़ा जावे तो वे बिलकुल साफ बराबर ऐसी टूटती हैं जैसे कि चाकू से टुकड़े किये गये हों।

जिन छोटे पौदों या बेलों की छाल मोटी हो यानी-छाल मालूम ही नहीं हो सके वे पौदे, बेलें उस दशा में निगोद सहित (साधारण) होती हैं। जब उनकी छाल पतली हो जाती है उसके भीतर

लकड़ी (गूदा) अलग प्रगट हो जाती है तब उसमें निगोद नहीं रहती, उस दशा में वह प्रत्येक वनस्पति हो जाती है।

जिन गन्ने बेंत बांस आदि में पंगोली होती हैं उनमें जब तक पंगोली नहीं बन पाती है तब तक उन वनस्पतियों के आश्रित निगोद होती है, जब उनमें पंगोलियां प्रगट हो जाती हैं तब उनसे निगोद हट जाता है और वे प्रत्येक वनस्पति के रूप में हो जाती हैं।

प्रत्येक वनस्पति मे एक ही जीव होता, निगोदवाली वनस्पति के अनन्त जीव होते हैं।

ऐसी कुछ समय तक निगोद सहित रहने वाली वनस्पतियों का सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं और निगोद हट जाने पर उन्हीं वनस्पतियों को अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते है। सप्रतिष्ठित वनस्पति भक्षण करने पर अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है। और अप्रतिष्ठित वनस्पति खाने में केवल एक ही एकेन्द्रिय जीव का घात होता है। इस कारण अत्यन्त कच्चे फल जिन में कि गुठली न पड़ी हो, पंगोली न आई हो, तोड़ने पर एक सी टूटे ऐसे कैरी, गन्ने, ककड़ी आदि न खानी चाहियें।

दूसरी तरह के निगोदी जीव स्थायी साधारण वनस्पति में होते हैं। स्थायी साधारण वनस्पतियां वे होती हैं जो पृथ्वी के गर्भ में ही अंकुरित हों और पृथ्वी के गर्भ में (भीतर) ही बढ़ कर तैयार हों यानी सूर्य के प्रकाश से बिल्कुल अछूती रहें। वे आलू सकरकन्दी, अरवी (कचालू), प्याज, लहसन, गाजर, मूली की जड़, अदरक आदि हैं। इनमें सदा (जब सूखें नहीं) निगोदी अनन्त जीव रहते हैं। अतः इन वनस्पतियों को बिलकुल न खाना चाहिए। उनमें जा वनस्पति जड़ की तरह पृथ्वी में जाती हैं वे मूल कहलाती हैं। और जो फैलकर बढ़ती हैं उन्हे कन्द कहते हैं। जड़ें तो सभी वृक्षों की पृथ्वी के भीतर ही होती हैं इसी कारण वे साधारण (निगोद सहित) होती हैं परन्तु खाने के काम नहीं आती, खाने में मूली की जड़ तथा गाजर आती है, अतः मूल शब्द से इस प्रकरण में गाजर मूली को ही लिया गया है।

इस तरह के सप्रतिष्ठत प्रत्येक वनस्पति तथा साधारण वनस्पति को निगोद बादर (स्थूल) कहते हैं यानी—इन निगोदी जीवों का शरीर दृष्टिगोचर होता है. अन्य पदार्थों से उसको रुकावट आती है और वह भी अन्य स्थूल पदार्थों की रुकावट में कारण बनता है।

इन निगोदी जीवों के सिवाय दूसरे सूक्ष्म निगोदी जीव भी होते हैं जो कि बिना किसी वनस्पति के आधार से या स्थूल शरीर के रूप में नहीं होते, जो न किसी से रुकते हैं, न किसी को रोकते हैं, ऐसे सूक्ष्म निगोदी जीव सर्वत्र भरे हुए हैं, कोई भी स्थान उन सूक्ष्म निगोदी जीवों से खाली नहीं है।

सूक्ष्म होने के कारण वे निगोदी जीव एक दूसरे के भीतर अनन्तों जीव रहते है। उन सूक्ष्म जीवों की संख्या के विषय में गोम्मटसार जीवकांड में लिखा है—

एगणिगोदसरीरं जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंत गुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥१९५॥

यानी—एक निगोदी जीव के शरीर में अतीतकालीन अनन्त सिद्धों से भी अनन्तगुने अन्य सूक्ष्म निगोदिया जीव रहते हैं।

निगोदिया जीव निम्नलिखित जीवों के शरीर के आश्रित नहीं होते।

पुढवी आदिचउण्हं केवलिआहार देवणिरयंगा।
अपदिट्ठिदा णिगोदहि परिट्ठिदिंगा हवे सेसा ॥१९९॥

यानी—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, केवली, आहारक, देव और नारकियों का शरीर निगोदी शरीर से प्रतिष्ठित नहीं होता, अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति की तरह निगोद शून्य होता है। शेष सब जीवों के शरीराश्रित निगोद होता है यानी वे सप्रतिष्ठित होते है।

निगोद के दो भेद दूसरे ढंग से हैं। १. नित्य निगोद, २. इतर निगोद। जो जीव अनादिकाल से अब तक निगोद में ही हैं वहाँ से निकल कर जिन्होंने अन्य कोई पर्याय ग्रहण नहीं की है वे नित्य निगोद हैं। जो जीव निगोद से निकल कर कुछ अन्य प्रकार के शरीरों को धारण कर चुके हैं। तत्पश्चात् फिर-निगोद में जाते हैं, उस निगोद को इतर निगोद कहते हैं।

निगोद जीव के अनन्तों जीव ऐसे भी हैं जो अनादिकाल से निगोद में रहे हैं और अनन्तकाल तक निगोद में रहेंगे। यानी निगोद से न कभी निकले हैं, न कभी निकलेंगे। इस बात के समर्थन में जीव-कांड गोम्मटसार में लिखा है—

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंक सुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥१९६॥

यानी—ऐसे अनन्तजीव हैं जिन्होंने त्रसपर्याय कभी नहीं पाई और जो अपने कलंकित भावों के कारण कभी निगोद को न छोड़ेंगे।

मृतक शरीर में निगोदराशि उत्पन्न होने लगती है, अतः मुर्दा शरीर का अग्नि संस्कार यथाशीघ्र कर देना चाहिये।

इस प्रकार निगोदिया जीवों के विषय में यह संक्षिप्त विवरण है। इसको समझ कर निगोदिया जीवों के घात से जहाँ तक बचा जा सके, बचना चाहिये। खान पान में उन पदार्थों को न ग्रहण करना चाहिये जिनमें निगोद हो। जिह्वा की लोलुपता शान्त करने के लिये तथा पेट की भूख मिटाने के लिये जगत् में बहुत से निर्दोष सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ हैं उनके द्वारा अपनी भूख तथा स्वादुप्रियता शान्त की जा सकती है, तब सप्रतिष्ठित वनस्पतियाँ तथा साधारण वनस्पतियाँ न खाई जावेंगी तो क्या हानि होगी?

उपर्युक्त विवरण से हमको दो शिक्षाएं ग्रहण करनी चाहियें—एक तो मिथ्यात्व से बचें क्योंकि मिथ्यात्व की प्रचुरता ही संसार परिभ्रमण और निगोद जैसी निकृष्ट पर्याय में ले जाने की

कारण है। मानव शरीर पाकर तथा सत्यधर्म सुनने समझने का सुअवसर प्राप्त करके मिथ्या श्रद्धा दूर करनी चाहिये।

दूसरे—नरभव में हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) कामों को समझने की विवेक बुद्धि है तो उस विवेक से कार्य लेकर ऐसे खान पान, आहार व्यवहार से बचना चाहिये जिन से व्यर्थ अशुभ कर्मों का आस्रव तथा बध होता है। विवेक से कार्य लेकर सदा ऐसे विचार और कार्य करने चाहियें जिनसे आत्मा और भी अधिक उन्नत हो, उसके गुणों का विकास हो। विवेकहीन का सब तरह पतन होता है, हमें कम से कम अपने आत्मा को तो पतन से बचाना चाहिये। अन्धा पुरुष यदि न देख सकने के कारण कुएँ में गिर पड़े तो कुछ आश्चर्य या निन्दनीय बात नहीं है परन्तु नेत्र ठीक होने पर तथा प्रकाश होने पर भी मनुष्य कुए में गिर जावे यह तो बड़ी खेदजनक बात है।

प्रवचन नं० १४

स्थानः—	तिथिः—
दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली	आषाढ़ कृष्णा ५ शुक्रवार १० जून १६५५

द्यूत क्रीड़ा (जुआ खेलना)

बटेर पक्षी बहुत छोटी सी चिड़िया है किन्तु वह बहुत चंचल और फुर्तीली होती है, इस कारण उसका हाथ आना बहुत कठिन है। उस बटेर का नेत्रहीन अन्धे मनुष्य के हाथ में आ जाना तो महा कठिन बात है। जैसे यह कठिन बात संयोग से हो जावे यानी—अन्धे आदमी के हाथ में बटेर आ जावे उसी तरह संसार की चौरासी लाख योनियों में मनुष्य भव पाना महा कठिन है।

मनुष्य भव द्वारा आत्मा परमात्मा बन सकता है, अतः मनुष्य को कम से कम महात्मा बनने का प्रयत्न तो अवश्य करना चाहिये। नीतिकार कवि ने मनुष्य को सम्बोधन करके कहा है—

> महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
> पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते ॥

यानी—महान् पुण्य निधि द्वारा यह मनुष्य तनरूपी नौका तूने मोल ली है, अतः जब तक यह नर तन रूपी नौका (नाव) टूटती नहीं है यानी जब तक तेरी आयु है तब तक इस नाव से संसार दुखसागर को पार कर ले।

मनुष्य तन पाकर भी महात्मा बनने के लिये सयम ग्रहण करने योग्य कुलों में यदि जन्म न हो तब भी मनुष्य शरीर से विशेष लाभ नहीं मिल सकता, किन्तु द्विज कुल में जन्म लेना भी महान् शुभ कर्म के उदय से होता है। ऐसे महाकठिन द्विज कुल को प्राप्त कर आत्म-कल्याण का कार्य अवश्य करना चाहिये। एक कवि ने लिखा है—

जातिशतेषुलभते किल मानुषत्वं,
तत्रापि दुर्लभतरं खलु भो द्विजत्वम् ।
तद्यो न पालयति लालयतीन्द्रियाणां,
तस्यामृतं चरति हस्तगतं प्रमादात् ॥

यानी—सैकड़ों जन्म जन्मान्तरों में मनुष्यभव मिलना कठिन है और मनुष्यभव में भी द्विज होना महान् दुर्लभ है। उत्तम कुल पाकर भी जो संयम नहीं पालता, केवल इन्द्रियों की सेवा किया करता है वह व्यक्ति अपने हाथ में आये हुए अमृत को प्रमाद (गफलत) से गिरा देता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसे दुर्लभतर अवसर को पाकर उससे अवश्य लाभ उठाना चाहिये कोई भी क्षण व्यर्थ न खोना चाहिये। आज, कल, परसों करते हुए मूल्यवान समय निकल जाता है, आयु काय का कुछ विश्वास नहीं है, जो सांस ले रहे हैं उसके आगे कितनी सांस और ले सकेंगे, इसको सर्वज्ञाता दृष्टा के सिवाय अन्य कोई व्यक्ति नहीं बतला सकता। अत मनुष्य को रात-दिन के प्रत्येक क्षण में सावधान चौकन्ना रहकर आत्म-हित के लिये कुछ न कुछ तप त्याग संयम कर लेना चाहिये।

एक सेठ विदेश में व्यापार के लिये गया। अपने देश से बहुत सा माल ले जाकर दूसरे द्वीपों में बेचा, दूसरे द्वीपों का माल खरीद कर अन्य द्वीपों में बेचा। इस प्रकार क्रय विक्रय करते हुए अनेक वर्ष बिता दिये। जब उसने अच्छा धन संचय कर लिया तब उसे अपने घर की याद आई और अपने स्त्री, पुत्र, माता आदि परिवार तथा मित्रों से मिलने के लिये मन व्यग्र हो उठा।

व्याकुलता होते ही सेठ ने स्वदेश के अमूल्य रत्न खरीदकर जहाज पर लाद लिये और देश को चल पडा। समुद्री हवा ठीक अनुकूल चल रही थी इस कारण थोडे दिनों में ही अपने देश में जा पहुचा। अपने द्वीप पर पहुँचकर जहाज को किनारे पर गाड़े हुए खभों से बॉधा और आप अपने परिवार से मिलने घर की ओर दौडा, घर में अच्छा प्रेम से उसका स्वागत हुआ। खूब सुख दुख की बाते सब के साथ होती रहीं। तदन्तर अपने मित्रों एवं प्रिय सम्बन्धियों से मिलता रहा। इस मिलन जुलने, प्रेम सत्कार स्वागत में जहाज पर से अपनी अमूल्य कमाई हुई सम्पत्ति उतारना भूल गया।

जहाज के रक्षक चाकरों ने भी अनेक बार सूचित किया, किन्तु सेठ अपने मित्रों के मिलाप में इतना तन्मय हो गया कि उस ओर विशेष लक्ष्य न दिया यह कहकर टाल दिया कि घर तो आ ही गये है किस बात की चिन्ता है अब २-४ दिन में माल उतार लेंगे।

अचानक तूफान (भारी आँधी) आ गया, जिससे जहाज उथल पुथल होने लगा और जिस खम्भे से वह बँधा था वह खम्भा भी हिलने लगा। तब एक नौकर भागकर सेठजी के पास आया और जहाज के लडखडाने की बात कह सुनायी। नौकर की बात सुनकर सेठ तत्काल समुद्र के किनारे की ओर भागा और वहाँ पहुंकर जहाज पर चढ गया, जहाज में रक्खे हुए बहुमूल्य रत्नों को ज्यों ही उठाया कि किनारे का खम्भा टूट गया और जहाज को समुद्र की तूफानी लहरें समुद्र में बहा ले चलीं।

सेठ पछताने लगा कि यदि मै घर आते ही जहाज का माल उतार लेता तो आज यह दशा न

होती, सेठ ऐसा विचार ही रहा था कि जहाज उलट गया और सेठ का जीवन धन तथा व्यापारिक धन समुद्र के पेट में विलीन हो गया।

अतः अच्छे कार्य करने में जरा भी विलम्ब न करो।

जीवों को संसार सागर में डुबाने वाली सात भयानक लहरें है—१. जुआ खेलना, २. मांस खाना, ३. शिकार खेलना, ४. वेश्या गमन करना, ५. परस्त्री सेवन करना, ६. शराब पीना और ७. चोरी करना। ये सात कार्य मनुष्य को आदत को बिगाड़ देते है इस कारण इनको दुर्व्यसन कहते है। इन दुर्व्यसनों में वैसे तो सभी व्यसन मनुष्य का महान् अहित और पतन करने वाले है किन्तु सब से बुरा व्यसन 'जुआ' है। इसका कारण यह है कि जुआ खेलने से मनुष्य को अन्य छह व्यसन अवश्य लग जाते है, अतः जुआ खेलना सभी दुर्व्यसनों का मूल कारण है।

गृहस्थाश्रम में रहने वाला मनुष्य घर के कार्य चलाने के लिये सदा धन उपार्जन के लिये चिन्तित और प्रयत्नशील रहता है क्योंकि भोजन, वस्त्र, परिवार का पालन पोषण, बच्चों की शिक्षा, विवाह शादी, सामाजिक व्यवहार आदि सभी कार्य धन के कारण चला करते है। गृहस्थ के पास यदि रुपया पैसा न हो तो न तो वह अपने परिवार का निर्वाह कर सकता है और न कोई दूसरे कार्य कर सकता है इस कारण मनुष्य जिस कार्य में अधिक धन का समागम देखता है वही कार्य करन के लिये तैयार हो जाता है। धन उपार्जन के लिये मनुष्य अपने जीवन को खतरे में भी डालकर पृथ्वी के भीतर, समुद्र के भीतर, पर्वतों पर, भयानक जगलों और आकाश में भी घूमता है और कठिन से कठिन परिश्रम करने मे लग जाता है।

यही धन पाने का लोभ मनुष्य को जुआ खेलने में लगा देता है, क्योंकि जुआ खेलने में शारीरिक परिश्रम तो कुछ करना नहीं पड़ता है, परन्तु धन के आने की जुआ खेलने वाले को वड़ी भारी आशा रहती है। जुआरी लोग वड़े चालाक और कुसगति में पड़कर पक्के बदमाश हो जाते है अतः नये जुआ खेलने वाले व्यक्ति को पहले कुछ जिता देते है। उस जीत के लोभ में पड़ कर नया खिलाड़ी जुआ का अपने लिये बहुत लाभदायक समझ लेता है और उसमें तन्मय हो जाता है।

इसका परिणाम यह होता है कि वह कभी कुछ रकम जीत लेता है तो अनेक बार हारता भी है। जब वह जीत कर कुछ रुपया पैसा पा जाता है तो जुआरी लोगो की सगति से उसे शराब पीने, वेश्या गमन करने, परस्त्री सेवन में खर्च करता है, मास खाने को आदत भी उस सगति से उसको पड़ जाती है। यानी—हराम का पैसा हराम में खर्च हो जाता है। यदि वह मनुष्य हार जाता है तो फिर जीतने की आशा में घर से रुपया पैसा, गहना तथा कीमती वस्तुऐं लुका छिपा कर लाता है और उनके द्वारा जुआ खेलने की इच्छा पूर्ण करता है। फिर कभी हारता है, कभी जीतता है। जीत की रकम तो वहीं पर उन जुआ खेलने वाले मित्रों को खिलाने पिलाने तथा वेश्यागमन, मद्यपान आदि में खर्च हो जाती है और हारने पर घर की वस्तुओं को चुरा चुरा कर बेचने की आदत पड़ जाती है। परिणाम यह होता है कि वह जुआ के कारण अपना सारा घर बर्बाद कर डालता है।

जुआरी की विवेक बुद्धि लुप्त हो जाती है। इसी कारण वह अपने हित अहित की बात सोचने समझने योग्य नहीं रहता जिससे कि अपना सत्यानाश करके भी वह नहीं संभल पाता, सट्टा खेलना भी जुआ है। इस सट्टे के कारण भी सैकड़ों धनी परिवार बर्बाद हो गये हैं।

जैसे जुआ अपने कंधे पर रखकर बैल अपना शारीरिक बल क्षीण कर लेता है और कपड़ों का जुआ उन कपड़ों को पहनने वाले मनुष्य को परेशान कर देता है, इसी प्रकार जुआ का दुर्व्यसन भी जुआरी को सब तरह परेशानी में डाल देता है।

महान् विवेकी धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर जुआ खेलने में ही अपना राज पाट हार कर दीन हीन बन गया, उसका विवेक यहाँ तक नष्ट हुआ कि द्रौपदी रानी को भी जुए के दाव पर लगा बैठा और उसको भी हार गया। इसका निन्दनीय परिणाम यह हुआ कि महाबली भीम और अर्जुन के सामने दु शासन दुर्योधन की प्रेरणा पर द्रौपदी को बलपूर्वक राजमहल से घसीट कर अपनी राज सभा में ले आया और सारी सभा के सामने उस दुष्ट ने द्रौपदी को नगी करने का यत्न किया। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव पाचों पाडव चुपचाप बैठे देखते रहे। इससे बढ़कर पांडवों का पतन क्या होता? इस अध.पतन का कारण जुआ ही तो था।

पराक्रमी महासुन्दर राजा नल जुआ खेल कर ही राज-भ्रष्ट हुआ और बड़े बड़े कष्ट उसे उठाने पड़े और एक अन्य राजा के यहाँ दास के जीवन में रहना पड़ा।

एक राजा को कुसग के कारण जुआ खेलने का व्यसन लग गया। उसके दो बुद्धिमान् मन्त्री थे, उन्होंने राजा को बहुत समझाया किन्तु राजा ने जुआ खेलना न छोडा। तब उन मन्त्रियों ने राजा को सुधारने के लिये एक अन्य उपाय सोचा, वे दोनों राजा से कुछ दिनों की छुट्टी लेकर उस नगर से चले गये और उन्होंने साधुओं का रूप बनाया, एक उनमें से गुरु बन गया दूसरा उसका शिष्य।

लोगों में प्रसिद्धि पाने के लिये थोड़ी थोड़ी रकम भिन्न भिन्न स्थानों पर पृथ्वी में गाड़ दी। चेलेने अपने गुरु जी के दिव्य ज्ञान का खूब ढिंढोरा पीटा, साधु की प्रशंसा सुनकर जनता साधु के पास आने लगी। साधु अपने किसी किसी भक्त को पृथ्वी में गड़ा हुआ वह धन बतला देते थे, जो कि सचमुच वहां मिल जाता था इस कारण लोगों को उन पर और भी श्रद्धा हो गई।

साधु की प्रसिद्धि राजा के कानों तक भी पहुँची, तो राजा ने साधु के दर्शन करने का विचार किया। यह बात उन गुरु चेले को मालूम हुई तो वे दोनों बहुत हर्षित हुए। उसी समय उस साधु ने मछली पकड़ने का एक जाल मंगाकर अपने पास रख लिया। वह राजा भी साधु के पास आया। बड़ी श्रद्धा से नमस्कार करके बैठ गया।

राजा की दृष्टि जब उस जाल पर पड़ी तो राजा ने आश्चर्य से पूछा कि महाराज! यह जाल किस लिये रक्खा है? साधु ने उत्तर दिया कि मछलियों के शिकार के लिये। राजा ने कहा कि साधु होकर आप क्या शिकार भी खेलते हैं।

साधु ने उत्तर दिया कि नहीं, जब कभी मास खाने को नहीं मिलता, तब मछली का शिकार कर लेते हैं, प्रतिदिन शिकार नहीं खेलते।

राजा ने कहा कि महाराज! क्या आप मांस भी खाते हैं? साधु ने उत्तर दिया कि नहीं, सदा

नहीं खाते जब कभी शराब पीते हैं तब मांस खाना पड़ता है। राजा बहुत विस्मित हुआ। उसने फिर पूछा कि महात्मा होकर आप शराब भी पीते हैं? साधु ने कहा बच्चे! हम रोज शराब नहीं पीते जिस दिन वेश्या के यहां जाते हैं उस दिन शराब पीनी पड़ती है।

राजा ने तब पूछा कि आप वेश्या के यहाँ भी जाते हैं? साधु ने उत्तर दिया कि तू समझा नहीं, जब हमारे कोई स्त्री नहीं तो कामवासना मिटाने को वेश्या के यहाँ जाना पडता है, रोज नहीं जाते।

राजा ने पूछा कि आप परस्त्री से भी व्यभिचार करते हैं? साधु ने कहा छिः यह तूने क्या कहा हमको तो जब चोरी करने में कुछ धन मिल जाता है तब जरा शौक करने के लिये किसी स्त्री के यहाँ जा पहुँचते हैं। राजा ने आश्चर्य से पूछा कि साधु होकर क्या आप चोरी भी किया करते है? साधु ने कहा कि नहीं बच्चा! जब हम जुए में सब रुपया हार जाते हैं तब लाचार होकर हमको चोरी करनी पड़ती है।

अब राजा के नेत्र खुले, राजा ने कहा कि महाराज! जुआ तो मैं भी खेलता हूँ बहुत सा धन हार भी चुका हूं। साधु ने कहा कि कुछ हानि नहीं बच्चा! कुछ दिन बाद तू भी हम-जैसा चोर, लम्पट, शराबी, मांस भक्षक, मछलीमार बन जायेगा। राजा ने डरते कहा, नहीं महाराज! मै तो आज ही जुआ खेलना छोड़ता हूँ। तब साधु ने अपना कपट वेश उतारते हुए कहा कि अच्छा, बच्चा! हम भी जुआ खेलना छोड़ते हैं। राजा अपने सामने मंत्रियों को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ।

प्रवचन नं० १५

स्थानः— दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, देहली।

तिथिः— आषाढ़ कृष्णा ६ शनिवार, ता० ११-६-५५

चोरी—व्यसन

मनुष्य में दुर्गुण दो कारणों से आया करते हैं—१. तो माता पिता के कुसंस्कारों से। क्योंकि जिस रज और वीर्य से मनुष्य का शरीर बनता है, उस रज में माता के आचरण का प्रभाव रहता है और उस वीर्य में पिता के आचार विचारों का असर रहता है। अतः यदि माता दुर्गुणी है और पिता दुराचरणी है तो उन दोनों के रजवीर्य से तैयार होने वाली उनकी सन्तानों में भी उनका संस्कार आवेगा। फिर नौ मास तक बच्चा जब तक गर्भ में रहता है तब तक पिता की अपेक्षा विशेषकर माता के आचार विचार का संस्कार उस गर्भ के बच्चे पर अंकित होता रहता है।

हम देखते हैं कि गुणी माता पिताओं की सन्तान प्रायः गुणवान् होती है और दुर्गुणी माता पिताओं के बच्चे दुर्गुणी हुआ करते हैं। महाभारत की कथा-अनुसार अभिमन्यु ने चक्रव्यूह तोड़ना अपने माता पिता के संस्कारो से गर्भ में ही सीख लिया था। यह प्रभाव यहाँ तक देखने में आता है कि यदि माता या पिता को कोई क्षय, बवासीर, उपदंश (गर्मी) का रोग होता है तो वह रोग उनकी सन्तान में भी अवश्य प्रगट हो जाता है। इस तरह माता पिताओं के दुर्गुणों के कारण उनकी सन्तान भी दुर्गुणी हो

दूसरे मनुष्य के आचार पर संगति का प्रभाव पड़ता है। जिस मनुष्य को जैसी संगति मिला करती है वह मनुष्य भी वैसे ही आचार विचार में ढल जाता है। बादलों से जल एक जैसा बरसता है किन्तु उस जल की जो बूंदें नीम की जड़ में जाती हैं वे कड़वे रस की हो जाती हैं, जो बूंदें ईख की जड़ में जाती हैं वे मीठे रस की हो जाती हैं, समुद्र में वही वर्षा का जल खारी हो जाती है, और नदी में वर्षा का पानी खारी नहीं होने पाता।

एक कवि ने कहा है कि—

> काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,
> काजर की एक लीक लागि है पै लागि है।

यानी—काजल की कोठरी में बड़ी सावधानी से बचकर चलते हुए भी काजल का धब्बा कपड़ों पर लग ही जाता है। कोयले की दलाली में काले हाथ हो ही जाते हैं।

कलाल (शराब बेचने वाले) के हाथ में दूध की बोतल हो तो भी लोग उसे शराब की बोतल ही समझते हैं। इन सब दृष्टान्तों का अभिप्राय केवल इतना ही है कि मनुष्य के आचार विचार पर अपने आस पास के वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है, इस कारण दुर्जन मनुष्यों की संगति में रहकर सज्जन व्यक्ति भी अनेक तरह की बुरी बातें स्वयं सीख जाता है।

अन्य दुर्गुणों के समान चोरी करना भी एक महान् दुर्गुण है।

बिना दिये किसी अन्य व्यक्ति की कहीं पर भी रक्खी हुई, पड़ी हुई, गिरी हुई या भूली हुई वस्तु को उठाकर अपने पास रख लेना या दूसरे को दे देना चोरी है। चोरी करने वाला व्यक्ति बहुत पापी होता है क्योंकि वह सदा यह बात सोचता रहता है कि कैसे भी ऐसा दाव लगे कि दूसरे का रुपया पैसा, गहना पाता या कोई अन्य मूल्यवान पदार्थ उड़ालूं। जैसे बिल्ली सदा चूहों को पकड़ कर मारने के मलिन विचारों में डूबी रहती है, सोते हुए भी उसको वैसे ही स्वप्न आया करते हैं, उसी तरह चोर भी सदा पराया माल आँख बचाकर उड़ाने की घात में लगा रहता है।

चोरी का कार्य प्रायः रात्रि को लोगों के आराम से नींद में सोते समय उनके मकान, दुकान, गोदाम आदि में ताला तोड़कर, किवाड़ उतार कर या सेंध लगाकर चोर लोग किया करते हैं। पाप के कारण उनका हृदय सदा भयभीत बना रहता है। जिस घर में वे चोरी करने जाते हैं उस घर में यदि कोई छोटा बच्चा जाग जावे या कुत्ते भोंकने लगें, अथवा कोई आदमी मूत्र करने के लिये उठे या किसी को खांसी आ जावे तो चोर डरकर समझ लेते हैं कि कोई हमको पकड़ने आ रहा है और इस आशंका के कारण वे भाग खड़े होते है। वे अपने पास छुरा, कुल्हाड़ी, डंडा आदि अस्त्र शस्त्र भी रखते हैं कि यदि उनको कोई मनुष्य पकड़ने का यत्न करेगा तो उससे छुटकारा पाने के लिये इस हथियार से काम लेंगे, उस पकड़ने वाले को मार देंगे। ऐसा चोर करते भी हैं, चोरों के हाथ बहुत से आदमी घायल हो जाते है और अनेक मारे भी जाते हैं।

दिन में भी लोगों की आँख बचाकर चोर चोरी करने से नहीं चूकते, जेब को बहुत सफाई के साथ काटने में निपुण चोर प्राय दिन के समय ही बाजार में, गाड़ी में या किसी अन्य भीड़ भाड़ के

स्थान में दूसरों की जेबें काटकर रुपये पैसे, नोट आदि निकाल कर रफूचक्कर हो जाते हैं। ऐसा कार्य करते समय कई चोर एक साथ रहते हैं, पक्का चोर जेब काटकर बटुआ आदि उड़ा लेता है किन्तु पकड़े जाने की आशंका से वह उसे अपने पास नहीं रखता अपने दूसरे साथी को दे देता है और दूसरा तीसरे चोर को पकड़ा देता है, तीसरा चुराया हुआ माल लेकर तत्काल वहाँ से भाग जाता है जिस से कि यदि जेब काटने वाला वहाँ पर पकड़ भी लिया जाता है तो उसके पास चुराया हुआ माल तो मिलता ही नहीं। उस दशा में उसे छुटने का अवसर मिल जाता है क्योंकि तलाशी लेने पर जब उसके पास कुछ नहीं मिलता तब लोग यह समझकर उसे छोड़ देते हैं कि इसने नहीं चुराया, यदि इसने चुराया होता तो इसके पास अवश्य मिल जाता।

जिस मनुष्य का माल चोरी हो जाता है उसको तो बहुत भारी मार्मिक दुःख होता है क्योंकि धन कमाने में बड़ा भारी परिश्रम करना पड़ता है, तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ते हैं, सर्दी, गर्मी, वर्षा शरीर पर झेलनी पड़ती है, लोगों की चापलूसी करनी पड़ती है, तिरस्कार सहने पड़ते हैं, अनेक ठोकरें खानी पड़ती हैं तब कहीं पैसा मिलता है। इस कारण रुपये पैसे के साथ लोगों को अपने प्राणों की सी ममता हो जाती है। अतएव जिसका धन चोरी हो जाता है उसके मार्मिक दुःख को वही मनुष्य जानता है, अन्य व्यक्ति उस का अनुभव नहीं कर सकता।

इसी बात को लेकर श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है—

अर्थानाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

अर्थात्—धन सम्पत्ति आदि पदार्थ मनुष्यों के बाहरी प्राण हैं। जो मनुष्य जिस मनुष्य की वस्तुओं को चुराता है वह उसके प्राणों का घात करता है।

इस तरह से चोरी करने में महान हिंसा का भी पाप लगता है।

चोरी मनुष्य प्रायः धन की तंगी के कारण परिश्रम से बचने के लिये किया करते हैं। परन्तु यह बात सर्वथा ऐसी नहीं है। बहुत से गरीब पुरुष स्त्री अनेक कष्टों को सहन करते हुए भी चोरी, बेईमानी, अनीति, अन्याय, धोखेबाजी से बचे रहते हैं। और बहुत से धनिक व्यक्ति लोभ में फसकर चुंगी, आयकर (इन्कम टैक्स) आदि की चोरी करते हैं, लेन देन में गरीब आदमियों से भी अनीति कर डालते हैं। इसी बात को श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में यों कहा है—

शुद्धैर्धनैर्विवर्द्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥४५॥

यानी—सज्जन पुरुषों के भी धन की बढ़वारी नीति न्याय के शुद्ध धन से ही नहीं होती कुछ न कुछ या बहुत सा धन उनके पास भी अनीति अन्याय से आता है। जैसे कि नदियाँ निर्मल पानी से ही नहीं भरा करतीं, उनमें अधिकतर नाले नालियों का गन्दा पानी भरता रहता है।

चोरी करना एक बुरी आदत है जिसको कि मनुष्य या तो माता पिता की सराहना पर सीखता है अथवा चोरों की संगति से सीखता है। अच्छे धनिक घराने के लड़के भी कुसंगति के कारण चोरी करना सीख जाते हैं। छोटे बच्चों में चोरी करने की आदत माता पिता की असावधानता (लापरवाही) से आ जाती है। निम्नलिखित कथा प्रसिद्ध है कि—

एक लड़का पाठशाला में पढ़ने जाया करता था। एक दिन वह पाठशाला से एक लड़के का चाकू चुरा लाया। उसकी माता ने इस चोरी के लिये उसको कुछ नहीं डांटा डपटा। बल्कि उस चाकू को बेचकर उस लड़के को खाने के लिये बाजार से आम ले दिये।

माता की ओर से ऐसा उत्साह पाकर वह पाठशाला में प्रतिदिन चोरी करने लगा, उसकी माता ने कभी उसको कुछ नहीं कहा। अतः वह कुछ दिन पीछे पक्का चोर बन गया। एक दिन वह चोरी करने के लिये राजा के महल में जा पहुचा, किन्तु वहाँ पर उसे पकड़ लिया गया। तब राजा ने क्रोध में आकर उस को फांसी की सजा दी।

जब उसको फांसी मिलने लगी तब नगर के सब लोग उसे देखने आये, उनमें उसकी माता भी आई। उस लड़के ने माता से कुछ बात करने की आज्ञा मांगी, राजा ने आज्ञा दे दी। तब उस लड़के ने बात कहने के बहाने अपनी मां का कान काट लिया जिससे उसकी मां रोने लगी।

लोगों ने लड़के को बहुत फटकारा, तब लड़के ने उत्तर दिया कि आज मुझ को फांसी इस माँ के कारण ही मिल रही है। यदि यह पहले ही मुझे फटकार कर ये चोरी करने से रोक देती तो मुझे चोरी की आदत न पड़ती और आज फांसी का दण्ड न भोगना पड़ता।

पापबन्ध करके भविष्य में दुःख पावेगा यह तो भविष्य की बात रहीं, किन्तु वर्तमान में भी चोर का न कोई सन्मान करता है, न कोई विश्वास करता है। घर के प्राणी भी उसे सदा आशंका की दृष्टि से देखा करते हैं, सदा उससे सावधान रहते हैं। इसके सिवाय वह कभी न कभी पकड़ा भी अवश्य जाता है उस समय उसपर बहुत भारी मार पड़ती है। सरकार से बंदीघर (जेल) में देकर दण्ड दिया जाता है। राजकर्मचारी (पुलिस) सदा उसकी निगरानी किया करते हैं।

चोर का इतना अपयश (बदनामी) होता है कि कोई भी व्यक्ति उसके साथ किसी तरह व्यवहार करना नहीं चाहता सब उससे दूर रहते हैं। इसी कारण लोक में किंवदन्ती प्रचलित है कि 'चोरी और जारी (व्यभिचार) मनुष्य को बर्बाद कर डालती है।'

तथा च—चोरी से आया हुआ धन ठहरने भी नहीं पाता, जैसे आता है वैसे ही इधर उधर नौ दो ग्यारह हो जाता है। आज तक कोई भी धनिक बनते नहीं सुना गया। निम्नलिखित दृष्टांत इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है—

एक नया चोर कहीं से एक घोड़ी चुराकर लाया। घोड़ी को लेकर वह बाजार में उसे बेचने गया। बाज़ार में पहुंचकर जहाँ पर घोड़े बेचे जाते थे वहाँ घोड़ी के साथ खड़ा हो गया।

घोड़ी को सुन्दर देखकर ग्राहक उसके पास आने लगे। एक ग्राहक ने घोड़ी का मूल्य १००) रु० लगाया। चोर बोला कि क्या चोरी का माल है? जो इतने थोड़े मूल्य में बेच दूँ।

दूसरे ग्राहक ने डेढ सौ रुपया घोड़ी का मोल लगाया। चोर ने कहा यह कोई चांरी की नहीं है जो इतने में मिल जायगी। तब तीसरे ग्राहक ने घोड़ी २००) रु० में लेनी चाही और चौथा ग्राहक ढाई सौ रुपये देने लगा। परन्तु चोर ने उसको भी वही उत्तर दिया कि यह माल चोरी का नहीं है, जो इतने में मिल जायगी।

अन्तिम ग्राहक एक अच्छा घोडी का शौकीन आया उसने घोड़ी का मूल्य ३००) रु० कह दिया। चोर स्वयं न जानता था कि घोड़ी इतनी रकम से अधिक की नहीं है, उसने कभी घोडों की खरीद बिक्री नहीं की थी वह तो यों ही मूल्य बढ़ाने के लिये कह देता था। तदनुसार पहले ग्राहकों के समान उसने इस ग्राहक को भी वही बना बनाया उत्तर दिया कि घोड़ी चोरी की नहीं है जो ३००) तीन सौ रुपये में दे दूँ।

एक पुराना चोर यह सब कुछ देख रहा था, वह ताड़ गया कि यह घोड़ी अवश्य चोरी की है, अतः ठीक मूल्य इसको भी मालूम नहीं है, घोड़ी इतने मूल्य से अधिक की नहीं है। तब उसने उस घोड़ी वाले चोर के समीप आकर कहा कि भाई! घोड़ी चाल में कैसी है? घोडी वाला चोर बोला कि भाई! सवारी करके देख लो। तो पक्के पुराने चोर के हाथ में हुका बनाने के लिये एक आना में खरीदा हुआ नारियल का खोल था वह तो उसने घोडी चोर को पकड़ा दिया और घोड़ी की चाल देखने के बहाने स्वयं घोड़ी पर सवार होकर घोड़ी को भगा ले गया।

जब वह न लौटा तब उसके पास ठहरे हुए मनुष्यों ने घोड़ी-चोर से पूछा कि घोड़ो तूने कितने में बेची है? चोर ने उत्तर दिया कि "जितने में खरीदी थी।"

लोगों ने पूछा, लाभ (मुनाफा) क्या हुआ? चोर ने नारियल का खोल दिखाकर कहा कि 'यह'

प्रवचन नं० १६

स्थानः—
दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथिः—
आषाढ़ कृष्णा ७ रविवार, १२ जून १९५५

श्रद्धा के दो रूप

संसार में जीव अनेक प्रकार की आकुलताओं व्याकुलताओं से दुखी है, अनेक तरह की चिन्ताओं से सदा चिन्तित रहता है, अनेक प्रकार के भय इसको भीरु बनाये रहते हैं, भूख प्यास की बाधा इसको सताती रहती है और जन्म मरण की व्याधि इसका कभी पीछा नहीं छोड़ती। जैसे जन्म से अंधे मनुष्य को किसी ऊबड खाबड़ भूमि में चलना पड़े तो उसे पग पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं उसी तरह इस आत्म-ज्ञान से शून्य ससारी जीव को मोह के गहन अन्धकार में नरक पशु आदि विविध योनियों में भटकना पड़ता है। जिस तरह कोल्हू को चलाने वाला बैल दिन भर में २० मील चल लेता है किन्तु रहता वहीं का वहीं है, वहाँ से १० गज भी आगे नहीं बढ़ पाता,

उसी तरह ससारी जीव असख्य योजनों की यात्रा कर चुका है परन्तु संसार के चक्र से छूट नहीं पाया, वहीं का वहीं खड़ा है।

जैसे कोई अन्धा मनुष्य मीलों लम्बे चौड़े एक परकोटे में भटक रहा है जिस में कि केवल एक ही द्वार बाहर निकलने का बना हुआ है, वह बेचारा अन्धा दीवाल के सहारे हाथों से टटोलता हुआ उस परकोटे का चक्कर लगाता है, चक्कर लगाते लगाते जब वह द्वार आता है तब दुर्भाग्य से उसको कभी खुजली हो उठती है जिसको खुजाने के लिये चलता हुआ ज्यों ही हाथ उठाता है कि वह द्वार निकल जाता है, फिर सारा चक्कर लगाना पड़ता है, कभी उसी द्वार के आने पर छाती में पीड़ा होने लगती है तब टटोलने वाला हाथ छाती पर जा लगता है समीप आया हुआ द्वार छूट जाता है, फिर उसे सारा चक्कर लगाना पड़ता है। जब घूमते २ सौभाग्य से द्वार पुन पास में आता है तब दुर्भाग्य से उसकी धोती खुलने लगती है चलते २ ज्यों ही टटोलने वाले हाथ से धोती को सम्भालता है कि द्वार फिर निकल जाता है, इस तरह जन्म भर चक्कर लगाते २ बेचारा उस परकोटे से बाहर नहीं हो पाता। इसी तरह ससारी जीव को संसार के बन्दीगृह (जेल) में चक्कर लगाते २ एक मनुष्यभव ऐसा मिलता है जिसके द्वार से यह ससार के बन्दीघर से बाहर निकल सकता है किन्तु उस समय घर परिवार, मित्र, परिकर, धन संचय के मोह मे आकर अपना समय बिता देता है, मनुष्यभव गया कि संसार जेल से निकलने का द्वार भी इस जीव के हाथ से निकल गया। जब कभी सौभाग्य से मनुष्य का शरीर मिला तब फिर पुत्र मोह, शत्रु द्वेष, कन्या के जीवन की चिन्ता, दरिद्रता से युद्ध आदि में फँसकर उस सुवर्ण अवसर से लाभ नहीं ले पाता।

इस सासारिक भ्रमण का मूल कारण 'मोह' है। मोह में मोहित होकर इस जीव का विवेक अकर्मण्य हो जाता है, विवेक जब कुछ कार्य नहीं करता है तब अविवेक से यह जीव अपने आपको नहीं पहचान पाता, जड़ शरीर को ही आत्मा समझ बैठता है। कोई भी कार्य, वह चाहे लौकिक हो, अलौकिक हो—श्रद्धा ज्ञान आचरण के बल पर सिद्ध होता है। किसी रोगी को यदि रोग से छुटकारा पाना है तो उसे वैद्य तथा औषधि पर दृढ श्रद्धा होनी चाहिये कि 'इसके द्वारा मैं नीरोग हो जाऊँगा, उसे औषधि सेवन का ज्ञान होना चाहिये कि अमुक औषधि पीने के लिये है और अमुक औषधि मालिश के लिये है, इसी के साथ औषधि भी सेवन करना आवश्यक है, इन तीनों प्रक्रियाओं से रोगी रोग-मुक्त हो जाता है।

संसार-भ्रमण या जन्म मृत्यु के रोग से मुक्ति पाने के लिये भी जीव को इसी प्रक्रिया को ठीक तरह से अपनाना पड़ता है। ज्ञान और आचरण पर लगाम लगाने वाली श्रद्धा है, श्रद्धा के अनुसार ही ज्ञान, आचरण स्वय चल पड़ते है। किसी मनुष्य के हृदय में यह श्रद्धा (विश्वास) घर कर जावे कि दूध मुझे हानि करता है तो दूध के विषय में उसको विरोधी विचारधारा चल पड़ेगी, वह प्रत्येक तरह से दूध को दुखदायक विचारने लगेगा और लाखों यत्न करने पर भी वह दूध को पीना स्वीकार न करेगा।

इसी तरह ससारी जीव की श्रद्धा अपने शरीर पर जमा हुई है, उसे विश्वास है कि देह अपनी ही एक चीज़ है, पराई नहीं है। सुख, दुख, हर्ष, शोक, लाभ, हानि मुझे शरीर से ही प्राप्त होती है, एक क्षण भी शरीर बिना मैं कुछ नहीं कर सकता, अत शरीर रूप ही मै हूँ। ऐसी दृढ श्रद्धा

ससारी जीव की अपने शरीर के साथ है। इसी श्रद्धा के अनुसार उसका ज्ञान उन व्यक्तियों को अपना मित्र मानकर समझता है जो इसके शरीर को कुछ लाभ पहुँचाते हैं, और जिन प्राणियों से इसके शरीर को रचमात्र भी क्षति पहुँचती है उनको अपना शत्रु समझ लेता है। जिन वस्तुओं से शरीर को कुछ लाभ अनुभव होता है उनको प्रिय, और जिन चीजों से इसे अपने शरीर की हानि जान पड़ती है उन्हे अप्रिय समझ लेता है। अपनी उसी श्रद्धा के अनुसार समझे हुए मित्रों से प्रेम करता है और शत्रु माने हुए लोगों से वैर बाधकर उनसे लडता झगड़ता है। प्रिय वस्तुओं का संग्रह करता है, अप्रिय वस्तुओं को दूर हटा देता है, तोड़ फोड़ डालता है।

इसी प्रेम वैर के आधार पर जीव संसार के सभी कार्य किया करता है। इस कारण संसार का मूल शरीर में आत्मा की श्रद्धा ही है। यह श्रद्धा सत्य श्रद्धा नहीं है क्योंकि शरीर तो एक तरह संसारी जीव का कुछ देर तक किराये पर लिया हुआ एक घर है। नियत समय के बाद यह किराये का मकान जीव को नियम से खाली करना पड़ता है। इस दशा में यह शरीर जीव का अपना पदार्थ किस तरह बन सकता है अत: शरीर में आत्मा की श्रद्धा को 'श्रद्धा' न कहकर कुश्रद्धा या मिथ्या श्रद्धान कहना चाहिये। इस मे यह बात सिद्ध होती है कि संसारी जीव को संसार की जेल में रखने वाला कोई और नहीं है, इमी के हृदय में जमी हुई मिथ्या श्रद्धा ही इसको संसार जेल से बाहर नहीं जाने देती।

अपनी उस कुश्रद्धा के आधार पर ही जीव शरीर के साझे में संसार का व्यापार कर रहा है आत्मा शरीर को अपनी इच्छा अनुसार चलाता है, आवश्यकतानुसार आत्मा जब शरीर को दौड़ने, भार उठाने, सर्दी गर्मी वर्षा में कार्य करने, कठिन परिश्रम करने आदि का संकेत (इशारे) करता है, शरीर वैसा ही करता है, और शरीर आत्मा से अपने लिये जैसे वस्त्र, आभूषण, तेल, उबटन, भोजन तथा अन्य पोषण, विश्राम के पदार्थ मांगता है आत्मा वे पदार्थ शरीर को प्रदान करता है। इस तरह शरीर तथा आत्मा का साझा ससार में अनादि काल से चला आ रहा है। इसी साझे के कारण आत्मा शरीर को अपना ही समझ बैठा है, इतना ही नहीं बल्कि शरीर के मोह में मूर्छित होकर स्वयं अपनी सुध बुध भुला बैठा है। शरीर के कारण ही माता, पिता, पुत्र, स्त्री, भ्राता आदि विविध व्यक्तियों के साथ विविध सम्बन्ध स्थापित कर लेना है।

इमी मोह भाव के कारण आत्मा अपने बन्धन के लिये कर्म-बन्ध स्वयं तैयार करता है, कर्म का बन्धन होता तो पौद्गलिक है किन्तु आत्मा के मोहमय भावों के प्रभाव से वे जड़ कर्म भी मोह-उत्पादक प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं, जिससे समय आने पर उदय के समय मोह कर्म आत्मा पर मोह का प्रभाव डालता है। जैसे कोई शराबी स्वयं नशीली शराब तैयार करता है और जब वह उस शराब को पीता है तब वह शराब उस मनुष्य को अपने प्रभाव से मूर्छित कर देती है। इसी तरह ससारी जीव शारीरिक मोह के कारण अपने भावों से कर्म बन्धन करता है और वह कर्म बन्ध इस जीव को अपने प्रभाव से विकृत कर देता है। इस तरह भाव कर्म से द्रव्य कर्म और द्रव्य कर्म से भाव कर्म बनता रहता है, कर्म बन्धन की परम्परा चलती रहती है।

कर्म बन्धन का मूल कारण वह एक मिथ्या श्रद्धा ही है जिसके कारण जीव अपने अनुभव से दूर रहा आता है, शरीर में अपनापन प्रगट किया करता है। किन्तु शरीर निजी वस्तु नहीं, न सदा

आत्मा के साथ वह रहता है, कभी उत्पन्न होता है, कभी नष्ट होता है, कभी बढ़ता है, कभी घटता है, अतः आत्मा शरीर में अपनापन मानकर कभी सन्तुष्ट, शान्त, सदा सुखी नहीं बन पाता, सदा व्याकुल बना रहता है।

यदि कभी आत्मा को सौभाग्य से किसी सद्‌गुरु का समागम हो जाता है, तो वे दयालु होकर इस मोही ससारी जीव को अपने परम हित उपदेश से सावधान करते है कि "जिस सुख शान्ति के लिये तू बाहर भटक रहा है उस सुख शान्ति का अथाह सागर तो तेरे भीतर (शरीर में नहीं, आत्मा में) हिलोरें ले रहा है। कस्तूरा हिरण की नाभि में कस्तूरी होती है उसकी मोहक सुगन्धि में वह हिरण मस्त हो जाता है किन्तु भ्रम से वह उस सुगन्धित को अपने भीतर की न समझकर बाहर की अन्य वस्तुओं की समझता है, अतः इधर उधर दौडता फिरता दूसरी २ चीजों को सूंघता २ थक जाता है किन्तु उसकी इच्छा तृप्ति नहीं हो पाती। वैसे ही दशा तेरी है। अतः बाहर की ओर से अपनी विचारधारा हटाकर अपने अंतरंग की ओर उन्मुख हो, अन्तर्मुख होने पर ही तुझे शान्ति प्राप्त होगी, तेरी आकुलता दूर होगी और तेरी परतन्त्रता के बन्धन ढीले होंगे। तेरे भीतर अपार अक्षय निधि भरी हुई है तू अपने आपको दीन-हीन क्यों समझ रहा है, एक बार अपनी ओर देख तो सही।"

दीनबन्धु पतित पावन एवं तरनतारन अपने सद्‌गुरु की हितवाणी को सुन कर जब इस जीव की मिथ्या श्रद्धा में परिवर्तन आता है, जब इसके हृदय में आत्म-श्रद्धा जागृत होती है, तब मिथ्या श्रद्धा का जनक (उत्पादक) मोहनीय कर्म स्वयं इस प्रकार दूर हो जाता है जिस तरह विस्तृत खुले मैदान में सूर्य उदय होने पर रात का अन्धेरा लापता हो जाता है, ढुंढने पर भी वहाँ कहीं नहीं दीख पाता। मिथ्या श्रद्धा का गहन अन्धकार हटते ही इस जीव के भीतर आत्म ज्योति जगमगा जाती है जिससे आत्मा को अपनी अनुभूति (अनुभव feeling) होने लगती है। उस स्व-आत्म-अनुभूति से इस जीव को जो महान् अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, वह ससार के किसी भी इष्ट भोग उपभोग पदार्थ के अनुभव से नहीं मिलता, वह निज-आत्मा का आनन्द न तो कहा जा सकता है, न किसी उपमा से प्रगट किया जा सकता है। जैसे गूंगा मनुष्य किसी विषय के सुख को स्वयं अनुभव तो करता है परन्तु किसी अन्य व्यक्ति को बतला नहीं सकता. ठीक ऐसी ही बात आत्म-अनुभवी की हो जाती है। उस आत्म-अनुभव को जैन दर्शन में 'सम्यग्दर्शन' कहा है।

सम्यग्दर्शन होते ही जीव की विचारधारा तथा कार्यप्रणाली में महान् परिवर्तन आ जाता है। उसे फिर अपने आत्मा के सिवाय अन्य किसी पदार्थ में रुचि नहीं रहती। वह बाहरी पदार्थों को छूता हुआ भी उनमें रत (लीन) नहीं होता—अछूता सा रह जाता है। स्वादिष्ट पदार्थों को जीभ पर रखता हुआ, दांतों से उसे चबाता हुआ भी उसके स्वाद से अज्ञात बना रहता है, जैसे गोम्मटसार की टीका करते समय पं० टोडरमल जी को दाल शाक में पड़ा हुआ कम अधिक नमक मालूम नहीं होता था।

आत्म-अनुभव को सुगन्धित पदार्थों की सुगन्धि अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाती, उसके नेत्र सुन्दर रगीले पदार्थों को देखकर भी अदेखे-से बने रहते हैं, वह सुन्दर पदार्थों को देखकर उनमें तन्मय या मुग्ध नहीं हुआ करता। उसके कान सब कुछ सुनकर भी अनसुने से रहते हैं, गीत वाद्य में उसे आनन्द अनुभव नहीं होता।

उस समय वह यदि कुछ छूना चाहता है तो संसार-विरक्त वीतराग गुरुओं के चरण छूना चाहता है, यदि जीभ से कुछ करना चाहता है तो वीतराग कथा या आत्मगुण-कथन करना चाहता है, नेत्रों से सदा वीतराग भगवान् तथा गुरु का दर्शन करना चाहता है, शास्त्र पढ़ना चाहता है तथा कानों से जिन-वाणी, गुरु का उपदेश सुनना चाहता है। उसकी मानसिक-वृत्ति संसार से विरक्त और आत्मा की ओर संलग्न हो जाती है।

अतः वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी, गृहस्थाश्रम के सब कार्य करता हुआ भी उनसे अलिप्त-अछूता रहता है अतः पापपङ्क से मलिन नहीं होता, जिस तरह कीचड़ में भी पड़ा हुआ सोना मैला नहीं होने पाता या जल में रहता हुआ भी कमल जल से अछूता रहा आता है। भरत चक्रवर्ती इस आत्मअनुभव के कारण षट्खण्ड का अधिनायक और ९६००० स्त्रियों का पति होकर भी, समस्त भोग उपभोगों का भोग उपभोग करता हुआ भी विरक्त रहता था इसी का परिणाम यह हुआ कि दीक्षा लेकर आत्मध्यान में बैठते ही उसका मोहकर्म तथा अन्य घाति-कर्म क्षय होकर केवलज्ञान हो गया।

सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान और आचरण ठीक धारा में बह उठते हैं तब उनका नाम सम्यक्ज्ञान सच्चारित्र (स्वरूपाचरण आदि) हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अवश्य स्वल्पकाल में ससार से मुक्त हो जाता है। यदि कुछ समय संसार में रहता है, तो अच्छे पद पर प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करता है। दुर्गति, नीच-कुल, दरिद्रघर, हीनांग, अधिकांग, विकल शरीर नहीं पाता, स्त्री नपुंसक शरीर उसे नहीं मिलता, सम्यग्दर्शन से पहले नरकायु बन्ध कर लेने वाला प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता। स्थावर, विकलत्रय तथा निम्न श्रेणी का देव नहीं होता।

प्रवचन नं० १७

स्थानः—
दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथिः—
आषाढ कृष्णा ८ सोमवार ता० १३ जून १९५५

सम्यग्दर्शन

संसार के बन्दीघर में जीव को अनादि समय से रोकने वाला तथा समस्त विपत्तियों का मूल कारण आत्मा की अश्रद्धा—आत्म-अनुभव का न होना है, जिसको कि 'मिथ्यात्व' कहते हैं, इस विषय में कल कुछ प्रकाश डाला था, आज आत्म-अनुभव रूप 'सम्यक्त्व' की, जिसका कि कल कुछ संकेत भी कर दिया था, कुछ थोड़ी सी रूपरेखा रखता हूं।

जिस प्रकार समस्त विपत्तियों का मूल कारण जीव के लिये मिथ्यात्व है क्योंकि जो स्वयं अपने आत्मा से अनभिज्ञ रहेगा वह आत्म-सुख से वंचित रहेगा ही, आत्मसुख से वंचित रहना ही अनेक तरह की विपत्तियों में उलझना है। तथा स्वाधीन आत्म-सुख का अनुभव करना सम्यक्त्व समस्त सुख का मूल है। इसी बात को अनुपम विद्वान् महर्षि श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड ग्रन्थ के निम्नलिखित पद्य में प्रगट किया है—

न सम्यक्त्वसमं लोके त्रैकाल्यं त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥

यानी—त्रिकाल और लोकत्रय में सम्यक्त्व के समान संसारी जीव की कल्याणकारी और कोई वस्तु नहीं और मिथ्यात्व के समान दुखदायक और कोई चीज नहीं है।

यद्यपि उस आत्म-कल्याण के मूल बीज रूप सम्यक्त्व का स्वरूप वाणी द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता, इसको तो जो व्यक्ति पा लेता है वही इसका मूक रूप से अनुभव करता है, यह आत्मा का अनिर्वचनीय गुण है, इसी कारण कहा गया है कि—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं ह्यस्ति वाचामगोचरम्।

यानी—सम्यक्त्व वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म गुण है अत वह वचन अगोचर है, वाणी द्वारा उसे नहीं कहा जा सकता।

परन्तु फिर भी इसका स्वरूप समझाने के लिये जिनवाणी के अनुसार कुछ ऐसे संकेत पूर्व ऋषियों ने अपने ग्रन्थों में बतलाये हैं जिनके द्वारा हम सम्यक्त्व की रूपरेखा समझ सकते हैं।

भगवान् समन्तभद्राचार्य ने इस विषय में रत्नकरण्ड में उल्लेख किया है—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

यानी--संसार में परम पदार्थ तीन है। आप्त (वीतराग देव), आगम (आप्त-वाणी) और निर्ग्रन्थ तपस्वी। इन देव, देववाणी और गुरु का निर्दोष (तीन प्रकार मूढताओं से शून्य तथा आठ अंगों से सहित) श्रद्धान करना 'सम्यग्दर्शन' है। अर्थात्—देव-शास्त्र-गुरु की अचल श्रद्धा जिस संसारी जीव को हो जाती है उसके सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। इस अटल श्रद्धान के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, सो ठीक ही है। सम्यग्दृष्टि जीव यदि किसी देव की उपासना करेगा तो वह आत्म-मल-शून्य आप्त ही हो सकता है, यदि वह किसी शास्त्र का अभ्यास करेगा तो वह आप्तवाणी से अंकित ग्रन्थ ही हो सकता है और यदि वह अपना उपास्य गुरु बना सकता है तो वह संसार से विरक्त निर्ग्रन्थ तपस्वी ही हो सकता है।

सत्देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा सम्यग्दृष्टि जीव को ही हुआ करती है क्योंकि शुद्ध आत्म-अनुभव होने के कारण वह उन्हीं देवशास्त्र गुरु का भक्त हो सकता है जिनके द्वारा आत्म-शुद्धि के लिये प्रेरणा मिले, जिसकी पूजा आराधना से राग द्वेष भावों में उत्तेजना प्राप्त होती है, वे देव, शास्त्र और गुरु सम्यग्दृष्टि के लिये आराध्य एवं उपास्य नहीं हो सकते।

राग-द्वेष जन्म-मरण, भूख-प्यास, भय, शोक, चिन्ता आदि १८ दोषों से मुक्त, त्रिकाल त्रिलोक प्रकाशक केवल ज्ञान-संयुक्त, हितोपदेशक अर्हन्त परमात्मा सतदेव है। स्वयं निर्दोष होने से वह अर्हन्तदेव ही आत्मशुद्धि के लिये आदर्श हो सकता है।

अर्हन्तदेव की पवित्र वाणी जिन ग्रन्थों में उनके भक्त ऋषियों द्वारा गुरु परम्परा से प्राप्त ज्ञान के बल पर लिखी गई हो वे ही शास्त्र विश्वहित के प्रतिपादक और यथार्थ सिद्धान्त का निदर्शन करने वाले होते हैं क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ अर्हन्त की वाणी में अज्ञानकृत तथा कषायकृत मिथ्या भाषण की त्रुटि नहीं रहती।

सांसारिक विषय भोगों से विरत, आत्मरत, आरम्भ परिग्रह का परित्यागी ऋषि ही सद्गुरु होता है क्योंकि जो स्वयं सांसारिक विषय वासनाओं से दूर होगा उसकी ही आराधना संसार-बधन काटने में उपयोगी हो सकती है।

इस तरह सत् देव गुरु शास्त्र की अचल श्रद्धा ही आत्म-अनुभव का कारण हो सकती है, अतः सत्य देव गुरु शास्त्र का श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। तदनुसार सम्यक् श्रद्धालु किसी भय, लोभ तथा आशा के वश होकर सत् देव शास्त्र गुरु के सिवाय अन्य देव शात्र गुरु की स्वप्न में भी उपासना नहीं करता।

रेवती रानी के अटल सम्यक्त्व की परीक्षा लेने के लिये नगर के विभिन्न द्वारों से क्रमशः एक देव ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा तीर्थंकर का ठीक वैसा रूप बनाकर आया जिससे कि जनता भ्रम में पड़कर उसे सचमुच ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा तीर्थंकर समझ बैठी। जब रेवती रानी को उसके दर्शन करने को कहा गया, अनुरोध और प्रेरणा की गई तब रेवती ने जिनवाणी पर अचल श्रद्धा प्रगट करते हुए उन देव के रूपों को मायावी रूप बतलाया और वह उनके दर्शन करने तक न गई।

यानी—सम्यग्दृष्टि सांसारिक कार्यों से अनभिज्ञ रहता है, वह व्यवहारिक कार्यों में निपुण नहीं होता क्योंकि मायाचार तथा लोभ की मात्रा उसकी मन्द हो जाती है, परन्तु वह आत्म-शुद्धि-सम्बन्धी बातों में पूरा निपुण होता है। धर्म अधर्म, सुदेव कुदेव, सुगुरु कुगुरु आदि विषयों में वह किसी के भी द्वारा ठगाई नहीं खाता, आध्यात्मिक कार्य भी खूब परीक्षा करके किया करता है। इसी कारण रेवती रानी देव के बनावटी रूपों की महिमा सुनकर भ्रम में न पड़ी, वीतराग देव की तथा जिनवाणी के श्रद्धान से रंचमात्र भी उसे कोई विचलित न कर सका।

सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वाति आचार्य ने यों किया है—

'तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' ।२। अ० १। यानी—अपने अपनेस्वरूप सहित सातों तत्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसका अभिप्राय भी वही है क्योंकि आत्म-शुद्धि के लिये जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष तत्वों की यथार्थ श्रद्धा आवश्यक है, जो व्यक्ति जीव की कर्म-बन्धन और कर्म-मोचन प्रक्रिया का ठीक श्रद्धालु बन जाता है आत्मशुद्धि का प्रारम्भ उसी के होता है। जीव की अशुद्धता, अशुद्धि के कारण, उसकी शुद्धि के कारण और शुद्ध दशा को समझे बिना वह अपना शुद्धरूप प्राप्त होने का उद्देश्य तथा अशुद्धि के कारण (कर्म आस्रव, कर्मबन्ध) से छूटने, शुद्धि के कारणों (संवर निर्जरा) को अपनाने का उद्यम कैसे करेगा? अत जिस तरह सम्यक्त्व के उत्पन्न होने के लिये वीतराग देव, वीतराग देव की वाणी (शास्त्र) तथा निर्ग्रन्थ गुरु की अचल श्रद्धा आवश्यक है, उसी तरह जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष इन सातों तत्वों की श्रद्धा भी अनिवार्य है। कोई व्यक्ति तत्वों का नाम या

विशद् विवेचन न जानता हो केवल जीव का शुद्ध स्वरूप समझकर आत्मा और शरीर का भेदभाव जिस की श्रद्धा में आ गया हो उसे भी आत्मा की अनुभूति (सम्यग्दर्शन) हो जाती है।

मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हो पाता जिस समय उसके प्रबल अंश उपशम हो जाते हैं तब सम्यग्दर्शन (आत्मा का अनुभव) होता है।

मोहनीय कर्म के दो रूप हैं—१. सम्यग्दर्शन घातक दर्शन मोहनीय, २. सच्चारित्र घातक चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय का प्रबलतम घातक अंश 'मिथ्यात्व' कहलाता है। अनादि कालीन मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शन मोहनीय कर्म केवल मिथ्यात्व रूप ही होता है, चारित्र मोहनीय कर्म का प्रबलतम अंश अनन्तानुबन्धी (अनन्त समय तक संस्कार रखने वाले) क्रोध, मान (अभिमान), माया (कपटाचार) और लोभ होता है। जिस समय पहले पहल मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम (सत्ता में अवस्थान-उदय में न आना) हो जाता है उस समय अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट से कुछ कम) समय तक संसारी जीव को सम्यक्त्व और स्वरूप के आचार रूप जघन्य श्रेणी का सच्चरित्र होता है। सम्यक्त्व यानी आत्मा की अनुभूति होने से उस जीव को उतने समय तक बड़ा भारी आनन्द और शान्ति प्राप्त होती है।

यह मिथ्या श्रद्धा रूप अशुद्धि आत्मा से दूर होने की भूमिका है। इस भूमिका से जीव की मुक्त होने की योग्यता प्रमाणित हो जाती है और कभी न कभी (अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन समय तक) संसार से मुक्ति पा जाने का निश्चय हो जाता है। इस अवसर पर सत्ता मे विद्यमान मिथ्यात्व कर्म के तीन खंड स्वयमेव हो जाते हैं—१. मिथ्यात्व (पूर्ववत्), २ सम्यक् मिथ्यात्व (सम्यक्त्व मिथ्यात्व का मिश्रित एक निराला रूप), सम्यक् प्रकृति (सम्यक्त्व का घात तो न करने वाला किन्तु सम्यक्त्व में चल मल अगाढता दोष उत्पन्न करने वाला) दुबारा यदि उपशम रूप सम्यग्दर्शन हो तो अनन्तानुबन्धी क्रोध मान, माया, लोभ के साथ दर्शन मोहनीय के इन तीनों भेदों का उपशम होता है।

यदि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का मिथ्यात्व तथा सम्यक् मिथ्यात्व का उदयाभावी क्षय (उदय आते हुए भी फल न देना), सत्ता में विद्यमान इन पांचों कर्मांशों का उपशम और सम्यक् प्रकृति का उदय होने से आत्मा की अनुभूति हो तो उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व सम्यक् प्रकृति के उदय के कारण कुछ मलिन होता है, पूर्ण तौर से निर्मल नहीं होता।

यदि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन सातों मोहनीय कर्मांशों का समूल क्षय हो जावे तो अनन्त काल तक यानी सदा रहने वाला, पूर्ण निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट होता है।

इस तरह शुद्ध आत्मा की अनुभूति रूप सम्यग्दर्शन प्रादुर्भाव होने की विभिन्न प्रक्रियाओं के कारण सामान्य रूप से तीन प्रकार का है। इनमें से उपशम तथा क्षायिक सम्यक्त्व तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवों के एक समान होता है जीवों के भेद से उन सम्यक्त्वों में कुछ भेद नहीं होता। परन्तु क्षयोपशम सम्यक्त्व में अनेक भेद होते हैं।

सम्यग्दर्शन होने से पहले ज्ञान की धारा सांसारिक पदार्थों को ही जानने रूप बहा करता है, अन्तरंग आत्मा की ओर उसका उपयोग होता ही नहीं, अत ज्ञान आत्म-कल्याण की दृष्टि से

कुज्ञान (खोटा ज्ञान) है, आत्मा के अहित करने मे साधन रूप है । इसी कारण आत्म-अनुभव शून्य व्यक्ति चाहे जितना बड़ा विद्वान् क्यों न हो, वह अपने लिये वास्तव में अविद्वान् ही है, अपने उद्धार के लिये उसका विशाल ज्ञान भी व्यर्थ है ।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर ज्ञान का उपयोग आत्मा की ओर उन्मुख हो जाता है, अतः उससे आत्मा-शुद्धि का कार्यक्रम चल पड़ता है, उस समय ज्ञान की मात्रा थोड़ी भी हो तो भी आत्मा के लिये बहुत उपयोगी होती है अतः सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान कुज्ञान न रहकर सुज्ञान का सम्यग्ज्ञान स्वयं हो जाता है ।

उसी समय आत्मा की परिणति सांसारिक क्रियाओं से विरति रूप हो जाती है, जिन कार्यों से कर्म आस्रव, कर्मबन्ध हुआ करता है, उन कार्यों का क्रम रुकने लगता है । जिन क्रियाओं से कर्म आस्रव बन्ध न होकर कर्मों का संवर (कर्म आगमन की रोक) और निर्जरा (कर्मों का गलना) होता है उन व्रत, तप, संयम रूप क्रियाओं की धारा चल पडती है, अतः उसे कुचारित्र न कहकर शास्त्रीय भाषा में सत् चारित्र या सम्यक्चारित्र कहते हैं ।

यानी—सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र आत्महित के पक्ष में अकार्यकारी हैं, आत्मा के लिये उनकी उपयोगिता सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त प्रारम्भ होती है । अतएव मुक्ति तक पहुंचने के लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन सीढ़ियाँ हैं तो उनमें आद्य सीढ़ी सम्यग्दर्शन है । इसी कारण कहा है—

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम् ।
ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मूलधर्मतरोरिव ॥

यानी—इस जगत् में सम्यक्त्व प्राप्त होना बहुत कठिन है, सम्यक्त्व ही मोक्ष का मूल साधन है । सम्यक्त्व ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल कारण है जैसे कि वह धर्म वृक्ष का मूल (जड़) रूप है ।

सम्यग्दर्शन की प्रशसा में ग्रन्थकार ने लिखा है—

तदेवेष्टार्थ संसिद्धिस्तदेवास्ति मनोरथः ।
अक्षातीतं सुखं तत्स्यात्तत्कल्याणपरम्परः ॥

यानी—अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि सम्यक्त्व ही है, वही परम मनोरथ है । सम्यग्दर्शन ही अतीन्द्रिय सुखस्वरूप है, सम्यग्दर्शन ही अनेक कल्याणों की परम्परा रूप है ।

अतः मनुष्यभव तथा धार्मिक कुल पाकर सम्यग्दर्शन अवश्य प्राप्त करना चाहिये ।

प्रवचन नं० १८

स्थानः— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथिः— आषाढ कृष्णा १० बुधवार, १५ जून १९५५

सुख क्या है ?

संसार के अनन्तानन्त प्राणियों में चाहे अन्य विषयों पर भले ही मतभेद हो किन्तु एक विषय पर तो सभी पूर्ण सहमत हैं, कोई भी असहमत नहीं, वह विषय है 'सुख की अभिलाषा'। कोई भी प्राणी वह चाहे छोटा सा कीडा हो अथवा बडा हाथी, मनुष्य हो, पक्षी हो, देव हो या दानव, सभी सुख पाने के लिये लालायित हैं। न तो कोई जीव कभी दुःख चाहता है और न कभी दुःखी होने का वह यत्न ही करता है।

जिन जीवों को हम दुःख की ओर अग्रसर होते देखते हैं जैसे कि कोई आत्महत्या कर लेता है, कोई अपने आपको घायल कर लेता है, कोई अपना अंग भग कर लेता है, कोई जान बूझकर कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलता है तो कोई जान बूझकर विपत्तियों पर जूझ पडता है; यदि सूक्ष्म विचार से इन दुःखोत्पादक कार्यों की मूल भूमिका का विचार किया जावे तो वहाँ भी सुख पाने की इच्छा ही दृष्टिगोचर होगी। जो मनुष्य आत्महत्या करता है वह किसी अपमान, अपयश या दीर्घकालीन असह्यवेदना के महान् सन्तापजनक दुःख से मुक्त होने के विचार से ही जान बूझकर मृत्यु का आलिंगन करता है। यदि कोई अपने शरीर को क्षत विक्षत करता है तो उसकी भूमिका में भी किसी कारण उत्पन्न हुई उत्तेजना, क्रोध, अहकार की असीम उग्रता को शान्त करने की भावना निहित है। जो व्यक्ति कंटीले मार्ग को अपनाता है वह भी उसके द्वारा यश प्रसिद्धि या कोई अन्य सिद्धि प्राप्त करके सुखी बनने के लिये ही वैसा कार्य करता है। और जो व्यक्ति विपत्तियों को ललकार कर जूझता है वह तो अपने महान पराक्रम का परिचय संसार को देकर जगत का स्मरणीय या आदरणीय बनकर सन्तुष्ट होना चाहता है।

सारांश यह है कि किसी मार्ग पर चलने का प्रत्येक प्राणी का उद्देश्य सुख का प्राप्त करना ही है। मार्ग भिन्न भिन्न अवश्य है किन्तु पहुचने का उद्दिष्ट स्टेशन एक ही है।

हा इतना अवश्य है कि सुख की परिभाषा भिन्न भिन्न परस्पर विरुद्ध इच्छाओं के अनुसार भिन्न भिन्न हो जाती है। जयपुर के वीर राजा मानसिंह ने अपनी बहिन यवन राजकुमार सलीम (जहागीर) को व्याह कर दासतापूर्ण शाही सम्मान पाने में सुख समझा था, तो महाराणा प्रतापसिंह ने जगलों की खाक छानते हुए, घास की रोटियाँ खाकर, जमीन पर सोकर, २५ वर्ष तक खानाबदोश (अपने स्थायी घर से रहित) रहने मे तो सुख अनुभव किया किन्तु अकबर बादशाह की आधीनता स्वीकार करके राजसुख भोगने में सुख नहीं माना।

जिस तरह सुख की मान्यता मे या सुख की परिभाषा मे विभिन्न दृष्टिकोणों से मतभेद है उसी तरह सुख का मूल स्रोत (उत्पत्ति स्थान) समझने मे भी महान् मतभेद है।

एक मनुष्य का पुत्र विदेश मे ५ वर्ष पढ़ने के बाद घर आया अपने उस पुत्र को छाती से लगा कर उसे जैसा आनन्द आया वैसा आनन्द घर पर रहने वाले पुत्र को छाती से लगाने पर उस मनुष्य को नहीं मिलता, यदि उसका वह शिक्षित पुत्र हवाई जहाज की दुर्घटना से जीवित बचकर अपने पिता से मिलता है तो उसको छाती से चिपटाते हुए एक विलक्षण सुख अनुभव करता है। अपनी तरुण भार्या के आलिङ्गन से उसे वैषयिक सुख मिलता है, उसकी बहिन पुत्री जब उससे मिलती है तब उस आलिङ्गन में भगिनी स्नेह का आनन्द आता है, उसी व्यक्ति को ५ वर्ष पीछे मिलने पर जब उसकी वृद्ध माता अपनी छाती से चिपटाती है तो शरीर स्पर्श से माता का ममतामयी सुख प्रगट होता है, मित्र के गाढ़ आलिंगन पर अन्य प्रकार प्रेम सुख अनुभव होता है, कदाचित् उसका शत्रु धोखे में आलिंगन कर ले तो क्रोध जाग्रत हो जाता है और रजस्वला स्त्री या किसी कोढ़ी आदि से स्पर्श हो जावे तो चित्त में ग्लानि (घृणा) जाग उठती है।

पान खाने से भारतीय मनुष्य सुख अनुभव करता है, यूरोप का निवासी पान को मुख में रखना भी पसन्द नहीं करता। किसी मनुष्य को मिठाई के खाने में आनन्द आता है, उसी मनुष्य का जब पुत्र या मित्र मर जाता है तब मिठाई खाने से उसे घृणा हो जाती है, यदि वह ज्वर से पीडित हो तो उसे वह मिठाई कडवी लगती है, दूसरा मनुष्य मिठाई को जीभ पर रखना भी नहीं चाहता उसे नमकीन पदार्थों के खाने में सुख मिलता है।

किसी मनुष्य को सिनेमा देखने में आनन्द आता है, किन्तु व्रती त्यागी को सिनेमा देखना अच्छा नहीं लगता। एक तरुण वेश्या का निर्जीव (मृतक) शरीर पड़ा हुआ था उस मृतक शरीर को अनेक मनुष्य देख रहे थे। साधु ने देखकर वैराग्य भावना भाई कि शरीर नश्वर है, यदि यह मनुष्यभव पाकर व्रत तप करती तो इसका यह शरीर लाभदायक होता, उस वेश्या की माता शोक से रोती है कि तेरे मर जाने पर मैं असहाय हो गई, तू जीवित होती तो मेरा पालन-पोषण करती। वेश्यागामी पुरुष पछताता है कि यह जीवित होती तो मैं इसके शरीर के उपभोग से अपनी काम पिपासा तृप्त करता। देखने वालों में एक कुत्ता भी था वह उसके मांसल शरीर को देखकर विचारता है कि यदि ये मनुष्य यहां से चले जावें तो मै इसके मास का स्वाद लूं।

एक गोष्ठी मे बैठी हुई अनेक स्त्रियां एक वैराग्य का गीत गा रही हैं उस गीत को सुन कर किसी को आनन्द आ रहा है, किसी कामिनी को वह अप्रिय लगता है। यदि शृंगार रस का वे गीत गाती हैं तो सधवा स्त्री आनन्द अनुभव करती है, उसी गीत को सुनकर विधवा स्त्री को दुःख होता है। विरक्त स्त्री को उस गीत से घृणा होती है, और छोटी कुमारी लड़की सुनकर उसके भाव का कुछ भी अनुभव नहीं करती अत: उसे दु:ख, सुख, घृणा आदि कुछ नहीं होता।

इस प्रकार सुख की उत्पत्ति एक ही पदार्थ से विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की होती है।

एक व्यापारी का अपनी विदेश की दुकान से एक तार आता है कि तुम को सोने के बेचने में आज पाच लाख रुपये का लाभ (मुनाफा) हुआ है, तार पढ़ते ही उसे अपार हर्ष होता है। उतना हर्ष उस तार को पढ़कर उसके पड़ोसी को नहीं होता, उसका शत्रु जब उस तार को पढ़ता है तो उसे उसी तार से महान् दु:ख होता है, तार लाने वाले चपरासी को न हर्ष होता है, न शोक। उसको तो वह व्यापारी जो चार

पैसे इनाम के दे देता है उसी का सुख अनुभव होता है, यदि वह व्यापारी कंजूसी में आकर वह इनाम न दे तो वह चपरासी उस तार को देखकर कुढ़ता है। अब विचार कीजिये कि वह तार सुखदायक है या दुःखदायक ? यदि वह सुखदायक है तो उस व्यापारी के शत्रु को उस तार के पढ़ने से दुःख क्यों हुआ ? यदि वह तार दुःखदायक है तो उस से व्यापारी को सुख कैसे हुआ ?

थोड़ी ही देर पीछे उस व्यापारी की उसी दुकान से दूसरा तार आता है कि 'आपकी दुकान पर डाका पड़ गया है, डाकू दश लाख रुपया लूट ले गये हैं।' उस तार को पढते ही सारी परिस्थिति उलट जाती है, वह अथाह शोक सागर में डूब जाता है, उसके शत्रु बड़े प्रसन्न होते हैं और वह तार लाने वाला चपरासी भी उदासी के साथ चला जाता है क्योंकि अब की बार उसको कुछ इनाम नहीं मिल पाया।

यहाँ विचार किया जावे कि क्या सुख या दुःख उस व्यापारी की विदेशी दुकान के मुनीम ने उस व्यापारी को तार द्वारा भेजा था ? यदि ऐसा होता तब तो सुख दुःख तार भेजने वाले तार बाबू को, तार लाने वाले चपरासी को भी होता, सो हुआ नहीं। तो क्या तार फार्म पर लिखे हुए अक्षरों में सुख दुःख अंकित था जिनको पढ़ते ही व्यापारी को पहले तार से सुख और दूसरे तार से दुःख हो गया ? ऐसा भी नहीं है क्योंकि उसी तार के अक्षरों को जब कोई अपरिचित या व्यापारी का असम्बन्धी व्यक्ति पढ़ता है तो उसे सुख या दुःख नहीं होता है।

इससे सिद्ध होता है कि सुख दुःख का भंडार स्वयं व्यापारी की आत्मा में हैं। पहले तार को मिलते ही व्यापारी के सुख भण्डार का मुख खुल गया जिससे उसके हृदय में सुख प्रवाहित होने लगा। दूसरे तार के समाचार ने उसके दुःख भण्डार का मुख खोल दिया जिससे उसका हृदय दुःखमय बन गया, उसके शत्रु तथा चपरासी के आत्मा में भी ऐसी ही बात है तदनुसार व्यापारी के लाभ की बात तार में पढ़कर उसके शत्रु के दुःख भण्डार से दुःख बहने लगा और उसकी हानि सूचक तार को पढ़कर उसके सुख का भण्डार खुल गया।

मथुरा के चौबे को लाड्डू खाने में आनन्द आता है तो आनन्द क्या उस लाड्डू में भरा हुआ है ? यदि लाड्डू में आनन्द आता तो दूसरे मनुष्य को, जिसको कि खुरचन खाने में रुचि है उसको लाड्डू खाने में आनन्द क्यों नहीं मिलता। अथवा लाड्डू में ही आनन्द होतो उस चौबे को लाड्डू लगातार खाते चला जाना चाहिये, कुछ लाड्डुओं के खाने पर फिर वह और लाड्डू खाना बन्द क्यों कर देता है ? भूख तृप्त हो जाने पर मीठा लाड्डू भी उसे रुचिकर नहीं होता।

तो क्या लाड्डू खाने से प्रगट होने वाला आनन्द खाली पेट में भरा हुआ है।

नहीं, क्योंकि पित्त ज्वर होने पर खाली पेट में भी लाड्डू कड़वा मालूम होता है। फिर तो यों समझा जावे कि स्वस्थ दशा में मुख का स्वाद ठीक होने पर लाड्डू खाने से सुख मिलता है, यानी-सुख खाली पेट में नहीं बल्कि स्वस्थ मुख में खाने पीने का सुख है।

किन्तु यह बात भी गलत ठहरती है। एक मनुष्य का युवा पुत्र मर गया वह स्वस्थ है फिर भी पुत्र के शोक में उसे स्वादिष्ट लाड्डू भी फीके नीरस लगते हैं उनके खाने की रुचि ही नहीं होती।

इससे सिद्ध हुआ कि सुख न तो भोज्य (खाने योग्य), भोग्य (भोगने योग्य) और उपभोग्य (उपभोग के योग्य) पदार्थों मे है, न शरीर में भरा हुआ है, सुख तो आत्मा में ही है जो मन की रुचि के अनुसार प्रकट हुआ करता है। अतएव किसी कवि ने कहा है—

दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षापि मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुरं यत्र मनो यस्य संलग्नम् ॥

यानी—किसी को दही मीठा लगता है, किसी को शहद मीठा लगता है, किसी को दाख मीठी लगती है और कोई मनुष्य खांड को मीठा समझता है, परन्तु इन सब विभिन्न रुचियों को देखकर सारांश यह निकलता है कि जिसका मन जहाँ लग जाता है उसको वही वस्तु मीठी प्रिय मालूम होती है।

इसी कारण नीम का पत्ता मनुष्यों को कड़वा लगता है उसे मुख में रखते ही मनुष्य थू थू करने लगते हैं परन्तु ऊँट और बकरी को वे ही नीम के पत्ते स्वादिष्ट प्रतीत होते हैं, अतः ऊँट बकरी उन्हें पेट भर खाते है।

सारांश यह है कि मन का सन्तुष्ट होना ही सुख है। राजा अपने राज भवन में विशाल भोग उपभोग के साधनों के साथ रहता हुआ भी इसी कारण सुखी नहीं कि उसका मन अनेक राजनैतिक घटनाओं से चिन्तित व्याकुल रहता है, अपने राजपद नष्ट होने की आशंका बनी रहती है, अधिक राज्य पाने की तृष्णा उसे सतत सताती रहती है। और एक दिगम्बर साधु पर्वत की गुफा में जमीन पर सोते, उठते, बैठते भी बिना किसी भोग उपभोग के भी निश्चिन्त सन्तुष्ट सुखी है क्योंकि उसके मन मे न कोई चिन्ता है, न भय और न तृष्णा।

राजा का सुख पराधीन है, भोग्य उपभोग्य बाहरी पदार्थों पर निर्भर हैं, वे चीजें उसको मिलती रहें तो उसे सुख मालूम होता रहे, यदि किसी चीज में कमी आ जावे तो उसके चित्त में उतना ही सुख कम प्रतीत होगा। उधर साधु का सुख स्वाधीन है, बिना किसी बाहरी पदार्थ के भी साधु जंगल पर्वत में भी सुखी सन्तुष्ट मस्त बना रहता है।

अतः सुख प्राप्त करने के लिये बाहरी विषयों की आवश्यकता नहीं, मनको सतुष्ट करने की आवश्यकता है। वन में नग्न रहते हुए भी यदि किसी साधु का मन विषय भोगों या घर परिवार की ओर लगा हुआ है तो एकान्त शान्त वन प्रान्त मे भी उसको शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि उसका मन विषय वासनाओं मे उलझा हुआ है अत मन की व्याकुलता उस साधु को शान्ति सुख से दूर बनाये हुए है।

इस कारण यदि सुख का अनुभव करना हो तो अपने मन को अपने वश में करो और बाहरी पदार्थों का सचय कम करते जाओ। घर, धन, परिवार आदि से मोह कम करते जाओ, सभी को पराया समझते रहो, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी अपना न समझो, क्योंकि अपनी वस्तु तो सदा अपने ही पास रहती है जैसे कि अपने ज्ञान आदि गुण। धन, परिवार, शरीर आदि का साथ तो जीव से कभी न कभी छूट ही जाता है। अतः पराई चीजों की मोह ममता झूठी है, इस झूठी मोह ममता के कारण ही जब पुत्र स्त्री मकान आदि पर-पदार्थ नष्ट हो जाता है तब व्यर्थ दुःख होता है।

सुख का यह कुछ थोडा स्वरूप तो मैंने लौकिक सुख की अपेक्षा से बतलाया है, आत्मा को सच्चा सुख तो कर्मों का क्षय हो जाने पर मिलता है जो कि न कभी कुछ कम होता है न कभी नष्ट होता है, अक्षय असीम होता है।

प्रवचन नं० १६

स्थानः— दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, देहली।

तिथिः— आषाढ़ कृष्णा ११ बृहस्पतवार, १६ जून १६५५

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व

किसी भी कार्य के करने में मूलकारण विश्वास या श्रद्धा होती है। व्यापारी धन लाभ की श्रद्धा से व्यापार करता है, विद्या लाभ की श्रद्धा से पढने के लिये विद्यार्थी किसी विद्वान् को अपना गुरु बनाता है, आत्मशुद्ध करने की श्रद्धा से तपस्वी कठोर तपस्या करता है। इत्यादि सभी लौकिक तथा परमार्थिक, अच्छे या बुरे कार्य अपनी श्रद्धा के आधार पर ही किये जाते हैं। यदि कोई कार्य करते समय उसके मूल मे तदनुकूल श्रद्धा नहीं तो वह कार्य सफल भी नहीं होता है। धाय दूसरे के बच्चे को पालती है उसको अपनी छाती का दूध पिलाती है, अपनी छाती से चिपटाकर सुलाती है, उसे प्यार, लालन पालन करती है किन्तु मन में उसके श्रद्धा जमी हुई है कि 'यह बच्चा मेरा नहीं है, दूसरे का है।' इसी श्रद्धा के कारण वह सब कुछ करते हुए भी उस बच्चे की माता नहीं बन पाती, सेविका ही बनी रहती है। और एक माता अपने औरस पुत्र को गालियाँ भी देती है, झिड़कती भी है तथा मारती पीटती भी है परन्तु अपने पुत्र की श्रद्धा मन में बैठी होने के कारण वह उसकी माता है।

एक स्त्री अपने ४-५ वर्ष के बच्चे को फटकारती हुई बुरी बुरी गालियाँ भी दे रही थी कि 'तू मर जा, तू पैदा न होता तो अच्छा था' इत्यादि। उसी समय संयोग से वहा एक साधु आ गया। साधु ने उस स्त्री को मीठे वचनों मे उपदेश दिया कि जिस पुत्र को तूने अपने पेट में नौ मास तक रक्खा, अपना दूध पिलाकर उसका पालन-पोषण किया उसको ऐसी बुरी गालियाँ क्यों दे रही है? इसको प्यार कर, यह तो अबोध है, कुछ समझता नहीं है तू इसके साथ क्यों अबोध बनती है।

उस स्त्री ने नम्रता से साधु को उत्तर दिया कि महाराज! आप की कृपा से मैं सब समझती हूँ, किन्तु क्या करूं यह मुझे बहुत तग करता है तब क्रोध में मेरे मुख से ऐसे दुर्वचन निकल जाते है, मैं इसको गालियाँ अपनी बेलगाम जीभ से देती हूँ, हृदय से नहीं देती। हृदय से तो मैं इसको अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती हूँ क्योंकि यह मेरे जीवन का आधार है।

साधु मुस्कराते हुए उसको आशीर्वाद देता हुआ चला गया।

इस तरह सभी कार्यों में अन्तरंग की श्रद्धा कार्य करती है।

संसारी जीव की श्रद्धा अनादि काल से मिथ्यात्व कर्म के कारण विकृत हो रही है, वह आत्म निधि को भूलकर अन्य पदार्थों की ओर लगा हुआ है। शरीर, धन, परिवार को अपना समझ रहा है। उस को यदि यह बात समझाई भी जावे कि ये 'सब पदार्थ तुझ से भिन्न हैं तेरे नहीं हैं, तू इनके साथ मोह ममता न कर।' तो भी मिथ्यात्व के कारण उसे ऐसा विश्वास नहीं होता, ऐसे मिथ्या श्रद्धान वाला मनुष्य यदि साधु सन्त बन जाता है तो भी उसकी शरीर तथा धन के साथ मोह ममता नहीं हटने पाती साधु होकर भी वह माया के चक्कर में पड़ा रहता है। दीखने में तो वह ससार से अलग नजर आता है परन्तु मिथ्या श्रद्धा के कारण उसके हृदय में संसार बसा हुआ है, जब तक हृदय का संसार दूर न हो तब तक बाहरी संसार से दूर होने का कुछ अर्थ नहीं।

आत्मा का सच्चा श्रद्धालु कदाचित् कारण वश अपने गृह परिवार से अलग न हो सका हो यानी उसके चारों ओर संसार के साधन घिरे हुए हों, तो भी चूंकि उसके हृदय में संसार नहीं है अतः वह संसार में रहता हुआ भी संसार से अलग रहता है, उसकी मनोवृत्ति संसार में तन्मय नहीं होने पाती, संसार से विरक्त रही आती है।

भगवान् ऋषभनाथ के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती सम्राट् थे, सात चेतन तथा सात अचेतन (१४) रत्नों के, ९ निधियों एवं ९६ हजार पत्नियों के स्वामी थे. लाखो हाथी और करोडों घोडे उनके पास थे, इस तरह अपार सम्पत्ति के स्वामी थे। पूर्व भव मे संचित किये हुए महान् पुण्य कर्म के फल स्वरूप मिले हुए भोग उपभोगों का भोग उपभोग करते थे। परन्तु इसके साथ ही उनको अचल आत्म-श्रद्धा भी थी। अतः उन्हें आत्म-चिन्तवन में गहरी रुचि थी, समस्त राजकार्य तथा गृहकार्य करते हुए भी उनमें उन्हें आनन्द नहीं आता था, आत्म-अनुभव में वे अधिकतर लीन रहते थे। इसलिये जनता में यह बात प्रसिद्ध हो गई कि 'कोई तो घर बार छोड़ कर बन मे रहते हुए विरागी होता है, परन्तु भरत चक्रवर्ती घर में रहते हुए ही विरागी हैं।'

एक मनुष्य को जनता की इस बात पर विश्वास न हुआ, उसने विचार किया कि 'यदि सचमुच भरत को संसार में रुचि नहीं है तो वे इतने बड़े राज्य का संचालन कैसे करते हैं।' वह अपनी आशंका का समाधान करने के लिये भरत के पास पहुँचा और भरत से कहा कि जनता आप को विरागी कहती है यह बात कहाँ तक सत्य है ?

भरत ने उसको उत्तर दिया कि तुम्हारे प्रश्न का उत्तर पीछे दिया जायेगा 'पहले तुम मेरे विशाल परिवार और विशाल राज परिकर को देख आओ।' ऐसा कहते भरत ने उसके हाथ में तेल से भरा एक कटोरा दिया और दो सैनिक उसके साथ कर दिये कि इसको मेरा समस्त परिवार दिखा लाओ, उधर उसको सचेत कर दिया कि 'देखो कटोरे में से एक बूंद भी तेल नीचे न गिरने पावे अन्यथा तुमको मृत्यु दण्ड दिया जायगा।'

भरत के सैनिक उस मनुष्य को अपने साथ लेकर भरत का सारा वैभव दिखलाते रहे। ९६ हजार रानियों के सुन्दर भवन, करोड़ों सैनिकों, घोडो, हाथियों, रथों, अस्त्र शस्त्रों को, उनकी निधियों तथा विशाल संचित सम्पत्ति आदि सामान को उन सैनिकों ने उस मनुष्य को दिखाया, देखते देखते चलते फिरते वह थक गया, बहुत समय लग गया। तब अंत में उसे फिर भरत चक्रवर्ती के पास लाया गया।

भरत ने उससे पूछा कि बतलाओ तुमने क्या कुछ देखा ?

उस मनुष्य ने उत्तर दिया कि 'कुछ नहीं देखा।'

भरत ने पूछा क्यों ? इतनी देर तक घूमते फिरते क्या करते रहे ?

उसने उत्तर दिया कि 'मैं तो इस तेल के कटोरे को ही देखता रहा कि कहीं इसमें से तेल नीचे न गिर पड़े, जिससे कि मृत्यु दण्ड से बच सकूं अतः मैंने इस तेल के कटोरे के सिवाय कुछ नहीं देखा।

भरत ने कहा 'तुम्हारे प्रश्न का उत्तर भी यही है, जैसे तुम इतनी देर तक घूमते फिरते भी कुछ नहीं देख पाये क्योंकि तुम्हारी दृष्टि कटोरे पर ही लगी रही उसी तरह सारे सांसारिक कार्य करते हुए भी मेरी मनोवृत्ति उधर नहीं रहती, आत्मा की ही ओर रहती है। अतः जनता का कहना इस अपेक्षा से सत्य है।

भरत का उत्तर सुनकर उस मनुष्य की शंका दूर हो गई।

इस तरह श्रद्धा के अनुसार जीव बाहरी कार्य किया करता है, यही कारण है कि अनादि काल से जीव अपनी मिथ्या श्रद्धा के कारण अपने आत्म-अनुभव से दूर रहा आया है। संसारी जीव की मिथ्या श्रद्धा के दो रूप हैं—१. अगृहीत, २. गृहीत। आत्म, शरीर, कर्मास्रव, कर्मबन्धन, निरोध, कर्म निर्जरा, मुक्ति के विषय में जो जीव को यथार्थ श्रद्धा नहीं होती है शरीर की क्रिया को ही आत्मा ही क्रियां समझना है, शरीर की उत्पत्ति को अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश को अपना नाश समझना है, यह अगृहीत मिथ्या श्रद्धा है यानी-इस प्रकार का गलत विश्वास संसारी जीव को स्वयं चला आ रहा है इसी कारण यह जीव किसी वस्तु को इष्ट मान कर उससे प्रेम करता और किसी को अनिष्ट समझ कर उससे द्वेष, वैर, घृणा करता है। इसी मूल आधार पर संसार के समस्त ताने बाने बनता रहता है, हसता, रोता, लडता, भिडता रहता है।

देव गुरु धर्म के विषय में अथवा तत्वों के स्वरूप के विषय में जो गलत श्रद्धान किसी के उपदेश से अथवा किसी की देखा देखी अनुकरण से हुआ करता है वह गृहीत मिथ्यात्व है। जैसे लोगों ने अपने स्वार्थ साधन के लिये अनेक देवी देवता कल्पित कर रक्खे हैं, पशु पक्षियों को मार कर उन पर चढा कर उनसे वरदान चाहते हैं, ऐसे देवी देवताओं की मान्यता किसी के कहने सुनने या देखा देखी हुआ करती है। इसी तरह आत्म ज्ञान से कोरे, रुपये पैसे के लोभी, तम्बाखू, गांजा, भंग, चरस पीने वाले क्रोधी, अहंकारी, लोभी साधुओं को धर्मगुरु मानना भी किसी के कहने समझाने से होता है। इसी तरह नदियों में स्नान करने, पशु बलि चढ़ाने आदि में धर्म की मान्यता आदि भी किसी के सिखाने समझाने से होती है, अतः इस तरह का मिथ्या श्रद्धान गृहित मिथ्यात्व है।

मनुष्य भव पाकर प्रत्येक स्त्री पुरुष को विवेक से कार्य करना चाहिये जब कि बाजार से चार पैसे का घड़ा खरीदते समय उसको खूब ठोक बजा कर परीक्षा कर ली जाती है तब आत्म-कल्याण के विषय में मूर्ख बने रहना बुद्धिमान् मनुष्य के लिये शोभा की बात नहीं। प्रत्येक मनुष्य को यह बात अपने हृदय में जमा लेनी चाहिये कि अपना भला बुरा करना अपने अधीन है, दूसरा कोई भी किसीका भला बुरा नहीं कर सकता। जिस तरह बबूल का बीज बोकर हम चाहे उसे दूध से क्यों न सींचें उससे आम का

वृक्ष नहीं हो सकता। इसी तरह बुरे कार्य करके, हिंसा आदि पाप करते हुए कोई भी स्त्री-पुरुष उसके बुरे फल से बच नहीं सकता, चाहे वह किसी भी देव देवी की पूजा भक्ति करे, बुरे कर्म का बुरा फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा। इस कारण कुदेव, कुगुरु कुधर्म की श्रद्धा करके कोई किसी पापकर्म के फल से बचना चाहे यह असंभव बात है।

जो देव स्वयं राग द्वेष आदि दोषों से अलिप्त, परम शान्त, शुद्ध बुद्ध मुक्त हो उसकी भक्ति पूजा से आत्मा क्रोध मान आदि से छूट कर शान्त, शुद्ध मुक्त हो सकता है। जो साधु विषय भोगों की आशा से रहित, आरम्भ परिग्रह से दूर, ज्ञान ध्यान में तत्पर हो, आत्म-साधना के लिये ऐसा साधु ही धर्मगुरु हो सकता है। तथा जिन ग्रन्थों में समस्त छोटे बड़े जीवों की रक्षा-दया करने का उपदेश हो, सत्य सिद्धात का विवेचन हो, परस्पर विरोधी कथन न हो ऐसे ग्रन्थ ही धर्मशास्त्र हैं उनके ही स्वाध्याय से मनुष्य को ठीक पथ प्रदर्शन मिलता है। इस तरह अधिक नहीं तो कम से कम देव, शास्त्र, गुरु की परीक्षा तो प्रत्येक मनुष्य को अवश्य कर लेनी चाहिये।

कुछ भोले भाले स्त्री पुरुष सच्चे देव की भक्ति पूजा करते हुए भी मिथ्या भावना से लिप्त रहे आते है।

समस्त दोष रहित वीतराग अर्हन्त परमात्मा ही संसार सागर से पार होने के लिये पूज्य देव है क्योंकि वे कर्म जाल को नष्ट करके संसार से पार हो गये हैं। अतः उनकी पूजा भक्ति करने के लिये हमको अपनी भावना भी राग द्वेष, जन्म मरण, भूख प्यास, मोह आदि दोषों तथा उनके कारण भूतै मोहनीय, वेदनीय, ज्ञानावरण आदि कर्मों से छूट कर शुद्ध निरंजन निर्विकार अजर, अमर होने की रखनी चाहिये। आत्मा का सच्चा कल्याण ऐसा होने में ही है। जरा जन्म मरण से छूट जाने पर और कोई ऐसी बात नहीं रहती जिससे छुटने की भावना रक्खी जावे। भगवान की पूजा भक्ति करते समय मन वचन काय बुरे कामों से बचे रहते हैं। जिससे कि उस समय शुभ कर्मों का बन्ध होता है, और उन शुभ कर्मों का जब उदय होता है तब सुख शान्ति मिलती है। मिथ्यात्व, कषाय आदि कर्म निर्बल हो जाते हैं जिससे आत्मा की शुद्धि होती जाती है।

अर्हन्त भगवान् तो स्वयं रागद्वेष रहित हैं अतः वे न तो अपनी पूजा से प्रसन्न होते हैं, जिससे अपने पुजारी को कुछ दे दें। जो मनुष्य उनकी निन्दा करे उससे अप्रसन्न भी नहीं होते जिससे उसको नाराज होकर कोई सजा दें। इस कारण अर्हन्त भगवान् की पूजा किसी सांसारिक इच्छा से नहीं करनी चाहिये।

कोई स्त्री पुरुष भगवान् की पूजा भक्ति करते हुए अपने यहाँ पुत्र होने, धन की वृद्धि होने, विवाह होने, मुकद्दमा जीतने आदि की प्रार्थना भगवान् से करते हैं। श्री महावीरजी क्षेत्र पर वंदना करते संसारी भगवान् महावीर की प्रतिमा पर छत्र ऐसी ही भावनाओं के साथ चढ़ाते हैं, सो यह भी मिथ्यात्व है। अर्हन्त भगवान् की पूजा भक्ति करते हुए भी मिथ्यात्व यानी मिथ्या श्रद्धा न छोड़ना भारी भूल है, कोई भी देव सुख दुःख नहीं दे सकता। हमारे संचित कर्म ही सुख दुःख देते हैं फिर अर्हन्त भगवान् तो समस्त कर्मों से मुक्त हैं, उनसे लेने देने की बात भी वृथा है।

इस कारण देव शास्त्र गुरु का ठीक स्वरूप समझकर हम को संसार के सब दुःखों से छूटने के लिये आत्मा के भाव शुद्ध करने का यत्न करना चाहिये। जिस देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति उपासना से ससार का आवागमन नष्ट हो सकता है, उससे साधारण दुःख सकट तो स्वयं मिट जाते हैं। इस कारण हम चाहते हैं कि हमारे ऊपर कभी सकट न आने पावे, तो हमको सदा भगवान् की भक्ति करते रहना चाहिये। बुरी भावनायें हृदय से निकाल देनी चाहिये।

सुख में भगवान् को भुला देना और दुःख में भगवान् को याद करना तो निकृष्ट स्वार्थ की बात है यदि सुख की दशा में भी भगवान् की भक्ति होती रहे तो दुःख संकट आवे ही नहीं। इस विषय में भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिये। हृदय की सच्ची श्रद्धा के साथ भगवान् की भक्ति होनी चाहिये कि 'हे भगवन्! जिस तरह आप शुद्ध बुद्ध मुक्त हैं वैसे ही मैं भी हो जाऊँ। क्रोध, मान, राग, मोह आदि मुझ से दूर हो जावें, संसार के दुःख जंजाल से छूट जाऊँ।" ऐसा करने पर आत्मा शुद्ध हो सकती है।

इस सम्यक्त्व मिथ्यात्व को समझकर मिथ्यात्व से छूटने का यत्न करना चाहिये।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरितांजनेभ्यः॥

यानी—हे भगवन्! आप वीतराग हैं अतः आप की पूजा करने में आपका कुछ स्वार्थ नहीं है आप अपनी पूजा से प्रसन्न होकर किसी को कुछ पारितोषिक नहीं देते। और आप वीतद्वेष हैं अतः कोई व्यक्ति यदि आपकी निन्दा करे तो उससे अप्रसन्न होकर आप उस निन्दक को दण्ड नहीं देते। फिर भी आप के पावन गुण वर्णन से मन पवित्र हो जाता है। यही सब से बड़ा लाभ आपकी भक्ति से मिला करता है।

भगवान् की पूजा भक्ति का यही सच्चा सिद्धान्त है इसी सिद्धान्त के अनुसार हमको अपनी भावना रखनी चाहिये।

—०—

प्रवचन नं० २०

स्थानः—	तिथिः—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।	आषाढ़ शुक्ला ५ शुक्रवार, २४ जून १९५५

सुख की चाह

सांसारिक प्राणी सुख चाहते हैं यह तो ठीक है क्योंकि सुख के द्वारा आत्मा सन्तुष्ट होता है, आत्मा को शान्ति सुख के द्वारा ही प्राप्त होती है, व्याकुलता तथा भय भी सुख मिलने पर नहीं सताने पाते, दुःख कष्ट सकट तो सुख के समय रहते ही नहीं क्योकि दुःख संकटों का अभाव ही तो सुख कहलाता है। इस कारण सुख की इच्छा बुरी बात नहीं, परन्तु केवल इच्छा करने से तो कुछ नहीं मिल जाता, उसके लिये कुछ प्रयत्न करना पड़ता है।

भावना चेद् भवेत्फलदात्री, मामकी नगरी काशी स्यात् ।

किसी मनुष्य को काशी नगर बहुत प्रिय मालूम हुआ क्योंकि काशी शीतल स्वच्छ जल बहाने वाली गंगा के तट पर बसा हुआ है, तट पर सुन्दर घाट बने हुए हैं, घाटों के पीछे सुन्दर भवन खड़े हुए हैं और संस्कृत विद्या का तो वह केन्द्र है । ऐसे अनेक मनोहर आकर्षण काशी नगर में हैं। परन्तु उस मनुष्य के बचपन के सब साथी वहाँ पर नहीं हैं, न उसके परिवार के तथा सम्बन्धी स्त्री पुरुष ही हैं अतः उनके बिना वह काशी में रहना भी नहीं चाहता। इसीलिये उसने अपने मन में यह भावना की कि 'मेरा नगर ही काशी नगर बन जावे ।' ऐसी भावना करते करते वर्षों हो गये किन्तु उसके नगर का एक टुकड़ा भी काशी न बन सका, तब उसकी समझ में आया कि केवल भावना से ही मेरा नगर काशी नहीं बन सकता, उसके लिये भगीरथ प्रयत्न करके पहले गगा का प्रवाह इधर लाना होगा तब कुछ आगे की बात होगी।

इसी प्रकार केवल सुख पाने की भावना से सुख नहीं मिला करता, उसके लिये कुछ प्रयत्न करना पड़ता है । वैसे तो संसार के जीव जिस को सुख समझते हैं वह वास्तव में सुख नहीं है वह तो एक खुजली की व्याधि है। खुजली का रोगी अपनी खाज मिटाने के लिए अपने नाखूनों से अपने शरीर को खूब खुजाता है, खुजाते-खुजाते शरीर से रक्त भी निकलने लगता है किन्तु खुजाते समय उसको ऐसा आनन्द मिलता है जिस की तुलना वह संसार के किसी भी वैषयिक सुख से नहीं कर सकता. परन्तु खाज शान्त होते ही जब शरीर के उस भाग में नाखूनों द्वारा चमड़ी खुरचने से जो दुःख प्रगट होता है, वहाँ के चमकते हुए खून पर मक्खियां भिनभिना कर बैठने लगती हैं जो कि उस पीड़ को और भी दुगुनी कर देती हैं तब तो उसे अपनी माता याद आती है । किन्तु कुछ देर पीछे जब फिर उसी जगह खाज उठती है तब फिर वह उस दुःख को भुलाकर नाखूनों से वहीं पर खुजाने लगता है और खुजाते हुए फिर अपार सुख में निमग्न हो जाता है और जब खुजाना बन्द किया तो फिर वही असह्य दुःख उस पर आ टूटता है उससे छटपटाता है ।

भूख लगती है, तब बहुत दुःख होता है उस दुःख को मिटाने के लिये भोजन करते हैं, भोजन स्वादिष्ट मिल जाने पर कुछ अधिक खा लिया जाय तो वही भोजन दुःखदायी बन जाता है। पाचन न होने पर भोजन विष के समान हो जाता है । भोजन कर लेने पर कुछ आराम प्रतीत होता है, किन्तु कुछ समय पीछे फिर भूख सताती है। यदि भूख ठीक न लगे तो वैद्य से औषधि लेकर भूख लाने का यत्न किया जाता है । उधर मन्दिर जी में भगवान् की नैवेद्य से पूजन करते हुए भूख न लगने की भावना की जाती है। इस भूख का कुछ देर तक उपशम हो जाने में सुख मानना भी खुजली की खाज खुजाने में आनन्द मानना जैसा ही है।

कामातुर स्त्री पुरुष अपनी कामवेदना दूर करने के लिये मैथुन करते है परन्तु उससे उनके शरीर की सर्वोत्तम बल प्रदायक धातु का क्षय हो जाता है जिससे खाज की खुजली जैसा ही क्षणिक सुख प्रतीत होता है ।

कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है हड्डी को चबाते हुए अपने ही मुख से निकले हुए रुधिर का स्वाद लेकर कुछ समय तक सुख अनुभव करता है पीछे दुःखी होता है ।

इस तरह सभी विषय भोगों से मिलने वाले सुखों की बात है, अत देखा जाय तो यह संसारी सुख 'सुख' नहीं है वेदना का क्षणिक उपशम होने रूप इलाज है। धन सम्पत्ति आदि से प्राप्त होने वाले सुख की भी ऐसी ही दशा है। इस विषय का विवेचन फिर किसी समय करेंगे।

परन्तु यह क्षणिक सुख भी पूर्व भव में उपार्जित पुण्य कर्म के उपार्जन से मिलता है। जो स्त्री पुरुष धर्म सेवन करते है. दान, परोपकार आदि करते हैं उनको ही शुभ कर्म का बन्ध होता है और उस शुभ कर्म के निमित्त से सांसारिक सुख की सामग्री प्राप्त होती है। परन्तु जीव धर्म, पुण्य कार्य करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करते और चाहते सुख हैं। इस दशा में खाली चाहने से सुख कैसे मिल सकता है।

धर्मस्य फलमिच्छन्ति धर्मं नेच्छन्ति मानवाः।
पापस्य फलं नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति नित्यशः॥

यानी मनुष्य धर्म के फल (सुख) को तो पाना चाहते हैं परन्तु धर्म नहीं करना चाहते। और पाप का फल (दुःख) नहीं चाहते, परन्तु पाप कार्य नित्य करते हैं।

भगवान की पूजा उपासना भी इसीलिये की जाती है कि सांसारिक अनेक प्रकार के दुखो से मनुष्य छूटना चाहता है। इसी बात को निम्न लिखित श्लोक में व्यक्त किया गया है।

न स्नेहाच्छरणं प्रयाति भगवन् पादद्वयं ते प्रजा,
हेतुस्तत्र विचित्र दुःखनिचयः संसार घोरार्णवः।
अत्यन्त स्फुरदुग्ररश्मिनिचयव्याकीर्णभूमण्डलो,
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः॥

अर्थात्—हे भगवन्! जनता किसी स्वाभाविक प्रेम से आकर्षित होकर आप के चरणों की शरण लेने के लिये नहीं आती, आप के निकट आने का कारण विचित्र दुःखों से भरा हुआ यह भयानक ससार समुद्र है, जिसमें कि जनता रहती है। जिस तरह चांदनी, शीतल जल तथा शीतल छाया से लोगों को तभी प्रेम होता है जब कि गर्म ऋतु का सूर्य अपनी अत्यन्त तीव्र किरणों से पृथ्वी मंडल को असह्य उष्ण (गर्म) बना देता है।

एक राजकुमार अपनें माता पिता तथा भाइयों को बहुत प्यारा था। कर्म योग से उसके नेत्रों में भयानक पीड़ा हुई जिससे व्याकुल होकर तड़फने लगा। उसका असह्य दुःख देखकर उसके माता पिता भाई भी बहुत दुःखी हुए। उसने अपने पिता, माता, भाइयों से कहा कि मेरी पीड़ा थोड़ी थोड़ी बांट लो जिस से मुझे कुछ चैन मिल जावे; किन्तु कोई भी ऐसा न कर सका।

उसके पिता ने घोषणा की कि मेरे पुत्र के नेत्र जो वैद्य अच्छे कर देगा उसको आधा राज्य दूंगा। इस पर अनेक वैद्यों ने चिकित्सा की परन्तु किसी से भी नेत्र रोग ठीक न हुआ। तब अन्त में वह राजकुमार मन्दिर में जाकर भगवान के ध्यान में बैठ गया। उसने अपना मन सब ओर से हटाकर भगवान्

के ध्यान में लगा दिया। कुछ देर पीछे उस राजकुमार के दोनों नेत्र ठीक हो गये, वह बहुत प्रसन्न हुआ।

उस समय वहां एक साधु आये, उन्होंने राजकुमार को उपदेश दिया कि तू इतने से क्या प्रसन्न होता है, यदि तू सब कुछ छोड़कर वन में तपस्या करे तो तू अविनाशी सुख पा सकता है।

मुनि का उपदेश सुन कर वह घरबार राज्य छोड़कर साधु बन गया, और उस तरुण सुन्दर शरीर को कठोर तपस्या से सुखाने लगा। एक दिन एक राजा उधर वन में आया, उसने सर्वाङ्ग सुन्दर उस राजकुमार का देखकर दयार्द्र हो कर कहा कि हे युवक! तुम्हें किस ने सताया है जिस से तुम यहाँ पर कष्ट उठा रहे हो? चलो मेरे साथ चलो, मै तुमको अपना आधा राज्य दूंगा।

साधु वेष धारण राजकुमार बोला राज्य तो मेरे पिता के पास भी बहुत है मेरे माता पिता भाई भी मुझ से बड़ा प्रेम करते हैं किन्तु मुझे कर्म रोग था जिसे कोई भी दूर न कर सका, तपस्या से ही वह दूर हुआ। इस समय भी कर्मों की पीड़ा है यदि तुम उस कर्म दुख को मेट सको तो मैं तुम्हारे साथ चलूं। राजा उस तरुण साधु की गम्मभीर बात सुनकर लज्जित हुआ और यह कह कर 'कि युवक! तुम्हारा कर्मरोग मै क्या दूर कर सकूंगा मैं ही इससे दुखी हूं' चुपचाप चला गया।

संसार की जनता सुख फल को तो चाहती है परन्तु वह सुख फल जिस वृक्ष पर लगता है उसकी मूल जड़ को नहीं सींचना चाहती या समझ लीजिये कि सुख की जड़ को सींचना नहीं जानती। जब वृक्ष की जड़ न सींची जायगी तो वह मीठा फल कहाँ से देगा? इस कारण यदि सुख चाहते हो तो वह सुख जिस वृक्ष पर फलता है उसके मूल को हरा भरा रक्खो, जिससे तुम्हे सुख फल सदा मिलता रहे।

सुख धर्मरूपी वृक्ष का फल है, धर्मरूपी वृक्ष के सिवाय यह अन्य कहीं से प्राप्त नहीं होता इस कारण यदि सदा सुख प्राप्त करने की इच्छा है तो धर्म वृक्ष को अपने पवित्र कार्यों के जल से उसे सींचते रहो, यदि तुमने अपने पवित्र कार्यों से धर्म को हरा भरा न रक्खा तो तुम को भविष्य में सुख रूपी फल मिलना बन्द हो जायगा।

धर्म का स्वरूप क्या है? शिष्य के इस प्रश्न का सरल सक्षेप उत्तर गुरु ने दिया—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधारयेत्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थात्—धर्म का सारांश सुनकर उसको हृदय में धारण कर लेना चाहिये, एक कान से सुनकर दूसरे कान से न निकाल देना चाहिए। धर्म का सारांश यह है कि 'जो बातें तुम्हे अपने लिये ठीक न मालूम हों उन्हे तुम दूसरों के लिए भी न करो।

तुम चाहते हो कि हमको कोई शारीरिक कष्ट न दे तो तुम भी दूसरे जीवों को शरीर का कष्ट न दो (न मारो)। तुम चाहते हो कि हमको कोई दुर्वचन न कहे तो तुम भी दूसरों को गाली, गलौच, झूठ, धोखे के वचन न बोलो। जब तुम चाहते हो कि हमारी वस्तु कोई न लेवे, न चुरावे तो तुम को भी दूसरे की चीजें न चुरानी चाहियें, जब तुमको अपनी स्त्री, पुत्री बहिन, माता आदि को किसी अन्य

व्यक्ति द्वारा बुरी निगाह से देखा जाना अच्छा नहीं लगता तो तुमको भी चाहिये कि अन्य लोगों की माता, बहिन, बेटी आदि पर बुरी दृष्टि न डालो। जब तुम चाहते हो कि कोई अन्य व्यक्ति हमारे अर्थ-संचय में बाधा न डाले तो तुम्हारा भी तो कर्तव्य है कि अन्य लोगों के अर्थ-सचय में बाधक न बनो।

इस तरह अपने लिये प्रतिकूल (असुहावनी-अनिष्ट) समझे जाने वाले कार्य दूसरों के लिये न करना ही धर्म है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, नम्रता, दया, शौच, सन्तोष आदि जितने भी भेद प्रभेद धर्म के किये जावें वे सभी धर्म की इस परिभाषा में आ जाते हैं।

मनुष्य धर्म की इस सरल परिभाषा को भी न तो अपने हृदय में रखते हैं और न आचरण ही करते हैं इसी कारण रात दिन दुःख क्लेश, अशान्ति, क्षोभ भय बढ़ते चले जाते हैं। खेद तो इस बात का है कि धर्म का नाम लेकर भी पाप करते है, जब पाप भी धर्म का भेष बनाकर आ जावे तब उसका फल सुख कहां मिल सकता है।

काली, दुर्गा, भवानी आदि को जगत् माता कह कर यदि स्त्री, पुरुष, अपने घर पुत्र होने की इच्छा से बकरी का बच्चा काटकर उसके सामने चढ़ावे तो बताओ कहाँ तो वह जगत् माता रही? (जगत् माता होती तो बकरी के पुत्र को भी अपना पुत्र समझती तब उसे अपने लिये क्यों मरवाती?) [illegible] ऐसी पशुबलि धर्म रहा? जब तुम अपने घर में पुत्र देखना चाहते हो तो बकरी के पुत्र को [illegible] मारते हो? जब तुम स्वयं इस तरह छुरी तलवार से मरना नहीं चाहते तो दूसरों को क्यों मारते हो। दूसरों को दुःखी देकर तुमको सुख कैसे मिलेगा?

यदि किसी मनुष्य के हृदय में भी दूसरे को मारने या उसे किसी तरह की हानि पहुँचाने की भावना जाग्रत होती है तो वह भी दुःख का देने वाला पाप है। इस कारण सुख चाहने से ही नहीं मिलेगा सुख को पाने के लिये अपने मन के विचार शुद्ध करो, दूसरों की बुराई में उन्हें मत जाने दो, मुख से मीठे, परोपकारी, सत्य वचन बोलो और शरीर से कोई ऐसी चेष्टा न करो जो किसी दूसरे को कष्टदायक हो।

—०—

प्रवचन नं० २१

स्थानः— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, देहली।

तिथिः— आषाढ़ शुक्ला ६ शनिवार, ता० २५-६-५५

धन

इस विचित्र जगत् में अनेक वस्तुयें ऐसी हैं जिनकी ओर मनुष्य हृदय लालायित रहता है और वे वस्तुयें उसे आवश्यकता से कुछ अधिक मिल जावें तो उसके हृदय में अभिमान जाग्रत हो जाता है। यदि अपना शरीर अन्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक बलवान् हो तो मनुष्य उसी का अभिमान करके निर्बल मनुष्यों को आतंकित (भयभीत) करता रहता है। यदि उसका शरीर अन्य मनुष्यों की तुलना में अधिक सुन्दर हो तो सुन्दरता का नशा उसे चढ़ जाता है और दूसरे असुन्दर स्त्री पुरुषों का उपहास करके

उनका अपमान करने में वह प्रसन्नता अनुभव करता है। किसी को विद्या का अभिमान हो जाता है, उस अभिमान में चूर होकर वह अपने आप को महान व्यक्ति समझने लगता है, दूसरों को नीचा दिखाना वह अपना कर्तव्य मान बैठता है। कोई व्यक्ति यदि कुछ अधिकार (शासन-हुकूमत-अफसरी) प्राप्त कर ले तो वह अधिकार का गर्व ही उसका दिमाग बिगाड़ देता है, अपने अधिकार से दूसरों को सताना, दूसरों का अपमान करना उसका मुख्य कार्य हो जाता है। किसी के परिवार में महत्वशाली स्त्री पुरुष हों तो वह अपने परिवार का ही अभिमान कर बैठता है अन्य लोगों की अपेक्षा अपने आप को बड़ा अनुभव करने लगता है।

इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य के पास अपने आस पास मनुष्यों की अपेक्षा धन सम्पत्ति विशेष होती है तो वह धन भी अभिमान का कारण बन जाता है। वह धनिक धन मद में अनेक अनर्थ करने के लिये तत्पर हो जाता है।

इन सब तरह के अभिमानों में सब से अधिक नशा धन में दीख पड़ता है। इसी आशय को लेकर कवि ने कहा है—

कनक कनकतैं सौगुनी, मादकता अधिकाय।
जा खाये बौरात है, वा पाये बौराय॥

यानी—सोने (धन) में धतूरे से भी अधिक नशा होता है। धतूरे को तो खाकर मनुष्य बौराता है (नशे में ऊट पटांग बकता है) परन्तु सोने को तो पाकर ही बौराने लगता है।

इसी से मिलता जुलता एक नीति का श्लोक एक नीतिकार ने लिखा है—

यौवनं धन सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

अर्थात्—यौवन (युवा अवस्था), धन सम्पत्ति, प्रभुता (हुकूमत) और मूर्खता इन चार बातों में से प्रत्येक बात बहुत अनर्थ (बिगाड़-उपद्रव) करने वाली है। संयोग से यदि ये चारों बातें एक ही जगह मिल जावें यानी एक ही मनुष्य में ये चारों बातें हों, तब तो फिर कहना ही क्या, वह तो फिर संसार में बहुत भारी अनर्थ कर सकता है।

इस तरह धन का मद अन्य सब मदों से बढ़कर माना गया है।

यद्यपि 'धन' शब्द की कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं है, एक कृषक का धन उर्वरा (उपजाऊ) भूमि है, एक वैज्ञानिक का धन उसकी प्रयोगशाला (लैबोरेटरी) है, विद्वान् का धन अच्छे ग्रन्थों का भण्डार है, ग्वाले का धन दुधैल गाय भैंस हैं, माली का धन बाग है, देश का धन विशाल जलभण्डार (जिस से नहरें निकल सकें, बिजली का उत्पादन हो सके), कोयला, लोहा, तेल की खानें, उपजाऊ भूमि और घने जंगल हैं। आसाम के नागा लोगों, अफ्रीका के हब्शियों (जंगली), आदि विविध देशवासी

जंगली लोगों का धन आदमियों की खोपड़ियाँ आदि भिन्न भिन्न प्रकार का है। उद्योगपतियों का धन कल कारखाने और उनमें प्रयुक्त रुई, जूट, लोहा आदि कच्चा माल है। बैंकों, साहूकारों का धन नकद रुपया पैसा है। और मुनियों का धन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, निर्ग्रन्थता है।

सारांश यह है कि अपने अपने जीवन की साधनभूत सामग्री को लोगों ने धन मान रक्खा है। राज्य प्रणाली में राजमुद्रा (रुपया पैसा नोट आदि सिक्के) एक माध्यम वस्तु नियत कर दी जाती है- जिस के द्वारा उस देश की जनता अपने देश में प्रत्येक पदार्थ खरीद तथा बेच सकती है, अतः उस देश-वासियों के लिये प्रमुख धन वह राज मुद्रा बन जाती है। विभिन्न देशों की सरकारें परस्पर में लेन देन के लिये सोने को माध्यम धन बना लेती हैं।

सोना चांदी तथा हीरा, लाल, पन्ना, मोती आदि रत्न संसार में मूल्यवान पदार्थ माने गये हैं क्योंकि इनकी कान्ति (चमक) अमिट स्थायी होती है और ये पदार्थ बहुत थोड़े उपलब्ध होते हैं अतः इन का मूल्य कुछ घटता बढ़ता हुआ भी प्रायः स्थिर सा रहता है अत ये पदार्थ संसार में धन माने गये हैं। सोना, चांदी, द्रवशील धातुयें हैं अतः इनको पिघलाकर विविध आभूषण और राजमुद्रायें (मोहर, पौण्ड, डालर, रुपया आदि में सिक्के) बनाई जाती हैं, छोटे सिक्कों के लिये निकल, तांबा धातु भी प्रयुक्त होती हैं, अतः धन के माध्यम में इन धातुओं का महत्त्व है। सोना, चांदी प्राचीन समय से आभूषण बनाने तथा राजमुद्रा (सिक्का) बनाने के लिये काम आते रहे हैं अतः सोना, चांदी प्राय. प्रत्येक युग में प्रमुख धन माना जाता रहा है। राजप्रणाली बदल जाने पर नोट (कागजी सिक्का) आदि (हुडिया) व्यर्थ (बेकार) हो सकते हैं किन्तु मुहर, गिन्नी, रुपया आदि व्यर्थ नहीं होते क्योंकि उनकी धातु फिर भी मूल्यवान रहती है। भारत की आधुनिक राजमुद्राओं (रुपया, अठन्नी आदि) में जो चांदी के बजाय निकल आदि धातुओं की प्रचुरता (बहुताय) हो गई हैं जिससे कि असली रुपया अठन्नी आदि की परख के लिये लोहे को आकर्षित करने वाले चुम्बक से की जाती है, जो रुपया अठन्नी, चोअन्नी उस चुम्बक स लोहे की तरह चिपक जावें वह ठीक असली रुपया आदि माना जाता है, इस कारण आधुनिक भारतीय मुद्रा में चादी-जैसा मूल्य का महत्त्व नहीं रहा, इस रुपया को पिघलाने से रुपया के मूल्य की धातु उपलब्ध नहीं हो सकती, जैसे कि पहले हो सकती थी। फिर भी भारत सरकार में भारतीय जनता का दृढ़ विश्वास है, सरकार की आर्थिक स्थिति न केवल देश में अपितु विदेशों में भी विश्वास एवं मजबूत है अतः यह निकल का रुपया बेरोक टोक रुपया के मूल्य में व्यवहृत होता है।

प्रत्येक वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति रुपये पैसे को प्राप्त करने के लिये इसी लिए प्रयत्न करता है कि रुपए पैसे द्वारा प्रत्येक वस्तु प्राप्त की जा सकती है। किसान अपना अन्न बेचकर रुपये पैसे से कपडा खरीद सकता है, जुलाहा वस्त्र बेचकर अन्न खरीद सकता है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम का लक्ष्य रुपया पैसा ही रखता है। उद्योगपति अपने उद्योगों द्वारा रुपया पैसा एकत्र करते हैं, मजदूर उद्योगपतियों से अपने परिश्रम का मूल्य रुपया पैसा मांगते हैं, किसान अपने परिश्रम का मूल्य रुपया पैसा ही चाहता है। इसी कारण प्रत्येक मनुष्य रुपया पैसे को अपना ध्येय बनाकर विविध प्रकार के परिश्रम करता है।

रुपया पैसा अधिक से अधिक प्राप्त करने के लिये मनुष्यों में प्रतियोगिता (होड सी) लग गई है।

इस होड़ में जीतने के लिए या अधिक से अधिक सफलता पाने के लिये प्रायः मनुष्य नीति न्याय का भी उल्लंघन कर देते हैं। जिस तरह किसान अपने कठिन परिश्रम से न्यायपूर्वक अन्न उत्पादन करता है और उसका उचित चालू मूल्य प्राप्त करता है इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग परिश्रम करके न्याय नीतिपूर्वक धन उपार्जन करे तो संसार से भ्रष्टाचार, अनाचार, अत्याचार तुरन्त दूर हो जावें। मनुष्य धन-उपार्जन के इस मूल मन्त्र को भूल जाते हैं तभी संसार में अनेक तरह के अन्याय अत्याचार भ्रष्टाचार अशांति, लड़ाई झगडे फलते फूलते हैं।

मजदूर चाहते हैं कि परिश्रम थोड़ा करें किन्तु मजदूरी अधिक पावें, उधर मिल तथा कारखानों के मालिकों की इच्छा होती है कि मजदूरो से परिश्रम बहुत लिया जाय और उन्हें मजदूरी थोड़ी दी जावे। दुकानदार चाहता है कि ग्राहक से अधिक रकम लेकर माल थोड़ा दिया जावे और ग्राहक की इच्छा होती है कि मुझे थोड़ी रकम से बहुत माल मिले। इस तरह पहले मन में दुर्भावना आती है फिर उसे क्रियात्मक (अमली) रूप दिया जाता है तभी अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न होते हैं। चोरी, डकैती, जेबकटी, हड़ताल, आदि कटुक फल उसी धन उपार्जन की दुर्भावना से प्रकट होते हैं तब उन कुकार्यों को निर्मूल करने के लिये सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है। किन्तु जब सरकारी कर्मचारी उत्कोच (घूंस) के शिकार हो जाते हैं तब वह अनीति भीतर ही भीतर अमर बेल की तरह अपने आप बढ़ती रहती है।

दुकानदार, साहूकार, कारखानेदार, मिलमालिक, आयकर (इन्कमटैक्स) से बचने के लिये या कम टैक्स देने के लिये अपने बही खातों के जमा खर्च में गड़बड़ करते हैं, उधर आयकर विभाग के अधिकारी किसी छोटे संदेह के भी आधार पर अनाप-शनाप टैक्स लगा देते हैं जिसको भरना कारोबार वाले व्यक्ति को असंभव सा हो जाता है। इस तरह सरकार और जनता का भी पारस्परिक संघर्ष छिड़ जाता है।

उद्योग धन्धे वाले भी अधिकतर अपने कार्य मे अनीति का आश्रय लेकर धनपति बनने का यत्न करते है वे अपने उत्पादन में नकली पदार्थों की मिलावट करके तत्काल तो कुछ अनुचित अधिक लाभ उठा लेते हैं किन्तु बाद में यह अनीति उनके लिये ही घातक हो जाती है।

खाने पीने के पदार्थों में तथा औषधियों में भी अयोग्य पदार्थों का मिश्रण करके इसी बुरी नीयत के कारण खाद्य विक्रेता तथा औषधि निर्माता जनता के जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं। लोगों को शुद्ध दूध, घी, तेल आदि पदार्थ मिलना दुर्लभ हो गया है।

जो मनुष्य अनीति से बचकर व्यापार करते हैं वे कभी चुंगी महसूल की, कभी बिक्री टैक्स की; कभी ग्राहकों से झूठ बोलने की अनीति तो कर ही बैठते हैं।

इसी तरह देखा जाय तो ९९ प्रतिशत (फीसदी) धन-उपार्जन अनीति, अन्याय से होता है इसी कारण श्री गुणभद्र आचार्य आत्मानुशासन में लिखते हैं—

शुद्धैर्धनैर्विवर्द्धन्ते सतामपि न सम्पदः।

न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥

यानी—न्यायपूर्वक उपार्जित शुद्ध रुपये पैसों से धार्मिक सज्जनों की भी सम्पत्ति नहीं बढ़ा करती, अर्थात् उनकी कमाई में भी थोड़ी बहुत अनीति होती ही है। नदियाँ स्वच्छ पवित्र जल से नहीं भरा करती उनमें नदी नालों का अशुद्ध गन्दा पानी ही प्राय. पहुँचता है।

धन उपार्जन में जब इस तरह से अनीति, धोखेबाजी, विश्वासघात, बेईमानी का आश्रय लिया जाता है तभी आज कल पहले की अपेक्षा अधिक धन समागम होने पर भी लोगों की सम्पत्ति में, सुख शान्ति में, स्वास्थ्य मे, पारिवारिक अभ्युदय में उल्लेख करने योग्य प्रगति नहीं दिखाई देती। प्रायः प्रत्येक गृहस्थ किसी न किसी विपत्ति का शिकार बना हुआ है। एक ओर से धन आ रहा है दूसरी ओर से चोरी, डकैती, मुकद्दमेबाजी, बीमारी, सन्तान द्वारा अपव्यय आदि मार्गों से धन निकला जा रहा है। जिस धन उपार्जन के लिये दुनियाभर के पाप अनर्थ अन्याय किये जाते हैं, अपमान सहन किया जाता है, वही धन दो चार पीढ़ी तक भी नहीं ठहरने पाता।

एक दूध बेचने वाला दूध बेच कर बहुत से रुपये अपनी बासनी (कमर से लपेटनी वाली रुपये रखने की कपडे की नली) में भर कर नगर से लौटा। मार्ग में एक नदी पडती थी, गर्मी के दिन थे, नदी में पानी साफ और ठंडा था। यह देखकर उसने अपने कपडे उतार कर नदी में स्नान करना शुरू किया। रुपयों की बासनी भी उसने अपनी कमर से खोल कर किनारे पर कपड़ों के साथ रख दी।

उसी समय एक बन्दर आया वह झट उसकी वह बासनी उठाकर पेड़ पर चढ़ गया। पेड़ की डालियां नदी पर झुकी हुई थीं, वहाँ पर वह बन्दर जा बैठा। यह देखकर दूध वाला हाय-हाय मचाने लगा। हल्ला शोर सुनकर वहां बहुत से आदमी एकत्र हो गये।

बन्दर से बासनी लेने का कुछ भी उपाय किसी को न सूझा, क्योंकि लोगों को डर था कि यदि बन्दर को कुछ छेड़ा गया तो बन्दर बासनी को नदी में फेंक देगा, अतः सभी किंकर्तव्य विमूढ बने हुए थे।

उधर बन्दर ने बासनी खोल कर एक एक रुपया निकालना शुरू किया, बन्दर रुपया दूध वाले को दिखा दिखा कर नदी में फेंकता गया, कोई कोई रुपया नदी के किनारे पर फेंक देता था। इस तरह उसने कुछ रुपये किनारे पर फेंके वह तो दूध वाले को मिल गये। शेष सब रुपये नदी में डाल दिये।

सब लोगों ने दूध वाले से कहा कि तेरी सच्ची कमाई दूध की तुझे मिल गई और जितना तूने दूध में पानी मिलाकर बेचा था उसके रुपये नदी में चले गये।

न्याय से कमाया हुआ रुपया-पैसा ही ठहरता है, अन्याय का संचित धन नहीं ठहरने पाता।

प्रवचन नं० २२

स्थान:— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, देहली।

तिथि:— आषाढ़ कृष्णा ७ रविवार, २६ जून १९५५

अनुकम्पा (दया)

फलों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—१. जो भीतर और बाहर से नीरस हैं जैसे-सुपारी। २. जो बाहर मीठे हैं किन्तु भीतर से नीरस है जैसे—बेर। ३. जो बाहर नीरस या कठोर हैं भीतर से नम्र, स्वादिष्ट हैं जैसे—बादाम, नारियल, अखरोट आदि। ४. जो बाहर भी कोमल मीठे सरस हैं और भीतर भी मीठे कोमल सरस हैं जैसे—अंगूर। ठीक इसी प्रकार मनुष्यों की चार श्रेणियाँ हैं—१. जिनका हृदय भी कोमल है और वाणी तथा शारीरिक प्रवृत्ति भी कोमल है। २. जिन का हृदय कोमल है किन्तु जो बेलाग सत्य साफ कह देते हैं वह वचन चाहे सुनने वाले को मीठा प्रतीत न हो। ३. जो बाहर से मीठे हों जिन की वाणी और व्यवहार सरस रुचिकर दीखता हो किन्तु हृदय कठोर काला हो। ४. जिनका हृदय भी कठोर तथा काला हो और जिनका वचन कठोर अप्रिय हो साथ ही शरीर भी भयानक हो।

पहली श्रेणी के मनुष्य अति सज्जन होते हैं, जैसे कि महाव्रती साधु। वे भाषा समिति से हित-मित प्रिय वचन बोलते हैं, अत्यन्त दयालु होने से उनकी शारीरिक प्रवृत्ति भी दूसरों के लिए हितकारी होती है, जो किसी भी प्राणी को लेशमात्र भी कष्ट नहीं देते। यदि कोई या मूर्ख उनको प्राण नाशक भी कष्ट देता है तो भी वे उसपर क्रोधित नहीं होते उसको शुभ-आशीर्वाद ही देते हैं। रात्रि दिन स्व-कल्याण, पर उपकार करना जिन का कार्य होता है। ये उत्तम पुरुष कहलाते हैं।

दूसरी श्रेणी के मनुष्य सज्जन होते हैं उनके हृदय में दूसरों के लिये सद्भावना होती है, दूसरों की उन्नति देखकर जिन्हें हर्ष होता है, किन्तु बोलने मे साफ साफ सत्य कह देते है वह बात यदि किसी को अप्रिय लगती है तो लगे, उसकी उन्हें चिन्ता नहीं होती, मीठा बोलकर दूसरों को प्रसन्न करना, चापलूसी खुशामदी वचन कहने की जिन्हे आदत नहीं होती, अतः वे बाहर से कठोर प्रतीत होते हैं, सरस नहीं दिखाई देते। स्वार्थ-साधन के लिये अन्य व्यक्ति को हानि नहीं पहुंचाते, परन्तु स्वार्थ का घात करके जो परोपकार भी नहीं करते यानी—जिस कार्य में अपने को हानि न हो ऐसा परोपकार का कार्य कर देते हैं। ऐसे पुरुष मध्यम कहे जाते हैं।

तीसरी श्रेणी के मनुष्य भीतरी दुष्ट होते हैं, उन का बाहरी व्यवहार मीठा होता है, बहुत मीठा बोलते है, सभ्य भाषा में दूसरों का मन अपनी ओर खींच लेते हैं, शारीरिक आचरण में भी जिन के कठोरता नहीं दिखाई देती, बहुत शिष्ट-सज्जन प्रतीत होते हैं किन्तु उनका हृदय मीठा नहीं होता, उनका हृदय काला होता है, मन में दूसरों को हानि पहुँचाने की भावना बनी रहती है, दूसरों की हानि या पतन पर जिन्हें हर्ष होता है। स्वार्थ-साधन के लिये जिन्हे अन्य जीवों को कष्ट देने में भी संकोच नहीं होता 'मुख में राम बगल में छुरा' आदि उपाधियां जिन पर चरितार्थ होती हैं। ऐसे मनुष्य दुष्ट कहे जाते हैं।

चौथी श्रेणी के मनुष्यों का बाहरी और भीतरी बर्ताव कठोर होता है, उनका मन भी काला होता है और उनके वचन भी कड़वे होते हैं। तथा जिन की आकृति भी भयानक होती है। उनको देखते ही जानवरों तक को डर लगता है। जो किसी का उपकार करना तो जानते ही नहीं। दूसरों को हानि पहुचाने के लिये यदि उन्हे अपनी भी कुछ हानि करनी पड़े तो भी वे अच्छा समझते हैं। दूसरों की हानि होते देखकर या सुनकर जिन को बहुत हर्ष होता है, जिन्हें मारना, कूटना, गाली-गलौज देना, क्लेश करना, भय उपजाना, शोर मचाना, अन्य का अपमान करना, रात दिन प्रिय मालूम होता है। ऐसे महादुष्ट या अधम कहे जाते हैं।

इसी तरह की मिलती जुलती श्रेणियाँ पशुओं मे भी होती हैं, गाय आदि अनेक पशु पक्षी ऐसे होते हैं जो किसी अन्य जीव को कष्ट नहीं देते. स्वयं कष्ट सहकर लोक कल्याण के लिये अमृत जैसा गुणकारी दूध देते हैं। हिरण, कबूतर आदि निरामिषभोजी (मांस न खाने वाले) भोले जीव ऐसे हैं जो किसी को कष्ट तो नहीं देते किन्तु किसी का उपकार भी नहीं करते। बगुला, सारस आदि ऐसे जीव हैं जो बाहर से दीखने में उज्ज्वल साधु दीखते हैं, एक टांग उठाकर ध्यानी साधु की तरह खड़े हो जाते हैं परन्तु भीतर से इतने काले होते हैं कि मछली नजर आते ही झट दबोच लेते हैं, ससार में भोजन के लिये असंख्य पदार्थ हैं किन्तु वे मछलियां पकड़कर ही खाते है। तथाच—कौवा, मगर, काला सर्प, भेड़िया, तेंदुआ, चीता आदि अनेक ऐसे जानवर है जो बाहर से भी भयानक एव काले हैं और जिन का हृदय भी काला होता है। सदा बुरे पदार्थ खाना, दुष्टता से दूसरे जीवो को दुख देना जिन का स्वभाव है, कभी किसी का भला करना तो जिन को आता ही नहीं।

परन्तु मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अच्छे संस्कारों में आ जावे तो महान् स्व-पर-उपकारी साधु बन जावे, जगत् के कल्याण के लिये सभी सम्भव कार्य कर डाले और यदि वह कुसस्कारों में पड़कर दुष्ट प्रकृति धारण कर ले तो ऐसा महादुर्जन कुकर्मी भी बन जाता है कि ससार में उसके समान भयानक जीव भी न मिल सके। मनुष्य सातवें नरक तो जा ही सकता है किन्तु उसके परिणाम इतने भयानक दुष्ट उग्र हो जाते हैं कि उस समय सातवें नरक की आयु बांधने के भावों से भी अधिक बुरे भाव होते हैं जिन से कि किसी भी आयु का बन्ध नहीं होता क्योंकि संसार में सातवें नरक से भी बढ़कर दुखदायी कोई स्थान नहीं पाया जाता।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है वह स्वभावतः परिवार तथा समाज के साथ रहा करता है अकेला दुकेला रहकर उसका निर्वाह नहीं हो सकता। मनुष्यों में जब तक आपस का सहयोग सहानुभूति न होवे तब तक उनका जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। अतः जो मनुष्य अति दुष्ट प्रकृति के महाभयानक प्राणी माने जाते है उनका निर्वाह (गुजारा) भी अकेले नहीं होता उन्हें भी कुछ न कुछ अपना समाज (समुदाय) बनाना ही पड़ता है तभी वे जीवित रह सकते हैं।

सामाजिक रूप में रहने के लिये मनुष्य के हृदय में सहानुभूति (हमदर्दी) का होना आवश्यक है, मनुष्य यदि अपने-समाज के जाति भाइयों का सुख दुःख अनुभव न करे उनके सुख दुःख में भाग न बटावे तो वह समाज के रूप में कदापि नहीं रह सकता, वैसे तो यह बात अति दुष्ट पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है वे भी अपना झुण्ड बनाकर रहते हैं परन्तु वे अकेले रहकर भी अपना जीवन बिता लेते हैं, सिंह प्रायः अकेला ही रहता है परन्तु मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता।

तो हां, जिस सहानुभूति गुण के कारण मनुष्य समाज के रूप में रहता है उस सहानुभूति की माता (उत्पन्न करने वाली) है 'अनुकम्पा' जिसका प्रसिद्ध नाम दया है। दया गुण के कारण मनुष्य का हृदय दूसरे का दुःख देखकर पिघल जाता है, तलमला उठता है, व्याकुल (बैचेन) हो जाता है, रो उठता है और स्वयं ऐसी सद्भावना प्रगट होती है कि उस दुःखी जीव का दुःख दूर हुए बिना शान्ति नहीं आती उस दुःख दूर करने में चाहे अपने को कुछ कष्ट भी क्यों न उठाना पड़े। यह दया का भाव मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक होता है, किसी की प्रेरणा पर ही नहीं होता।

एक दयाचन्द्र नामक युवक था, एक दिन गर्मियों के दिन में वह दोपहर के समय एक वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ विश्राम कर रहा था। सूर्य की किरणों से जमीन पर गर्म तवे की तरह तप रही थी। उसी समय दयाचन्द्र ने देखा कि उस पेड़ से एक बीछू जमीन पर रेत में गिरा है, गर्म रेत मे पड़ कर वह तड़फड़ाने लगा। यह देखकर दयाचन्द्र को दया आई, उस ने बीछू को उठाकर पेड़ की ठंडी छाया में रखना चाहा, परन्तु बीछू को उठाते ही बीछू ने दयाचन्द्र के हाथ में डंक मारा।

बीछू के काटने से दयाचन्द्र को बहुत पीड़ा हुई, उसने ज्योंही अपना हाथ झटकारा कि बीछू फिर गर्म रेत में गिर कर तड़फड़ाने लगा। बीछू को देखते ही दयाचन्द्र अपना दुःख भूल गया उसने फिर बीछू को उस रेत में से उठाकर छाया में रखना चाहा, ज्योंही उसने बीछू उठाया कि बीछू ने छूते ही फिर डंक मारा। दुबारा काटने से दयाचन्द्र के हाथ से बीछू रेत में ही गिर पड़ा और गर्म रेत में पहले की तरह तड़फड़ाने लगा। दयाचन्द्र से बीछू का दुःख न देखा गया और उस ने बीछू के प्राण बचाने के लिए बीछू को उठाया, बीछू ने तीसरी बार भी दयाचन्द्र को काटा परन्तु अब की बार दयाचन्द्र ने उसे छाया में रख ही दिया।

वहाँ देखने वाले मनुष्यों ने दयाचन्द्र से कहा कि 'तू बहुत मूर्ख है, बीछू के बार-बार काटने पर भी उसे उठाता रहा।' दयाचन्द्र ने उत्तर दिया कि मैं क्या करूँ, मुझ से उसका तड़फड़ाना नहीं देखा गया। 'यदि बीछू ने अपनी डंक मारने की आदत नहीं छोड़ी तो मैं दया करने की अपनी आदत कैसे छोड़ देता ?'

इसी दया भाव के कारण मनुष्य दूसरों का दुःख दूर करने के लिये झट तैयार हो जाता है, दूसरों का दुःख दूर करते हुए कभी-कभी दयालु मनुष्य अपने प्राणों की भी चिन्ता न करके भयानक विपत्ति में फंस जाते है, दूसरों को बचाते हुए स्वयं मर भी जाते हैं।

अभी कुछ मास पहले मध्यप्रदेश की एक कोयले की खान में ११२ मजदूर कोयला खोद कर निकाल रहे थे कि अचानक पास की दूसरी खान के स्रोत से उस खान में पानी भरने लगा तब सब मजदूर अपने प्राण बचाने के लिये लिफ्ट से बाहर आने लगे। पानी बहुत तेजी से खान में भर रहा था, लिफ्ट भी शीघ्र उन्हें बाहर निकालने के लिये कार्य कर रहा था। एक मजदूर जो खान से बाहर आ गया था, वह खान में फँसे हुए दूसरे मजदूरों को बचाने के लिए लिफ्ट द्वारा बार बार खान में जाता था और मजदूरों को बाहर ले आता था। पाँचवीं बार जब वह खान में गया तो उसने दूसरे मजदूर को तो लिफ्ट पर चढ़ा दिया परन्तु आप न चढ़ सका और वहीं ८० फुट भरे हुए पानी में डूब कर मर गया।

इस प्रकार दयालु पुरुष दूसरों की रक्षा करने में अपने कष्टों को भूल जाते हैं, इसी दया भाव के कारण मनुष्यों में परस्पर प्रेमभाव बना हुआ है और प्रेम के कारण मनुष्य आपस में मिल जुलकर रहते हैं। परिवार, जाति, समाज के संगठन इसी आपसी प्रेम के कारण बने हुए हैं।

कुत्ता अपने जाति भाई दूसरे कुत्ते को देखकर उसे काटने के लिये दौड़ता है और यदि उसको कोई न रोके तो वह दूसरे कुत्ते को मार ही देता है। इस आपसी द्वेष और निर्दयता के कारण कुत्तों का आपसी संगठन नहीं दिखाई देता और न वे बड़ी संख्या में कहीं रहते हैं। दूसरे पशु आपस में प्रेम से रहते हैं एक एक का दुःख दूर करने में परस्पर सहायता करते हैं अत उनका झुण्ड इकट्ठा भी रहता है। अतः संगठन का मूलकारण 'दया या अनुकम्पा' है।

दया आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है जो कि प्रत्येक जीव में पाया जाता है। जो जानवर दुष्ट प्रकृति के होते हैं उनके हृदय में भी दया का अंश रहता है जिससे कि वे अपने बच्चों को दुःख नहीं होने देते, बड़ी सावधानी से चौकन्ने रहकर उनका पालन पोषण करते हैं। भेड़िया बहुत निर्दय दुष्ट जानवर है परन्तु उसे भी कभी कभी दूसरों पर दया आ जाती है इसी कारण जब वह खाने के लिये मनुष्य के बच्चे को उठाकर ले जाता है तब कभी कभी उसे दया आ जाती है और उस मनुष्य के बच्चे को मारता नहीं बल्कि उसे अपने बच्चों की तरह ही पाल लेता है, मादा भेड़िया उसे अपना दूध पिलाकर पाल लेती है। भेड़ियों द्वारा पाले गये ऐसे अनेक बालक बालिकायें भेड़ियों की मांद से मिली हैं।

इसी तरह अन्य खूंख्वार भयानक पशुओं तथा दुष्ट मनुष्यों के हृदय में भी अनुकम्पा छिपी रहती है जिससे कि अपने बच्चों तथा सम्बन्धियों को दुःखी देखकर उनका मन व्याकुल हो उठता है। इसी से जाना जाता है कि दूसरों को मारना, सताना, दुःख देना बड़ा पाप है और दूसरे जीवों पर दया करना बड़ा धर्म है।

बुद्धिमान् मनुष्यों का कर्तव्य है कि सदा दीन दुःखी जीवों पर अनुकम्पा करके उनके दुःख दूर करते रहे। जो मनुष्य दयालु चित्त होते हैं दूसरे जीव उनसे डरते नहीं हैं निडर होकर उनके पास आ जाते है, उनसे प्रेम करते हैं। खूंख्वार निर्दय पशुओं पर भी उनके दयाभाव का प्रभाव पड़ता है और वे भी उन दयालु पुरुषों के सामने अपनी क्रूरता छोड़ देते हैं। दीवान अमरचन्द जी शेर के पिंजड़े में निडर होकर घुस गये थे, शेर पर उनके दयार्द्र चित्त का ऐसा प्रभाव पडा कि उसने दीवान जी को कुछ भी नहीं छेड़ा।

अतः महान् धर्म दया मनुष्य को कभी न छोड़नी चाहिये। अपने घर पर यदि कोई भूखा आवे तो स्वयं अपना भोजन उसको करा दो। पशु, पक्षी, कीडा, मकोड़ा कोई भी जीव हो सदा सब पर दया करते रहो।

धार्मिक पुरुष का मुख्य चिह्न दया है। जैनधर्म दया पर आश्रित है। अत संसार के दुःखी जीवों का अपनी शक्ति के अनुसार दुःख मिटाना प्रत्येक जैन का कर्तव्य है।

—०—

प्रवचन नं० २३

स्थानः—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, देहली।

तिथिः—
आषाढ़ शुक्ला ८ सोमवार, २७ जून १९५५

आस्तिक्य

संसार में जन्म मरण करने और अनेक प्रकार के दुःख उठाने का मूल कारण 'कुज्ञान' है। अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं—१. ज्ञान की कमी (अपूर्णता), २. कुज्ञान। जब तक ज्ञानावरण कर्म समूल क्षय नहीं होने पाता तब तक मनुष्य अपूर्ण रहता है, ज्ञान में कमी बनी रहती है। पूर्ण श्रुतज्ञान, परमावधि तथा विपुलमति मन.पर्ययज्ञान हो जाने पर भी ज्ञान का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। उस ज्ञान की कमी के कारण उतने अज्ञात अंश में जीव को बारहवें गुणस्थान तक अज्ञान बना रहता है। तथा अन्य साधारण जीवों में ज्ञान अंश और भी कम होता है।

दूसरा अज्ञान—आत्मा शरीर, बंध मोक्ष, संसार आदि के विषय में मिथ्या श्रद्धा का साथी ज्ञान होता है जिसे कुज्ञान या खोटा ज्ञान कहते है। जिस तरह शराब की बोतल मे दूध भर दिया जाय तो देखने वाले शराब की बोतल के कारण उसे शराब ही समझते हैं और उस बोतल का कुछ असर भी दूध में आ जाता है, इसी तरह मिथ्या श्रद्धा (मिथ्यात्व) के कारण वह ज्ञान भी मिथ्याज्ञान या कुज्ञान कहा जाता है, श्रद्धा के दोष के कारण उस ज्ञान को भी दोषी माना जाता है। होता यद्यपि यह भी अपूर्ण ज्ञान ही है किन्तु मिथ्यात्व का सहवास होने से उस ज्ञान द्वारा जानने में मिथ्यापन की झलक रहती है। इसी कारण मिथ्याज्ञान नामधारी अज्ञान मुख्यतया से संसार भ्रमण का कारण है।

ज्ञान की कमी से स्वल्पज्ञानी जीव संसार, मुक्ति, आत्मा परमात्मा आदि आध्यात्मिक विषयों को ठीक नहीं समझ पाते। इस तत्वज्ञान के न होने से वे आत्मकल्याण से दूर रहे आते हैं। इसलिये तात्विक ज्ञान की कमी से भी संसार से मुक्ति नहीं हो पाती।

मिथ्याज्ञान की वजह से जीव जब शरीर को ही आत्मा समझने लगे तब तो मुक्ति प्राप्त करने के लिये उसकी विचारधारा भी नहीं बन सकती। वह तो संसार में विषय भोगों से प्राप्त होने वाले सुखों को सच्चा सुख समझता है, उसी की इच्छा करता है और उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। ऐसे अज्ञानी जीव की सांसारिक परम्परा में तब तक कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं आता जब तक कि उसकी श्रद्धा ठीक दृष्टिकोण पर न आ पावे।

ऐसे मिथ्या श्रद्धालु (मिथ्यात्वी) जीव अपने आत्मा के विषय में भी अनेक प्रकार की कल्पनाऐं कर लेते हैं, कोई आत्मा को ब्रह्म का एक अंश मान लेते हैं, कि एक ही ब्रह्म को जब अनेक होने की इच्छा होती है ('एकोऽहं बहुःस्याम्'। यानी मैं एक हूं बहुत हो जाऊँ) तब संसार में दीखने वाले अनन्त जीव हो जाते हैं। कोई आत्मा को स्वतन्त्र पदार्थ न मान कर क्षणिक ज्ञान की धारारूप मानते हैं। कोई आत्मा को निष्क्रिय मानते है। कोई आत्मा में ज्ञानगुण नहीं मानते, कोई आत्मा को अणुरूप मानते हैं। इस तरह आत्मा के विषय के विविध प्रकार की मान्यतायें मिथ्या श्रद्धा के कारण हो गई है।

इनमें से ही एक चार्वाक मत है जो कि आत्मा की सत्ता ही नहीं मानता, और जब आत्मा ही नहीं तो चार्वाक मतानुसार पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि भी कुछ नहीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के मेल से चैतन्य शक्ति शरीर में हो जाती है, मृत्यु के समय वह चैतन्य शक्ति नष्ट हो जाती है। इसके सिवाय जीव और कुछ नहीं है। ऐसी चार्वाक मत की मान्यता है। इसी मत को नास्तिक मत कहा गया है। (पुनर्जन्म परलोकादि नास्तीति मतिर्यस्य सनास्तिकः)।

वाममार्ग इसी मत का एक भेद था। वाममार्गियों का मंदिर एक बड़ा मकान होता था जिसमें एक ही द्वार होता था। उस मकान में वाममार्गी स्त्री, पुरुष ही एकत्र होते थे अन्य कोई नहीं जाने पाता था। वे सभी स्त्री पुरुष वहाँ शराब पीते थे। फिर स्त्रियां एक स्थान पर अपनी चोली उतार कर रख देती थीं। सब चोलिया इकट्ठी हो जाने पर वाममार्गी पुरुष एक एक चोली उठा लेते थे, तदनन्तर जिस स्त्री का वस्त्र जिस पुरुष के हाथ पड़ जाता था उस स्त्री के साथ उसी मकान में वह पुरुष मैथुन करता था। इस तरह का भ्रष्टाचार वाममार्गियों ने कुछ समय भारत में फैलाया था, किन्तु जनता के जाग्रत होते ही वह वाममार्ग समाप्त हो गया।

नास्तिक लोगों का सिद्धान्त है कि खूब खाओ पियो, विषय सेवन करो, भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक न करो। पास में रकम न हो तो उधार लेकर खाओ पियो, जो कुछ है सो इसी लोक में है परलोक आदि कुछ नहीं है। उन्होंने इसके लिये कुछ सिद्धान्त बना रक्खे थे जिन के कुछ प्रसिद्ध श्लोक निम्नलिखित हैं—

> मद्यं मासं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
> एते पंच मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे॥
> पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
> पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥
> मातृ योनि परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु। इत्यादि

यानी—मद्य, मांस, मछली, मुद्रा (आसन) और मैथुन (काम सेवन) ये पाँच मकार प्रत्येक युग में मोक्ष दाता हैं। अर्थात्—शराब पीने, मांस, मछली खाने, विविध आसनों से मैथुन करने से मुक्ति मिल जाती है। शराब को बार बार पीकर जब नशे में चूर होकर पृथ्वी पर गिर पड़ो तब उठकर शराब पियो। नरक आदि से मत डरो क्योंकि मर जाने के बाद फिर दूसरा जन्म होता ही नहीं है। केवल अपनी माता से कामक्रीड़ा न करो, शेष सभी स्त्रियों से कर सकते हो।

यद्यपि पहले जमाने के वाममार्गियों जैसे दुराचारी सिद्धान्तों की मान्यता आज कल नहीं है परन्तु फिर भी बहुत से मनुष्यों की ऐसी समझ है कि नरक, स्वर्ग, मोक्ष आदि कल्पित बातें हैं वास्तव में ये कुछ चीजें नहीं हैं। आत्मा दूसरा जन्म भी नहीं लेती। इसलिये खान पान पुण्य, पाप आदि की कुछ चिन्ता न करो।

किन्तु यह समझ गलत है क्योंकि जीव एक स्वतन्त्र अमूर्तिक पदार्थ है, वह शरीर में रहता है, परन्तु शरीर मय या शरीर रूप ही नहीं है, शरीर से भिन्न वस्तु है जिस तरह अन्य पदार्थ अपनी अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं उसी तरह जीव की सत्ता भी पृथक् स्वतन्त्र है।

शरीर की उत्पत्ति जड़ पदार्थों से होती है, अत शरीर सचेतन जड़ पदार्थ है, जीव जब तक उस में रहता है तब तक जीव के कारण शरीर में चैतन्य प्रतीत होता है। जीव शरीर के प्रत्येक अश में (बाहर निकले हुये शिर आदि के बालो और बढ़े हुए सफेद नाखूनों के सिवाय) रहता है अत शरीर में लगा हुआ छोटा सा कांटा भी जीव को मालूम हो जाता है, जीव के कारण नेत्र कान नाक आदि इन्द्रियॉ देखती सुनती सूंघती आदि है, जीभ बात चीत भी जीव के कारग करती है ठडे गर्म आदि स्पर्श का ज्ञान भी शरीरको जीव के कारण ही होता है। आना, जाना, खाना, पीना, गाना, रोना, हंसना आदि चैतन्य क्रियायें भी शरीर में जीव के कारण ही हुआ करती हैं।

जब जीव शरीर को छोड़कर चल देता है तब शरीर में ज्यों का त्यों रहते हुए भी निष्क्रिय निश्चेष्ट हो जाता है फिर वह न उठता बैठता है, न आता जाता है, न खाता पीता है, वे ही ऑखें होती हैं किन्तु देखती नहीं हैं, नाक ठीक वैसी ही बनी होती है परन्तु जीव न रहने से सूंघ नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते और मुख कुछ बोल नहीं-सकता उसी शरीर को आग पर रख देते हैं, शरीर जलकर भस्म तो हो जाता है किन्तु उसे अग्नि की गर्मी जरा भी ज्ञान नहीं हो पाती।

जीवित अवस्था में भी अनेक बातों का शरीर का जीव पर और जीव का शरीर पर प्रभाव नहीं पड़ता। शरीर के छोटे बडे आकार प्रकार, सुन्दर असुन्दर रूप रंग से शरीरस्थ आत्मा के कम अधिक गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं। अच्छे सुडौल बलवान शरीर वाले व्यक्ति मूर्ख भी होते हैं, और नाटे बदसूरत दुबले पतले शरीर वाले मनुष्य अच्छे विद्वान भी होते है। चाणक्य कितना भारी बुद्धिमान् कूट नीतिज्ञ था किन्तु उसका शरीर महाकाला बदसूरत था। शरीर बुड्ढा निर्बल हो जाता है परन्तु उस समय आत्मा का अनुभव ज्ञान युवावस्था से भी अधिक बढ़ जाता है। आत्मा मे हर्ष शोक भय आदि अनेक परिणाम होते हैं परन्तु शरीर वैसा ही बना रहता है। शरीर मोटा पतला लम्बा आदि होता है परन्तु उस शरीर का आत्मा वैसा ही बना रहता है। इन बातों से ज्ञात होता है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न पदार्थ है।

डाक्टरों ने यह बात सिद्ध की है कि शरीर का प्रत्येक अंग बदलता रहता है धीरे धीरे बदलते बदलते शरीर का रक्त मांस आदि बदल जाते हैं, हड्डियॉ दो वर्ष में सब की सब नई हो जाती है। इस तरह प्रत्येक जीव का शरीर अपने ही रूप में एक ही जीवन में अनेक बार बदल जाया करता है, उसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन हो जाया करते हैं। परन्तु आत्मा वही एक बना रहता है वह बदल कर दूसरा आत्मा नहीं हो जाता। ८ वर्ष की छोटी आयु में गणित के लिये जो पहाड़े मनुष्य याद कर लेता है, वही स्मृति (याददाश्त) ८० वर्ष की बुड्ढी आयु में भी बनी रहती है, जो कार्य मनुष्य बचपन में कर लेता है वे उसे जन्म भर याद रहे आते हैं। यदि शरीर आत्मा एक ही होता तो शरीर के दो दो वर्ष बाद बदलते रहने पर आत्मा की वे बातें भी बदल जानी चाहियें।

पूर्वभव-स्मरण

शरीर ही मरता है और नया उत्पन्न होता है, आत्मा न मरता है न जन्म लेता है, वह तो जन्म लेने वाले नये शरीर में नये किरायेदार की तरह रहने लगता है इसी कारण किसी किसी मनुष्य को अपने पहले जन्म की अनेक बातें दूसरे जन्म में स्मरण हो आती है।

लगभग १५-१६ वर्ष पहले दिल्ली में एक ७-८ वर्ष की शान्तिदेवी नामक लड़की थी, वह अपने माता-पिता से कहा करती थी कि मै शीतला घाटी पर मथुरा में रहती थी, एक दिन दिल्ली में आये हुए एक कथा वाचक ब्राह्मण को पहचान लिया कि आप हमारे शीतला घाटी मुहल्ले में भी कथा करने आते थे। इस पर लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। तब उस लड़की को मथुरा ले गये, स्टेशन पर उसे छोड दिया गया वह अपने आप शीतला घाटी पहुची और अपने पहले जन्म के मकान में घुस गई। वहाँ उसने अपने पूर्वभव के पुत्र, पति आदि को पहिचान लिया। और अपने कोठे के कोने में कुछ रुपये गाड़ रक्खे थे वे भी खोदकर निकाल दिखाये। जिससे यह बात सिद्ध हो गई कि उस लड़की को अपने पहले जन्म की घटना सत्य याद थी।

ऐसे पूर्वभव के स्मरण वाली अनेक घटनायें प्रकाशित हुआ करती हैं। इससे सिद्ध होता है कि जीव अपने संचित किये हुए कर्मों के अनुसार दूसरे जन्म में सुख दुःख भुगता करता है। इसी तरह ये जीव अनादि काल से जन्म मरण करते हुए चले आ रहे हैं।

एक ही दरिद्र माता पिता से उत्पन्न हुए सगे दो भाइयों में से एक तो किसी धनिक मनुष्य के घर दत्तक पुत्र बनकर जन्म भर सुख से रहता है, दूसरा जन्म भर दरिद्रता में दुःख भोगा करता है, कोई व्यक्ति जन्म भर निर्बल रोगी बना रहता है, किसी का शरीर बलवान नीरोग रहता है, परस्पर में ऐसा अन्तर मनुष्यों में क्यों पाया जाता है? जब इस प्रश्न पर विचार करते है तो मालूम होता है कि किन्हीं मनुष्यों को पूर्वजन्म के उपार्जित किये शुभ कर्म के उदय से इस भव में सुख सामग्री मिली है और जिन्होंने पहले भव में पापकार्य करके अशुभ कर्म कमाया उनको यहाँ दु खदायी सयोग मिले हैं।

अनेक स्त्री पुरुषों को कभी कभी भूत, प्रेत, वाधा सताया करती है जिसमें वे अपने पूर्वभव की घटनायें बतलाते है तथा वर्तमान में अपना जन्म व्यन्तर आदि देवों में बतलाते हैं इससे यह बात प्रमाणित होती है कि मनुष्य और पशु योनि के सिवाय देवयोनि भी है।

इस प्रकार धार्मिक मनुष्य, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पुण्य, पाप, कर्म का फल आदि बातों में अपनी आस्तिकता प्रगट करते हुए पाप कार्यों से बचते रहते हैं।

—०—

प्रवचन नं० २४

स्थानः— | तिथिः—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। आषाढ़ शुक्ला ६ मंगलवार, २८ जून १६५५

सुख कहां है ?

जगत् का प्रत्येक प्राणी जिस तरह अपनी पृथक् सत्ता रखता है, अपने शरीर का स्वामी स्वयं आप है (निगोदी जीवों के सिवाय) उसी तरह प्रत्येक प्राणी का दृष्टिकोण और चेष्टा भी भिन्न है। माता पिता, पुत्र, पुत्री, भगिनी भाई, पति पत्नी तक की विचारधारा एक-सी नहीं पाई जाती। इसी कारण उनकी क्रियाओं में भी स्थूल सूक्ष्म रूप से भेद भाव पाया जाता है। जब एक ही परिवार में यह बात है तब विविध परिवारों, विविध नगरों, जातियों तथा विविध प्रान्तों और देशों के स्त्री पुरुषों का ध्येय एक कहाँ हो सकता है। एव पशु पक्षी, कीड़े, मकोड़े, विविध योनियों, विविध वर्गों के जीव जन्तुओं का दृष्टिकोण और भाग दौड़ एक-सी कैसे हो सकती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक जीव अपनी समस्या को भिन्न भिन्न ढंग से हल करना चाहता है।

परन्तु समस्त स्त्री पुरुष (वे चाहे किसी भी वर्ग, जाति देश के हों) तथा सभी पशु, पक्षी, कीडे, मकोडे आदि जीव जन्तु यहां तक कि देव और नारकी भी भिन्न भिन्न विचारधारा, दृष्टिकोण, चेष्टा आदि रखते हुए भी एक दृष्टिकोण पर सहमत अवश्य हैं वह दृष्टिकोण है 'सुख पाने की इच्छा'। सुख की चाह सभी प्राणियों में पाई जाती है। इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, छत्रपति आदि कोई भी ससारवर्ती जीव क्यों न हो, सुख पाने की अभिलाषा सभी को है। इतना ही नहीं राजसुखों से प्राप्त भोगों को ठुकरा कर वन, पर्वतों में रहने वाले, स्वेच्छा से शारीरिक कष्टों का आलिङ्गन करके कठोर तपस्या करने वाले मुनि साधु, सन्त, महात्मा सुख प्राप्त करनेकी इच्छा से रिक्त नहीं है। उनसे यदि प्रश्न किया जावे कि 'महात्मन्! किस लिये यह सर्दी गर्मी वर्षा के कष्ट सहन कर रहे हो, घर में तुम्हारे पास क्या नहीं था जिसे लेने के लिये जगत की खाक छान रहे हो ?' तो वही उत्तर मिलेगा कि 'सुख पाने के लिये।'

अद्भुत गोरखधन्धा है भोगी भी सुखी नहीं, योगी भी सुखी नहीं, राजा भी सुखी नहीं, रंक तो सुखी है ही नहीं, धनिक सुखी नहीं, निर्धन सुखी नहीं, पशु सुखी नहीं और मनुष्य, देव, दानव भी सुखी नहीं, नारकी तो बेचारा सुखी हो ही कहां से। इस तरह संसार के सभी जीव दुःखी है, अतः उन सबको सुख की इच्छा है।

जिस सुख को सब जीव पाना चाहते हैं वह सुख क्या है और कहां मिलता है ? इस प्रश्न का उत्तर एक-सा नहीं मिलता। किसी के विचार से धन प्राप्त हो जाने में सुख है, क्योंकि उनके विचार के अनुसार धन से सब कुछ मिल सकता है, जंगल में मंगल किये जा सकते है, पृथ्वी पर स्वर्ग बनाया जा सकता है, सारे जगत् को धन के बल पर अपना दास बनाया जा सकता है, धन के सहारे सारे गुण खरीदे जा सकते है। दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर, बनाया जा सकता है। धन के द्वारा शुभ्र निर्मल यश

दिगन्त-व्यापी किया जा सकता है, यानी-संसार का कोई भी ऐसा कार्य नहीं जिसको सरलता से न किया जा सकता हो।

यह धारणा कितनी गलत है इसको एक नहीं अनेक तरह से जाना जा सकता है।

प्रश्न—चोरों का भय किसको होता है? उत्तर—धनवानों। निर्धन फक्कड़ पैर पसार कर घर का द्वार खुला छोड़कर निश्चिन्त सोता है जब कि धनवान मजबूत द्वारों को मजबूत ताले लगाकर पहरेदारों का पहरा रखकर भी रातदिन जागता रहता है, चूहा कुछ खटकाता है कि सेठ जी चोर की आशंका से भयभीत हो जाते हैं। प्रश्न—मानसिंह आदि डाकुओं से कौन डरता है? उत्तर—धनवान्। डाकू की तनी हुई पिस्तौल जब छाती पर मौत का संदेश देती है तब धनिक सोचता है कि मैं निर्धन होता तो अच्छा था। प्रश्न—शत्रुओं का अधिक भय किस को? उत्तर—धनिक को। धन खोसने के लिये और तो और सगे भाई, पिता पुत्र, तथा स्त्री तक शत्रु बन जाको है, घर के बाहर तो उसके अनेक शत्रु होते ही हैं। इसी कारण घर से बाहर जाते समय धनिक को अंगरक्षक (बौडी गार्ड) साथ रखना पड़ता है। प्रश्न—अधिक चिन्तातुर कौन रहता है? उत्तर—धनिक। धनवान को लेने देने, खरीदने बेचने, हानि, लाभ, इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स, मृत्युटैक्स आदि हजारों तरह की चिन्तायें सताती रहती हैं। इस दशा में भी क्या 'धन से सुख की प्राप्ति' सही मानी जा सकती है?

लाहौरमें एक मनुष्य ३०-३५ लाख रुपये की सम्पत्ति का मालिक था, परन्तु १६ वर्ष की आयु से ही उस का पेट इतना खराब हो गया था कि वह मूंग की दाल के पानी के सिवाय अन्य कुछ न पचा सकता था। अतः वह केवल मूँग की दाल का पानी पीकर ही रहता था। बाजार में सुन्दर फलों, मेवों को देख कर रोता था कि मै इन्हें खरीद सकता हूं किन्तु खा नहीं सकता। घर में रोटी, पूड़ी, खीर, हलवा, मिठाई आदि देखकर मन मसोसता था कि मै इनमें से कुछ भी नहीं खा सकता।

बंगाल के एक बडे युवक जमीन्दार की भी जठराग्नि बहुत मन्द थी, रईस था। इस कारण घर में बीसों प्रकार के स्वादिष्ट व्यञ्जन तैयार होते थे, उस की माता भोजन तैयार हो जाने पर एक बड़े सुवर्ण थाल में अलग अलग कटोरियों में भिन्न २ शाक, व्यञ्जन, चटनी, फल आदि रखकर उसके सामने लाती थी, थाल में ऐसी लगभग ५०-५१ कटोरी होती थीं। माता प्रत्येक कटोरीमें रक्खे हुए स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ का नाम क्रमशः बतलाती जाती थी वह युवक धैर्य से सब देखता और सुनता जाता था, अन्त में एक कटोरे में रक्खे हुए उबाले हुए जौ के रस को उठाता और पीकर थाल वापिस कर देता था।

इन दोनों व्यक्तियों से पूछा जाय कि धन में कितना सुख है तो उन का एक ही उत्तर होगा कि 'कुछ नहीं'। उन की सम्पत्ति के बदले में यदि उनका शरीर स्वस्थ हो जाता जिससे कि वे सब कुछ खा पी सकते तो उस के लिए भी तैयार हो जाते। धनिक लोगों को प्रायः शारीरिक स्वास्थ्य का तथा सदाचारी सन्तान का तो अभाव रहता ही है। अनेक दुर्व्यसन भी धन के कारण लग जाया करते हैं। इस कारण धन में सुख समझना भ्रम है।

जानवरों कीड़ों मकोड़ों तथा जिह्वा लोलुपी मनुष्यों को सुख खाने पीने में मालूम होता है। दरिद्र भिखारी यही चाहते हैं कि पेट भर कर अच्छा भोजन मिलता रहे; इसके सिवाय उन्हे कुछ नहीं चाहिये।

किन्तु यह धारणा भी निरी गलत है। क्योंकि यदि भोजन में सुख होता तो भोजन जितना अधिक किया जाता उतना ही अधिक सुख मिलता, परन्तु ऐसा है नहीं। भूख शान्त हो जाने पर वे ही स्वादिष्ट भोजन अरुचिकर प्रतीत होते हैं, उनकी ओर देखा भी नहीं जाता। यदि फिर भी खाया जाय तो वैद्य डाक्टर बुलाने की आवश्यकता पड़ जाती है।

संसार में मरने वाले मनुष्यों में भूख से मरने वालों की सख्या थोड़ी होती हैं, अधिक भोजन करके अजीर्ण आदि द्वारा मरने वालों की संख्या अधिक पाई जाती है।

यदि भोजन मे ही सुख होता तो बुखार में पड़े हुए मनुष्य को मीठा भोजन भी कड़वा क्यों लगता ?

दूध को 'अमृत भोजन' कहते है परन्तु जिस मनुष्य को अतिसार हो गया है जिससे कि उसे लगातार दस्त आरहे हैं उसको यदि वह अमृत भोजन दिया जावे तो वह उसके लिये विष भोजन बन जावेगा।

इस कारण भोजन करने में सुख मानना भी भ्रम है।

कामातुर लोग विषय सेवन में सुख मानते हैं किन्तु यह समझना भी गलत है जैसे कुत्ता हड्डी चबाता हुआ अपने मुख में खून निकाल कर अपने ही रक्त को पीकर हड्डी चबाने में सुख समझता है इसी तरह स्त्री पुरुष अपने ही शरीर की श्रेष्ठ धातु का अपव्यय करके मैथुन में सुख समझते हैं। कामातुर स्त्री पुरुष अनाप शनाप विषय भोगों से अपने शरीर का नाश कर डालते है। क्षय आदि रोग मैथुन से ही होते हैं। इस दशा में कामसेवन में सुख समझना सरासर गलती है।

किन्हीं लोगों के विचार में हृष्ट पुष्ट शरीर से ही सुख मिलता है किन्तु यह धारणा भी ठीक नहीं है क्योंकि अधिकांश परिश्रमी मजदूर किसान अच्छे स्वस्थ बलवान हृष्ट पुष्ट होते हैं परन्तु रात दिन आर्थिक चिन्ता से दुःखी रहते है। परिश्रम करते करते उनका शरीर चूर चूर हो जाता है तब कहीं रूखा सूखा भोजन पाते हैं। अच्छे वस्त्र भोजन घर आदि पाने के लिये दुःखी बने रहते हैं।

बहुत से मनुष्य ऊंचा अधिकार (हुकूमत) पाने में सुख मानते हैं। उनके विचार में राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, राज्यपाल बन जाने पर सब सकट दूर हो जाते हैं। परन्तु उनका विचार भी सही नहीं है— क्योंकि जो जितना बड़ा अधिकारी होता है उतनी ही अधिक जिम्मेवारी सम्भालने की चिन्ता उसे लगी रहती है, वह निश्चिन्त नहीं रह पाता। इसके सिवाय बड़े बड़े अधिकारियों के प्राण ग्राहक शत्रु भी बहुत हो जाते है जिससे उन्हे सदा प्राणभय बना रहता है।

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी, प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलालजी नेहरू पहले स्वतन्त्रता के साथ अकेले चाहे जहाँ घूमते फिरते थे किन्तु अब सर्वोच्च अधिकारी बन जाने पर उनकी वह स्वतन्त्रता नष्ट हो गई अब रात दिन उनकी रक्षा के लिये पुलिस और सैनिकों का प्रबन्ध रहता है, फिर बाबूराम रिक्शाचालक नागपुर सरीखे लोग उन पर आक्रमण कर ही बैठते हैं। यूगोस्लेविया के प्रेसीडेण्ड मार्शल टीटो को इतना भय रहता है कि वे जब भारत आये तब यहाँ भी अपने वस्त्रों के भीतर लोहे का कवच पहने रहते थे।

इस तरह उच्च अधिकार पाने में भी सुख नहीं है। इस तरह संसारी जीव जहाँ जहाँ भी सुखका स्रोत (उत्पत्ति स्थान) समझते है, वहाँ सुख का लेश भी नहीं है। हो भी कैसे, सुख तो एक चैतन्य गुण है, वह इन धन भोजन आदि जड़ पदार्थों से नहीं प्रकट हो सकता।

तो सुख आता कहाँ से है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि बाहर कहीं से नहीं आता। आत्मा का ही वह एक गुण है, अतः वह आत्मा से ही प्रगट होता है। आत्म-स्वरूप से अनभिज्ञ संसारी जीव अन्य बाहरी पदार्थों में उसे ढूँढता है। जैसे कस्तूरी वाला हिरण अपनी नाभि की कस्तूरी की सुगन्धि अन्य पदार्थों की सुगन्धि समझ कर अन्य चीजों को सूंघता फिरता है।

हाँ, इतनी बात है कि कर्मों के प्रभाव से आत्मा का वह अटूट सुख का भण्डार छिपा हुआ है। जो सुख संसारी जीव अनुभव करते हैं वह सुख वास्तविक आत्म सुख नहीं है, सुखाभास (सुख-सा मालूम होने वाला है। क्योंकि न तो वह स्वाधीन है, साता वेदनीय आदि के सहारे तथा अन्य भोग्य उपभोग्य पदार्थों का आश्रय प्रगट होता है, थोड़ी देर रहता है फिर नष्ट हो जाता है तथा सुख के समय भी दुःख की झलक आती रहती है, साथ ही किसी न किसी तरह की आकुलता भी उस ससारी सुख में बनी रहती है।

'तत्सुखम् यत्र नाऽसुखम्' यानी—वास्तव में सुख वह है जिसमें दुख लेशमात्र भी न हो। ऐसा सर्वथा दुःख शून्य सुख ससार में किसी भी जीव को नहीं। सर्व सुविधा-सम्पन्न इन्द्र धरणेन्द्र, चक्रवर्ती को भी जन्म मरण, भूख प्यास, तृष्णा आदि का दु.ख लगा ही हुआ है। समस्त आकुलताओं से वे भी छुटे हुए नहीं है। अतएव सभी संसारी जीव वास्तव में निराकुल सुख से रहित हैं, इसी कारण सुख पाने की इच्छा सबको बनी हुई है।

आत्मा अटूट सुख का भण्डार प्राप्त करने का उपाय संसार के विषय भोगों की ओर दौड़ना नहीं है बल्कि उन विषय भोगों को त्यागकर आत्म-लीन होना ही उस सुख को पाने का मार्ग है। इसी मार्ग पर तीर्थंकरों ने चलकर उस सुख को पाया। गृहस्थाश्रम में सासारिक सुख सभी उनको मिले हुए थे परन्तु उन वैषयिक सुखों से उन्हे शान्ति नहीं मिली तभी उन्होंने उन ससारी सुखों को ठोकर मार कर संसार के कोलाहल से एकान्त शान्त बन प्रान्त में आत्म-ध्यान लगाया जिससे उनके आत्मा का कर्म-आवरण दूर हुआ और उन्होंने जन्म, मरण, भूख प्यास आदि से सदा के लिये छुटकारा पाकर अनन्त अक्षय स्वाधीन निराकुल सुख प्राप्त किया।

प्रवचन नं० २५

स्थान:— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि:— आषाढ़ शुक्ला ८ रविवार, २६ जून १९५५

निःशङ्कित अंग

लम्बी यात्रा करते समय जिस प्रकार कोई यात्री कुछ दिन के लिये किसी धर्मशाला में विश्राम करता है। वहाँ कुछ दिन ठहर कर फिर आगे चल देता है उसी प्रकार संसारी जीव जगत् की यात्रा

करता हुआ कुछ समय के लिये नामकर्म द्वारा दिये गये शरीर में ठहर जाता है। परन्तु मिथ्याधारणा-वश यह जीव किराये पर मिले हुए इस शरीर को अपनी हुई वस्तु समझ लेता है और जब नामकर्म अपने उस घर को जीव से खाली कराने लगता है तब शरीर को छूटता देख रोने लगता है। इस तरह मूल में जरा सी भूल के कारण संसारी जीव संसार के सारे ताने बाने बुनता रहता है। शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति समझता है, शरीर की वृद्धि होते देख अपनी वृद्धि मानता है, शरीर क्षीण हो तो कहता है मैं क्षीण होगया और शरीर को बलवान होता देख मोही आत्मा जानता है मैं बलवान हो गया।

इसी के साथ यदि कोई वस्तु शरीर को लाभदायक प्रतीत होती है तो उसको अपने लिये हितकारी समझकर हर तरह से उसे पाने का यत्न करता है, इसके लिये यदि लड़ना झगड़ना पड़े तो लड़ाई झगड़ा भी कर बैठता है। यदि कोई चीज शरीर को रुचिकर नहीं होती तो उससे घृणा करता है। यदि किसी वस्तु से शरीर को कुछ हानि हो तो उससे द्वेष करने लगता है इस तरह संसार में किसी को प्रिय, किसी को अप्रिय, किसी को मित्र, किसी को शत्रु मान बैठता है। सारांश यह है कि कुछ दिन ठहरने के लिये मिले हुए भौतिक जड़ शरीर के कारण यह जीव राग, द्वेष, घृणा, क्रोध, अभिमान, लोभ आदि दुर्भाव स्वयं करता रहता है। इन्हीं भावकर्मों के द्वारा इसके बन्धन के लिये द्रव्य कर्मों का जाल स्वयं बनता रहता है।

सौभाग्य से अच्छे निमित्त मिलने पर जब जीव की मूल श्रद्धा में सुधार हो जाता है तब सम्यक् श्रद्धालु आत्मा शरीर में रहता हुआ भी शरीर को किराये का मकान समझ कर उसके साथ अपना मोह-बन्धन तोड़ देता है, तभी से उसके परिणामों मे क्रोध, मान, लोभ, शोक आदि की मात्रा घट जाती है और आत्म-रुचि बढ़ जाती है, उस समय उसको आत्म चिन्तन में ही आनन्द आता है, वह आत्म-लीन ही रहना चाहता है, ससार के विषय भोगों को भोगते हुए भी उनमें उसको स्वाद नहीं आता अतः वह अपने शरीर, पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, मकान आदि अन्य पदार्थों में तन्मय नहीं होता। उस समय उसको बड़ी शान्ति और आनन्द स्वयं मिलता है, इसी कारण यदि उसके शरीर को कोई बाहरी कष्ट हो तो भी उसकी आत्मा को कष्ट अनुभव नहीं होता। सुकुमाल मुनि के पैरों को गीदड़ी और उसके बच्चे खाते रहे किन्तु उनका ध्यान उस ओर नहीं गया उसका कारण यही था कि वे उस समय आत्म-रस में निमग्न थे।

जिस तरह शरीर में दो हाथ, दो पैर, पेट, छाती, पीठ और शिर ये आठ अग होते हैं इसी प्रकार सम्यक् श्रद्धान (सम्यक्त्व) के भी निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अग होते हैं। इन आठों अगों से सहित सम्यग्दर्शन आत्मा को ससार सागर से पार कर देता है। यदि इन अगों में कुछ कमी रही आवे तो सम्यग्दर्शन में भी उतनी कमी बनी रहती है—

श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड में बतलाया है—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्म सन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥

अर्थात्—किसी भी अंग से हीन सम्यग्दर्शन आत्मा को जन्म मरण से नहीं छुड़ा सकता, जैसे कि विषनाशक मन्त्र में यदि कोई अक्षर कम हो तो उस मन्त्र के जपने से विष बाधा दूर नहीं होती।

अतः सम्यग्दृष्टि पुरुष को अपना सम्यग्दर्शन अखड रखने के लिये सम्यग्दर्शन के आठों अंगों को अखण्ड करना चाहिये।

जिनेन्द्र भगवान् की वाणी में—उनके उपदिष्ट तत्वों में, सूक्ष्म सिद्धान्तों में किसी प्रकार शंका सन्देह नहीं करना (कि 'पता नहीं यह बात सत्य है कि नहीं'), निःशक होकर उसपर विश्वास करना सो निःशंकित अंग है। केवलज्ञान होने से पहले मनुष्य का ज्ञान अधूरा रहता है अतः वह सूक्ष्म बात को नहीं जान सकता। पुद्‌गल का परमाणु, सूक्ष्म स्कन्ध यहाँ तक कि शरीर से रात दिन लगने वाली वायु भी हमको दिखाई नहीं देती, शब्दों को हम अपने कानों से सुनते रहते है। टेलीफोन, रिकार्ड आदि से उसको पकड़ते, दूर भेजते आदि भी हैं परन्तु वह मूर्तिक पदार्थ होता हुआ भी हमको दिखाई नहीं देता, इसी तरह बहुत दूर की वस्तुएँ भी दिखाई नहीं पड़तीं तो इसका मतलब यह नहीं कि हम इन पदार्थों की सत्ता (मौजूदगी) न मानें। इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का बन्धना, छूटना, सुमेरु पर्वत, लवण समुद्र, स्वर्ग, नरक, सिद्ध शिला आदि पदार्थ भी हम नहीं देख सकते अतः उनके विषय में अपने स्वल्प ज्ञान से कुछ निर्णय नहीं कर सकते उस दशा में हमको जिनेन्द्र भगवान् की वाणी में अचल श्रद्धा रखकर उन्हे शास्त्र में लिखे अनुसार ही मानना चाहिये क्योंकि वीतराग होने के कारण तथा सर्व ज्ञाता द्रष्टा होने से उनके कथन में असत्य अंश नहीं आ सकता उन्होंने शब्द को भौतिक पदार्थ बतलाया, पेड़ों में जीव की सत्ता बतलाई, पुद्‌गल परमाणु को बहुत तेज चाल से चलने वाला जैसा कहा वैसा ही विज्ञान से भी प्रमाणित हुआ, तब उनकी कही हुई अन्य बातें भी सत्य ही होंगी। ऐसा निश्चल विश्वास रखना चाहिये।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धन्तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

यानी—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा बतलाये गये तत्त्व बहुत सूक्ष्म हैं उनको तर्क से खण्डित-असत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अतः उनके सिद्धान्त आज्ञा रूप से उसी में सत्य मानकर ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी (असत्यवादी) नहीं हैं।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि धार्मिक व्यक्ति को सब बातें अन्ध श्रद्धा से मान लेनी चाहियें। जैन धर्म में अन्ध श्रद्धा को त्याज्य बतलाया है। जैन धर्म डके की चोट पर कहता है।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्ति मद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

यानी—भगवान् महावीर के साथ मुझे कुछ पक्षपात नहीं और कपिल, कणाद, बुद्ध, ब्रह्मा, महेश, विष्णु आदि से द्वेष भाव नहीं। जिसके भी वचन युक्तियुक्त प्रामाणिक हों उसी का प्रतिपादित सिद्धान्त ग्रहण करना चाहिये।

सारांश यह है कि जब हम टके का मिट्टी का बर्तन खरीदते हैं उसे खूब ठोक बजाकर परीक्षा कर के ही लेते हैं तब आत्म कल्याण के लिये सन्मार्ग चुनते हुए तो परीक्षा और भी अधिक करनी चाहिये। अतः जिस मार्ग को ग्रहण किया जावे उस मार्ग के प्रवर्तक देव का, उसके उपदिष्ट सिद्धान्तों का तथा उस मत के प्रचारक गुरुओं की युक्तियों से अच्छी परीक्षा कर लेनी चाहिये। परीक्षा कर लेने पर जो देव शास्त्र गुरु सत्य प्रमाणित हों उन्हीं के सिद्धान्त के अनुसार अपना श्रद्धान ज्ञान आचरण बनाना चाहिये। जिन सूक्ष्म गूढ़ विषयों में युक्ति काम न कर सके या जिस को हम प्रत्यक्ष न जान सकें उन विषयों में आज्ञा प्रधानी बनकर शास्त्र के आदेशों के अनुसार अपना श्रद्धान बनावें।

श्री समन्तभद्रआचार्य ने देवागम स्तोत्र द्वारा पहले भगवान् महावीर की खूब अच्छी तरह परीक्षा की, भगवान् से इस तरह प्रश्न उत्तर किये जैसे वे सचमुच साक्षात् समन्तभद्राचार्य के सामने बैठे हों उस परीक्षा द्वारा जब भगवान महावीर की प्रमाणिकता सिद्ध हो गई तब उन्होने युक्त्यनुशासन स्तोत्र द्वारा भगवान् महावीर का स्तवन किया। देवागम स्तोत्र के प्रारम्भ के तीन श्लोक पठनीय हैं उनमें वे लिखते है—

देवागमनभोयान चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्तेनातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

यानी—हे भगवन्! आप अपना महत्त्व इस कारण समझें कि हमारी सेवा के लिये विमानों में बैठ देव स्वर्ग से आते हैं। चमर, सिंहासन, छत्र, भामण्डल आदि वैभव हमारे पास है तो ऐसी बाते तो मन्त्र-वादी, इन्द्र जाली व्यक्तियों में भी देखी जाती है, अतः इन बातों से आप पूज्य नहीं हो सकते।

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवोकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सुसः ॥२॥

अर्थात्—आप अपनी पूज्यता के लिये यों कहें कि हमको विशेष ज्ञान है तथा हमारे शरीर में मल मूत्र आदि नहीं हैं तो ये बातें तो रागी द्वेषी स्वर्गवासी देवों में भी है उन्हे भी अवधिज्ञान होता है उनके शरीर में भी मल मूत्र पसीना आदि नहीं होते।

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तताऽनास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

यानी—हे भगवन्! आप यदि अपनी पूज्यता सिद्ध करने के लिये कहें कि 'हम तीर्थंकर हैं हमने सिद्धान्तों का प्रतिपाद किया है।' तो यह बात तो बुद्ध आदि भी कहते हैं। आप के तथा उनके सिद्धान्तों में परस्पर बड़ा विरोध पाया जाता है इस दशा में आप तथा बुद्ध आदि में से कोई एक ही मान्य गुरु हो सकता है, सभी तो पूज्य गुरु नहीं हो सकते।

इसके बाद समन्तभद्रआचार्य ने आप्त (यथार्थ वक्ता) देव की पहिचान के दो श्लोक लिखे हैं। तदनन्तर छठे श्लोक में भगवान् महावीर से कहते है—

सत्वमेवासि निर्दोषो युक्ति शास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेव न वाध्यते ॥६॥

यानी—हे भगवन् ! वैसे (चौथे पांचवें श्लोक के अनुसार) निर्दोष तथा यथार्थ वक्ता (युक्ति शास्त्र से अविरुद्ध वचन वाले) आप ही हैं क्योंकि आपके वचनों में विरोध प्रत्यक्ष तथा अनुमान से प्रमाणित नहीं होता ।

इस तरह जैनधर्म युक्तिगम्य विषयों में परीक्षा प्रधानी बनने का आदेश देता है और जिन विषयों मे युक्ति नहीं चल सकती उनको आगम प्रमाण से मानने का संकेत करता है, ऐसे ही सूक्ष्म गूढ सिद्धान्तों मे किसी प्रकार की शका अपने हृदय में न रखनी चाहिये ।

सभी बातें तर्क और युक्तियो से सिद्ध नहीं हुआ करतीं । किन्हीं बातों को स्वभाव के रूप मे विना तर्क के मानना पड़ता है । 'स्वभावोऽतर्क गोचरः ।' यानी—स्वभाव में तर्क नहीं की जाती । पानी ठण्डा क्यों होता है ? अग्नि गर्म क्यों होती है ? दूध सफेद क्यों होता है ? इन क्यों वाली तर्कों का एक ही उत्तर है कि 'उसका वैसा ही स्वभाव है ।' पानी स्वभाव से ठण्डा है, अग्नि स्वभाव से गर्म है, दूध स्वभाव से सफेद है ।

इसी तरह बहुत सी बातें आगम प्रमाण से मानी जाती है उनमें तर्क युक्ति नहीं चला करती। किसी भी मनुष्य ने अपने बाबा का बाबा नहीं देखा तो इसका यह अर्थ नहीं कि बाबा का बाबा था ही नहीं । यह बात प्रामाणिक पुरुषों के कहने से मानी जाती है कि 'तुम्हारा बाबा का बाबा अमुक है ।'

रामचन्द्र लक्ष्मण राजा दशरथ के पुत्र थे, भगवान् महावीर राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे, इत्यादि बातों को आगम (प्रामाणिक ग्रन्थों) की साक्षी से माना जाता है ।

इसी तरह परमाणु, सुमेरु पर्वत, लवण समुद्र आदि दूरवर्ती पदार्थ दिखलाई नहीं देते उन पदार्थों को भी सर्वज्ञ देव के कहे अनुसार आर्ष ग्रन्थों से माना जाता है ।

अत जिन बातों से युक्तियों का या तर्कों का प्रवेश हो सके उन बातों को परीक्षा करके मानना चाहिये । और जिन बातो में तर्क युक्ति न चल सके उन बातों को भगवान् की वाणी के अनुसार सत्य प्रामाणिक मानना चाहिये, उसमें किसी तरह की शका न करनी चाहिये । शंका रखने वाला मनुष्य कभी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता । वह सदा दुविधा में पड़ा हुआ संसार में चक्कर लगाता रहता है ।

—०—

प्रवचन नं० २६

स्थानः— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि— आषाढ़ शुक्ला ११ बृहस्पतिवार, ३० जून १९५५

निःकांक्षित अंग

धर्मसाधन का लक्ष्य आत्मशुद्धि तथा आत्मगुण विकास रखना चाहिये, धर्मसाधन द्वारा सांसारिक सुख, धन, पुत्र, विषय भोगों की इच्छा से दूर रहना सम्यक्त्व का निःकांक्षित अंग है ।

बिना उद्देश्य के कोई भी कार्य कोई भी व्यक्ति नहीं करता। जो बच्चा अभी अभी उत्पन्न हुआ है, जिसे अभी संसार के किसी भी पदार्थ की कुछ पहिचान नहीं, जो न तो बोलना जानता है और न अपनी जन्मदात्री माता को ही समझता है, उसे यह भी पता नहीं कि पेट क्या है, दूध क्या है, भूख क्या है और भोजन क्या है वह भी किसी उद्देश्य से रोता है और जब माता का स्तन उसके मुख पर जा पहुँचता है, तब वह चुप हो जाता है, बिना सिखाये ही माता के स्तनों में गुप्त दूध के भण्डार से दूध निकाल कर उतना पी लेता है जितना उसे आवश्यक होता है। आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर अपने आप माता का स्तन छोड़ कर आराम से सो जाता है। भूख न होने पर भी जब वह रोता है, तब उस रोने का भी कुछ उद्देश्य होता है, माता देखती है कि उसने मूत्र किया है और बिछौना गीला हो जाने से रो रहा है, झट, वह उसको सूखे बिछौने पर सुला देती है, उस बच्चे का रोना बन्द हो जाता है। जब वह सूखे बिछौने पर बिना भूख के रोता है तब उस रोने का भी कुछ उद्देश्य होता है तब उसे गोद में लेकर खिलाती है, लोरियाँ देती है, बच्चा चुप हो जाता है तथा बिना सिखाये भी स्वयं हंसने लगता है।

विद्यार्थी तन्मय होकर पढ़ता है, खेलना कूदना कम करके, सैर सपाटा बन्द कर देता है। पुस्तकों को अपना मित्र बनाकर उनसे ही बातचीत करता है, परीक्षा निकट आ जाने पर अपनी विश्राम दायिनी सब से प्रियवस्तु नींद को छोड़ देना चाहता है और पुस्तक का कीट बन जाता है, विद्यार्थी के उस कठिन परिश्रम का भी कुछ उद्देश्य है।

एक यात्री धूप वर्षा की चिन्ता न करके ऊबड़ खाबड़ वन पर्वतों में पैदल चला जा रहा है पद-पद पर उसे विविध कष्ट और भय बाधा डाल रहे हैं किन्तु वह अपना पग आगे ही बढ़ता जाता है, उसका भी कुछ उद्देश्य है।

जेठ के महीने की दोपहर के समय की कड़कड़ाती धूप में मजदूर बिना छाया के पत्थरों की चट्टानें तोड़ते हैं, पसीना पनाले की तरह बहता है, थोड़ी ही देर में गला प्यास से सूख जाता है, गर्म लू के थपेड़े उसके साहस को छिन्न भिन्न कर देना चाहते हैं परन्तु वह किसी भी बात की परवाह न करके अपनी धुन में लगा रहता है इसका भी कुछ उद्देश्य है।

धन सम्पन्न सेठ रोकड़ में फर्क आजाने पर नींद व आराम को रोक कर आधी रात को भी बही खाते से उलझा रहता है, सेठ की इस तन्मयता का भी कुछ उद्देश्य है।

विद्यार्थी परीक्षा अच्छी श्रेणी में पास करने के उद्देश्य से समस्त मनोरंजनों और शारीरिक सुखों को त्याग कर पुस्तक में निमग्न होता है, यात्री अपनी प्रियतमा पत्नी के पास पहुंचने के उद्देश्य से यात्रा के कष्टों को कुछ नहीं गिन रहा, मजदूर अपने परिवार के भरण पोषण के कठोर परिश्रम से कठोर चट्टान को छिन्न भिन्न करने में लगा हुआ है और धनिक सेठ अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के उद्देश्य से आधी रात को भी बही खातों में उलझ रहा है।

सारांश यह है कि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।' यानी-बिना किसी लक्ष्य (उद्देश्य) के मूर्ख पुरुष भी कुछ काम नहीं करता। अतएव पापी दुर्जन मनुष्य के पापाचरण और दुष्टाचरण का भी कोई उद्देश्य होता है तथा धार्मिक व्यक्ति के धर्म-आचरण का भी कोई लक्ष्य रहता है। पापी मनुष्य

अपने हिंसा, छल चोरी, व्यभिचार आदि पापाचार से अपने आप को सुखी बनाना चाहता है और धर्मात्मा पुरुष धर्मआराधन से सुख शान्ति प्राप्त करने का लक्ष्य रखता है। विषय भोगी क्षण भर भी विषय भोगों से दूर नहीं हटना चाहता और योगी क्षण भर भी विषय भोगों में नहीं पड़ना चाहता, राजा जमीन पर पैर नहीं रखना चाहता और तपस्वी मखमल पर पैर नहीं रखना चाहता, उसे नंगी जमीन पर चलना बैठना और सोना स्वीकार है।

देखने को योगी तपस्वी की क्रिया दुःखदायिनी अतएव उलटी प्रतीत होती है परन्तु गम्भीरता से सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जावे तो योगी उस सुख सागर का स्रोत खोलना चाहता है जो कभी भी न सूखने पावे। धर्मात्मा व्यक्ति का धर्माचरण भी आत्मा को सुख-सम्पन्न बनाने का है। भोगी वर्तमान विषय सुख का भोग करके सन्तुष्ट होना चाहता है उसे अपने भविष्य की कुछ चिन्ता नहीं परन्तु धार्मिक व्यक्ति भविष्य के स्वाधीन अमर सुख के लिये प्रयत्नशील है।

जिन लोगों को आत्मा और उसके गुणों का परिज्ञान नहीं होता वे अपनी धर्म-साधना का लक्ष्य धन प्राप्त होना, पुत्र हो जाना, विवाह हो जाना, मुकद्दमे में जीत जाना, किसी सांसारिक कार्य में सफलता मिलना अथवा अन्य कोई सांसारिक सुख पा लेना, रखते हैं। परन्तु जो मनुष्य आत्मश्रद्धालु सम्यग्दृष्टि है वह सांसारिक सुख की वास्तविकता को समझता है कि संसारी सुख तो खारा पानी पीकर क्षण भर के लिये प्यास बुझाने के समान है। इसी कारण सुख की प्यास सांसारिक सुख से शान्त नहीं होती। अतः बुद्धिमान् धार्मिक धर्म साधन का लक्ष्य संसार के विषय-सुख पाना नहीं रखता।

सांसारिक सुख की इच्छा धर्मात्मा को क्यों न करनी चाहिये। इस विषय में श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड में लिखा है—

> कर्म परवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
> पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता॥

यानी—कर्माधीन, सान्त, बीच-बीच में दुःखों वाले, पाप के कारण भूत सांसारिक सुख में आस्था (श्रद्धा) न रखना सम्यग्दृष्टी का निःकांक्षित गुण है।

इसका खुलासा अभिप्राय यह है कि संसारी जीव यद्यपि अपने अच्छे बुरे भाव बनाने में स्वतन्त्र हैं, वह चाहे तो पुत्र मर जाने पर रो पीट कर शोक मनाता रहे और उस तरह दुःखदायक असाता वेदनीय कर्म का संचय करता रहे, जैसा कि साधारण तौर से मनुष्य किया करते हैं और यदि वह बुद्धिमानी तथा धैर्य से काम लेकर शोक न करके सन्तोष पूर्वक अपने कर्तव्य में लगा रहना चाहे तो भविष्य में सुखदायक साता वेदनीय कर्म का भी बन्ध कर सकता है परन्तु कर्म-बन्ध कर लेने पर उसका फल अपनी इच्छानुकूल भोगना उसकी सामर्थ्य से बाहर की बात है। कर्म का फल तो कर्म के अनुसार ही प्राप्त होगा, बबूल का बीज बोकर कांटेदार बबूल ही मिलता है और आमका बीज बोने से मीठे आम मिलते हैं। अतः संसारी जीवों को जिस तरह अशुभ कर्म द्वारा दुःखदायक सामग्री मिलती है उसी तरह उनको सुख सामग्री भी शुभ-कर्म के उदय से ही मिला करती है। एक ही माता पिता के दो लड़कों में

अपने अपने पूर्व संचित कर्म के अनुसार एक सुख पाता है और दूसरा जन्म भर दुःख उठाता रहता है। वह सुख तथा दुःख भी उतना ही मिलता है जितना कि वह कर्म होता है, कर्म समाप्त होते ही वह सुख या दुःख भी समाप्त हो जाता है। इसी कारण जीवन में सुख दुःखकी धूप छांह (कभी सुख कभी दुःख) होती रहती है।

इस कारण सांसारिक सुख में सबसे बड़ी खराबी तो पराधीनता की है, साता वेदनीय कर्म उदय में हो तो सुख मिले, यदि वह उदय में न हो तो सुख न मिले, जब तक साता वेदनीय उदय में रहे तब तक सुखसामग्री बनी रहे, जब उसका समय समाप्त हो जाय तो सुख भी समाप्त हो जाय।

इसके सिवाय सांसारिक सुख सदा नहीं रहता, कभी न कभी समाप्त हो जाता है। देव पर्याय में जन्म भर किसी तरह का कष्ट नहीं होता प्रायः सब तरह के सुख उपलब्ध होते हैं किन्तु कब तक? जब तक कि देव आयु है। आयु समाप्त होते ही वे दिव्य सुख भी समाप्त हो जाते हैं। इस बात की सूचना देवों को अपने शारीरिक चिन्हों से छह मास पहले मिल जाती है उस समय उनका सुख किरकिरा हो जाता है, दुःख प्रारम्भ हो जाता है। यह बात अन्य संसारी सुखों की है वे भी सदा नहीं बने रहते।

तीसरे—सांसारिक सुख सामग्री जब तक रहती है तब तक निरन्तर (लगातार) सुख नहीं मिला करता, बीच बीच में कोई न कोई शारीरिक मानसिक दुख आ ही जाता है। रोग, चिन्ता, हानि, अपमान आदि के कष्ट भी जब कभी आते ही रहते हैं, लगातार सुख नहीं बना रहता। चिर काल की प्रतीक्षा के पश्चात् माता पिता गुणी सुन्दर पुत्र का मुख देखते हैं उन के सुखी दिन प्रारम्भ हो जाते हैं परन्तु उस पुत्र को कभी ज्वर, कभी दस्त, कभी नेत्र रोग, कभी कर्ण रोग होता है तो उस के माता पिता के सुख में भी खलल पड़ जाता है। इस तरह संसार का कोई भी सुख निर्विघ्न लगातार नहीं बना रहता।

चौथे—सांसारिक सुख में सबसे बड़ी खराबी यह है कि वह पाप का बीज है। यानी सांसारिक सुख में निमग्न रहने वाले जीव पाप कर्मों का बन्ध करते हैं। जो बुद्धिमान् व्यक्ति संसारी सुख पुण्य कर्म का फल जान कर संसारी सुख भोगने में तन्मय (लीन) नहीं होते, अनाशक्ति से उसे भोगते हैं, भविष्य में आत्म कल्याण के लिये धर्म साधन करने में प्रमाद नहीं करते वे तो भविष्य के, लिये भी पुण्य का बीज बोते हैं परन्तु अधिकतर मनुष्य सुख में मग्न होकर मद्य पान, मांस भक्षण, वेश्या गमन, परस्त्री सेवन तथा अभिमान में आकर दूसरों का अपमान करना, दूसरों को सताना, अन्याय अत्याचार करना, दूसरों का उपहास करना आदि कुकृत्य करके अपना बड़प्पन प्रकट करते है, ऐसे कार्यों से वे पाप बन्ध करते हैं। अतःसंसारी सुख प्रायः पाप का बीज बोता है। इस तरह चार तरह के दोष ससारी सुख में पाये जाते हैं।

अतएव सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा के स्वतन्त्र, अविनाशी, निरन्तर रहने वाले, असीम आत्म सुख पाने का उद्देश्य रखता है सांसारिक सुख की इच्छा नहीं करता।

सनत्कुमार चक्रवर्ती कहाँ तो इतने सुन्दर थे कि उनकी सुन्दरता देखने के लिये स्वर्ग से देव भी आये और कहाँ जब वे महाव्रती मुनि बनकर तपश्चरण करने लगे तब एक ओर तो उनको अनेक ऋद्धियां प्राप्त हो गई और दूसरी ओर अशुभ कर्म के उदय से शरीर में कोढ़ होगया जिस से शरीर के

अनेक भागों से पीप बहने लगी। इतना होते हुए भी सनत्कुमार चक्रवर्ती का ध्यान न तो अपनी ऋद्धि सिद्धियों की ओर गया और न अपने कोढ़ की ओर गया, वे तो आत्मनिमग्न होकर तपश्चरण करते रहे।

स्वर्ग से एक देव तपस्वी सनत्कुमार की शरीर-निःस्पृह तपस्या की परीक्षा करने के लिये आया, और एक अनुभवी वैद्य का रूप बनाकर सनत्कुमार के आस पास चक्कर काटने लगा, साथ ही अपनी निपुणता की घोषणा भी उच्च स्वर से करने लगा कि 'मैं बहुत अनुभवी वैद्य हूँ सब तरह के रोगों की चिकित्सा (इलाज) मुफ्त करता हूं।' देव ने चाहा कि किसी तरह सनत्कुमार का ध्यान मेरी ओर आकृष्ट हो, वे मुझ से कोढ़ की औषधि मांगे। परन्तु सनत्कुमार ने उस ओर कुछ भी ध्यान न दिया।

तब वह मुनि महाराज के निकट आकर बोला कि महाराज! आप यदि मेरी सेवा स्वीकार करें तो मैं आप को नीरोग (स्वस्थ) बना दूँ।

देव की बात सुनकर सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि अच्छा, 'मुझे जन्म मरण की व्याधि से मुक्त कर दो, मै इन दोनों रोगों से बहुत व्याकुल हूँ।'

देव हाथ जोडकर बोला कि 'मुनिराज! जन्म मरण दूर करने की औषधि तो मेरे पास नहीं है'। तब सनत्कुमार बोले कि 'फिर मुझे और किसी रोग की दवा नहीं चाहिये। शरीर तो मेरी अपनी वस्तु नहीं है, इसके रोग की मुझे चिन्ता नहीं, और यदि मैं चाहूं तो इसे सहज में मिटा सकता हूँ।' इतना कह कर सनत्कुमार ने अपना थोडा सा थूक अपने कोढ़ के एक घाव पर लगाया कि थूक लगते ही बिलकुल साफ हो गया।

सनत्कुमार मुनि की निःस्पृहता देखकर देव लज्जित हुआ और चुपचाप स्वर्ग चला गया।

सांसारिक सुख पाने की ऐसी ही अनिच्छा प्रत्येक धर्मात्मा को रखनी चाहिये। क्योंकि जिस तरह पेड़ के नीचे बैठने वाले मनुष्य को पेड की छाया स्वयं मिल जाती है, पेड के नीचे पहुँच कर पेड से छाया की भीख मांगना व्यर्थ है इसी तरह धर्म-आचरण से कषाय मंद होते हैं उनसे पुण्य कर्मों की शक्ति बढ़ती है जिससे कि ससारी सुख स्वयं मिलता है उसकी इच्छा करना व्यर्थ है, उद्देश्य तो अमर सुख पाने का रखना चाहिये। किसान को खेती करने में अनाज के साथ भूसा तो अपने आप मिल जाता है। इस व्रत, तप, संयम, दान, पूजन, परोपकार आदि को करके उसका फल मत चाहो, नि.स्पृह भाव से धर्म करते रहो जिससे कि तुमको अनेक गुणा फल अपने आप मिलता रहे। कभी मत भूलो—'बिन मांगे मोती मिलें, मागी मिले न भीख।'

—०—

प्रवचन नं० २७

स्थान— श्रीदिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, देहली।

तिथि— आषाढ़ शुक्ला १२ शुक्रवार, १ जुलाई १९५५

लोभ की सीमा

संसार में प्रायः सब चीजो की सीमा है, पृथ्वी की सीमा है, समुद्र की सीमा है, पर्वत की सीमा

है, लोक और आकाश की भी सीमा है। भूख लगती है तो वह भी किसी सीमा (हद) तक रहती है, भोजन कर लेने पर तृप्त हो जाती है, उसके बाद कुछ नहीं खाया जाता। प्यास लगती है पानी पीने पर शांत हो जाती है, उसने बाद पानी पीने की इच्छा नहीं रहती। हम किसी अनदेखी वस्तु को देखना नहीं चाहते हैं जब उसको खूब अच्छी तरह देख लेते हैं तो फिर उधर से चित्त हट जाता है। किसी उपदेश, भाषण या गायन सुनने की इच्छा होती है तो वह भाषण या गायन सुन लेने पर कान तृप्त हो जाते हैं। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय भी भोग लेने पर कुछ सीमा तक शान्त हो जाते हैं।

क्रोध कषाय बडी दुर्द्धर्ष कषाय है, क्रोध के कारण मनुष्य का चित्त टिकाने नहीं रहता, प्रलय सी मचा देना चाहता है परन्तु लड़ झगड़ कर मार कूट कर क्रोध जा नशा भी उतर जाता है अपने आप शान्ति आ जाती है। अभिमान भी अपनी अकड दिखला कर, दूसरे को नीचा दिखा कर तथा किसी का अपमान कर देने के बाद शान्त हो जाता है। अभिमानी बड़प्पन दे देने पर अभिमानी पुरुष प्रसन्न हो जाता है।

मायाचारी कपटी पुरुष जब अपने छल कपट में सफल हो जाता है, धोके धड़ी के प्रपंच से किसी की हानि तथा अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेता है तब उसको भी शान्ति आजाती है।

परन्तु ससार में एक चीज ऐसी भी है जिसकी कोई भी सीमा नहीं, उनका नाम है 'लोभ'। लोभ की सीमा कहीं भी समाप्त नहीं होती। जितना यह जगत है ऐसे अनन्तों जगत एक मनुष्य के लोभ में पूरे नहीं हो सकते। इसी बात को श्री गुणभद्र आचार्य ने अपने आत्मानुशासन ग्रंथ में निम्नलिखित श्लोक द्वारा प्रगट किया है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यत्र विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥

अर्थात्—प्रत्येक प्राणी का लोभ रूपी गड्ढा इतना गहरा है जिसमें यह विशाल जगत् एक परमाणु के बराबर है यानी—प्रत्येक प्राणी अनन्तों जगत् को हड़प कर जाने का लोभ अपने हृदय में रखता है। ऐसी दशा में किस किस जीव का लोभ शान्त करने के लिये क्या क्या कितना भाग (हिस्सा) आ सकता है। यानी—एक जीव का हिस्सा भी पूरा नहीं हो सकता, इस कारण हमारी विषय भोगों की लोभ तृष्णा (इच्छा) व्यर्थ है।

इसी लोभ के कारण प्रत्येक जीव संचय शील बना हुआ है। चूहे अपने बिलों में सेरों अन्न एकत्र कर लेते हैं, चींटियाँ अपने बिल में एक एक कण चुनकर इतना भोजन एकत्र कर लेती हैं कि वर्षा के दिनों में उन्हें बाहर आने का अवसर न मिले तो वे भूखी न रहें। वृक्षों की जड़ें भी उसी ओर फैलती हैं जिस ओर उन को खाने पीने का खाद पानी मिलता है। एक कहावत प्रचलित है कि पेड़ की जड़ें भी धन की ओर जाती हैं।

जब चींटी पेड़ जैसे जीवों के लोभ तृष्णा का यह हाल है तब मनुष्य के लोभ का तो क्या कहना। भिखारी भीख मांगने निकलता है उस को पेट भर भोजन मिल जाता है फिर भी भीख मांगना बन्द नहीं करता। इसी कारण हजारों भिखारी हजारों रुपये बैंक में जमा रखने वाले भी मिल सकते हैं। दिल्ली में ५०

भिखारियों पर भीख मांगने के अपराध में २००) जुर्माना किया गया, जुर्माने की रकम भिखारियों ने वहीं जमा कर दी। एक भिखारिणी के पास बैंक की पासबुक निकली जिस में ६००) जमा थे, उसकी जमानत देने वाला उसका पुत्र आया जो कि गजेटेड आफीसर था। सरकारी आफीसर की माता भी संचय (धन जोड़ने) के विचार से भीख मागने लगी।

छोटा अबोध बच्चा रोता है उसके हाथ में पैसा पकड़ा दीजिए, पैसे का मूल्य न समझने वाला वह शिशु भी पैसा पाकर चुप रह जायग और पैसे को मुट्ठी में इतने जोर से दबालेगा कि फिर छोड़ने का नाम भी न लेगा। इस तरह संचय-शीलता बचपन से हीं प्रारम्भ हो जाती है। पैसा ज्यों-ज्यों मिलता जाता है त्यों त्यों लोभ की रस्सी भी रबड़ की तरह बढ़ती चली जाती है। रबड़ का तनाव तो कहीं पर रुक जाता है परन्तु लोभ का तनाव कहीं पर समाप्त नहीं होता।

एक दरिद्र ब्राह्मण की कन्या का विवाह था किन्तु उस गरीब के पास कन्यादान के समय कुछ भी देने को न था, तब बहुत कुछ सोच विचार कर वह राजा के पास गया और नम्रता के साथ उसने राजा से कहा कि मुझे अपनी पुत्री के विवाह के कन्यादान के समय वर को देने के लिए तीन मासा सोना चाहिए।

राजा ने ब्राह्मण की छोटी सी मांग देख कर अपने खजाञ्ची के नाम पर्चा लिख कर ब्राह्मण को दे दिया। पर्चे में राजा ने लिख दिया कि 'यह ब्राह्मण जो कुछ मांगे सो इस को दे देना।'

पर्चा लेकर ब्राह्मण खजानची के पास गया, मार्ग में ब्राह्मण ने सोचा कि राजा ने इसमें देने की कुछ सीमा हद तो लिखी नहीं है, अब लेना मेरी इच्छा पर निर्भर है। मैं जितना भी माँगूंगा, खजानची उतना दे देगा। तो मैं तीन माशे सोना ही क्यों मागूं ? ३००) क्यों न मांगूं परन्तु तीन हजार रुपये ठीक रहेंगे। जिससे विवाह धूम धाम से हो जावे। फिर उसको लोभ ने सताया तब उसने विचार किया, कि जब मांगने ही चला हूँ तब तीन लाख रुपये ही क्यों न मांग लूँ। इस पर भी उस का लोभ समाप्त न हुआ, उसने आखिर यह निर्णय किया कि 'राजा के खजाने में क्या कमी है, ऐसा अवसर भी मुझे फिर कभी न मिल सकेगा अतः खजानची से तीन करोड़ रुपये मांगूंगा जिससे मेरी जन्म भर के लिये दरिद्रता समाप्त हो जावे, फिर कभी कुछ न मांगना पड़े।

वह खजानची के पास पहुचा और उस के हाथ में राजा का पर्चा दिया, खजानची ने पर्चा पढ़कर ब्राह्मण से पूछा कि देवता! कितनी रकम तुम को चाहिए ?

ब्राह्मण ने कहा तीन करोड़ राजमुद्रा (रुपये)।

खजानची ब्राह्मण की मांग सुनकर चकित रह गया, उसने राजा के पास समाचार भेजा कि ब्राह्मण तीन करोड़ रुपये मांगता है, सो क्या इतनी रकम इसे दे दी जावे।

राजा भी खजानची का समाचार सुन कर दंग रह गया, उसने ब्राह्मण को अपने पास बुलाकर पूछा—'माशत्रयस्य कार्यं त्रिकोटया नैव सिद्धयते' यानी—तेरी माग तीन माशे सोने की थी सो अब वह तीन करोड़ रुपये तक पहुंच गई, क्या इतने से भी काम हो जायगा कि नहीं ?

राजा की बात सुनकर ब्राह्मण को होश आया कि मैं लोभ के कारण कहाँ का कहाँ पहुँच गया। उसने राजा को उत्तर दिया—

'शृणुराजन् महाभाग लाभाल्लोभः प्रजायते' यानी—हे राजन्! धन के मिलने से लोभ बढ़ता जाता है। इसी कारण मैं तीन माशे सोने से तीन करोड़ रुपये पर जा पहुंचा।

इसी प्रकार मनुष्य की तृष्णा निन्यानवे के चक्कर में पड़कर बढ़ती चली जाती है। इस लोभ तृष्णा का प्रयोग भोले अनभिज्ञ धर्मात्मा अपने धर्म-आचरण में भी करते है। श्री महावीर जी तीर्थ-क्षेत्र की वन्दना करने वाले अधिकतर स्त्री पुरुष अपनी सांसारिक इच्छाओं और कामनाओं का जाल भगवान महावीर स्वामी के सामने भी फैला देते हैं। जो भगवान महावीर पूर्ण वीतराग तथा ससार से मुक्त हैं उनके समक्ष आत्मा राग द्वेष, मोह, ममता आदि विकार दूर करने की भावना करनी चाहिये सो ऐसा न करके कोई स्त्री पुरुष अपने घर में पुत्र की कामना करते हैं, कोई भगवान् से धन सम्पत्ति मांगते हैं, कोई अपने पुत्र पुत्री के विवाह हो जाने की प्रार्थना करते है, अपनी इन लोभमयी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये सोना चांदी के छत्र चढ़ाते हैं। मानो भगवान् महावीर छत्रों के लोभवश मुक्ति से आकर उनकी इच्छाएँ पूर्ण कर जावेंगे।

जिन भगवान् महावीर ने घर में रहते हुए भी सुन्दरी राजकन्या से विवाह करने के प्रस्ताव को ठुकरा कर ब्रह्मचर्य धारण किया था वे भगवान् महावीर किसी के विवाह कराने और किसी के पुत्र उत्पन्न करने में क्या सहयोग या वरदान देंगे। तथा जिन वीर प्रभु ने स्वय राज्य वैभव का परित्याग करके निर्ग्रन्थ साधु पद स्वीकार किया वे पूर्ण मुक्त भगवान् महावीर दूसरो को धन प्रदान कर ससार के माया जाल मे कब डालेगे? खेद है कि जिस भगवान् की भक्ति स्तुति से लोभ माया दूर होने की भावना करनी चाहिये उन वीतराग प्रभु से भी अज्ञानी व्यक्ति सासारिक लोभ अंकुरित करने की कामना करते हैं। इसी लिये नीतिकार ने कहा है—'अर्थी दोषं न पश्यति' यानी—स्वार्थी पुरुष दोषों का विचार नहीं करता।

छोटे से लोभ को पूरा करने के लिये यत्न किया जाता है तो उसके पूर्ण होते ही उसके स्थान पर दूसरा बड़ा लोभ आ खडा होता है जब वह पूर्ण होने को होता है तब उसकी जगह उससे भी बड़ा लोभ उत्पन्न हो जाता है। साराश यह है कि यह लोभ दानव प्रारम्भ मे छोटे आकार में दिखाई देता है परन्तु बढ़ते-बढ़ते लोकाकाश के बराबर हो जाता है जिस को शांत करना असम्भव हो जाता है। अधिकांश व्यक्ति लोभ में अपना प्राण भी गवा देते है।

एक जहाज पर एक मल्लाह तैरने में बड़ा कुशल था और शरीर में भी अच्छा बलवान् था। एक दिन जहाज जब समुद्र में दूसरे देश को जा रहा था तब अचानक उसमे आग लग गई। आग बुझाने का यत्न किया गया परन्तु आग न बुझ सकी। तब जहाज के कप्तान ने समुद्र में नावें (लाइफबोट) उतारीं और जहाज के मनुष्यों को उन नावो पर सवार होने का आदेश दिया।

सब यात्री अपने प्राण बचाने के लिये नावो मे उतर गये, परन्तु वह मल्लाह जहाज में ही जान बूझकर रह गया। उसके मन में लोभ समाया कि "जहाज में सोने की मुहरों से भरे हुए सन्दूक हैं उनमे से मुहरें निकालकर थैले में भरलूं फिर जहाज से कूदकर तैर जाऊँगा और नाव में सवार

हो जाऊँगा।" यह विचार कर वह चलते हुए जहाज के कोठे में घुस गया। कोठे में रक्खे मुहरों के सन्दूक को तोड़कर २० सेर मुहरों से एक बड़ा थैला भर लिया और उस थैले को खूब कसकर कमर से बाँध लिया जिससे समुद्र में तैरते समय वह खुल न जावे। इतना काम करके वह समुद्र में कूद पड़ा। और कप्तान की नाव की ओर तैरने लगा।

कप्तान ने भी उसे देख लिया और नाव की गति धीमी करके उस मल्लाह को अपनी ओर आने का सकेत किया, किन्तु मल्लाह ने जो मुहरों का भारी थैला अपनी कमर से बाँधा था उसका बोझ पानी में नीचे की ओर खींचने लगा इससे मल्लाह का तैरना कठिन हो गया। तब मल्लाह ने कुछ मुहरें समुद्र में फेंकनी चाही जिससे भार कम हो जाय और वह सरलता से तैर सके। परन्तु थैला कमर से बहुत कसकर बाँधा गया था, वह सहज में कैसे खुलता।

मल्लाह का लोभ अब मल्लाह के प्राणों का ग्राहक बन गया, तब मल्लाह ने उस सारे थैले को फेंक देना चाहा, परन्तु दुर्भाग्य से कसकर बंधा हुआ थैला कमर से न खुला। फल यह हुआ कि मल्लाह उस बोझ के कारण एक गज भी न तैरने पाया। जैसे लोभी मनुष्य संसार सागर में डूब जाता है उसी तरह उस मल्लाह का लोभ उसे समुद्र में ले डूबा।

लोभ को दूर करने का सफल और सरल उपाय सन्तोष है। प्रत्येक मनुष्य को अपने गृहस्थाश्रम को चलाने के लिये धन उपार्जन का न्याय नीति परिश्रम से यत्न तो अवश्य करना चाहिये परन्तु साथ ही यह भी निश्चय रखना चाहिये कि लाभ उतना ही होगा जितना हमने शुभ कर्म कमाया होगा। यदि शुभ कर्म का उदय न हो तो व्यापार में लाभ नहीं होता। एक साथ एक सा ही व्यापार बहुत से मनुष्य करते हैं परन्तु जिसके शुभ कर्म का उदय नहीं होता उसको सफलता नहीं मिलती और जिसके शुभ कर्म का उदय होता है उसको व्यापार में खूब लाभ होता है। इसलिये अल्प लाभ या अलाभ होने पर यह समझकर सन्तोष करना चाहिये कि हमने पूर्व जन्म में जितनी शुभ कर्म की कमाई की थी उतना ही मिलेगा. एक पाई भी उससे अधिक न मिल सकेगी।

दूसरे—लोभ का विष उतारने के लिये अपनी इच्छाओं को संयम-परिमित करना चाहिये अपनी आवश्यकताओं को कम करके सादा रहन सहन का अभ्यास करना चाहिये तथा अपने परिग्रह (मकान, धन, वस्त्र, आभूषण आदि) का अपनी आवश्यकता के अनुसार सीमा (हद) कर लेनी चाहिये कि 'मैं इतना संचय करूँगा, इससे अधिक न करूँगा।' ऐसा परिमाण कर लेने पर भी लोभ का विष दूर हो जाता है।

इस तरह से बचने का उपाय 'त्याग' करना है, ग्रहण या सचय करने से लोभवृत्ति कम नहीं होती, बढ़ती ही जाती है।

प्रवचन नं० २८

स्थान:—
श्री हीरालाल जैन हायर सैकण्डरी स्कूल,
सदर बाजार, दिल्ली

तिथि:—
आषाढ़ शुक्ला १२ गुरुवार,
२ जुलाई १९५५

गुरु का गौरव

प्रत्येक प्राणी अनुकरणशील होता है, बचपन से ही बच्चा जैसे स्त्री पुरुषों के समागम में रहता है उनको देखकर वह वैसे ही काम करना सीख जाता है। सिंह का बच्चा हाथियों पर झपटना और गीदड़ का बच्चा डर कर भागना अपने माता पिता के देखादेखी सीख लेता है। व्यापारी का बच्चा व्यापार सम्बन्धी अनेक बातें स्वयं सीख जाता है, ब्राह्मण के पुत्र को पुरोहिताई को सीखने में देर नहीं लगती।

यदि मनुष्य के बच्चे को भेड़िया उठाकर ले जाय और अपनी मांद में उसको पालता रहे तो वह मनुष्य का बच्चा भेड़ियों को देखकर हाथ पैरों के बल चलना, कच्चा मांस खाना, भेड़ियों की सी बोली बोलना, गुर्राना आदि सीख जायगा।

मुल्तान निवासी ला० ताराचन्द्रजी ननगाणी (दि० जैन ओसवाल) के परदादा सेठ उदयराम जी जौहरी की नवाब मुजफ्फरखाँ (गवर्नर) से मित्रता थी। नवाब के पास दो तीन महीने का एक शेर का बच्चा लाया गया। नवाब ने वह बच्चा सेठ उदयराम को दे दिया और मुस्कराते हुए कहा कि 'इसको तो जैनी बना दो।' नवाब के कहने का अभिप्राय था कि यह मांस खाने वाला है इसको अन्न खाने वाला बना दो। जैनी मांस नहीं खाया करते।

सेठ उदयरामजी ने हसते हुए वह बच्चा ले लिया और कहा कि यदि इसका भाग्य अच्छा हुआ तो इसको अवश्य जैनी बना लूंगा। उदयराम जी घर लाकर उस शेर के बच्चे को दूध पिलाने लगे, फिर उसे खीर खिलाने का अभ्यास कराया फिर रोटी खिलाने लगे। इस तरह मांस का एक कण भी उसके मुख में न जाने दिया। पालतू कुत्ते की तरह वह उनके घर खुला रहता था, जब वह तीन वर्ष का नवयुवक सिंह हो गया तब उदयराम उसको अपने साथ नवाब मुजफ्फर खां के पास लाये और मुस्कराते हुए नवाब से कहा कि लीजिये जैनी शेर आ गया।

नवाब को आश्चर्य हुआ कि शेर का बच्चा बिना मांस खाये जवान हो गया। नवाब ने उसके लिये पिंजड़ा बनवाया किन्तु खुला रहने वाला शेर पिंजड़े में न रहा और निकल कर भाग गया।

इस तरह प्रत्येक प्राणी दूसरों को देखकर बहुत कुछ सीखा करता है किन्तु फिर भी अनेक रहस्य की बातें ऐसी हुआ करती हैं जो बिना सिखाये नहीं आ पातीं। उन रहस्यों का सिखाने वाला जब तक नहीं मिलता तब तक वह काम ठीक नहीं हो पाता।

एक ग्रन्थ में सोना बनाने की विधि लिखी हुई थी। एक मनुष्य ने वह ग्रन्थ पढ़ कर सोना बनाने का विचार किया उसने अपने आभूषण बेचकर सोने बनाने का सामान एकत्र किया और ग्रन्थ के

लिखे अनुसार सोना बनाने के लिये बैठ गया। ग्रंथ में जैसा कुछ लिखा था वैसा सब कुछ उसने किया परन्तु सोना न बना। तब उसे उस ग्रन्थ पर बहुत रोष आया वह अपने रोष को ठण्डा करने के लिए एक चौराहे पर जा बैठा और जो भी व्यक्ति उधर से निकलता उससे ५ जूते उस ग्रन्थ में मारने के लिए कहता। कोई मनुष्य जूता मार जाता, कोई उस को पागल समझकर चुपचाप चला जाता।

एक रसायन शास्त्री उधर से होकर निकला उस मनुष्य ने उससे उस 'सिद्ध रसायन' ग्रन्थ पर जूते लगाने को कहा। रसायन शास्त्री को रसायन शास्त्र का इस प्रकार अपमान होते देख बहुत बुरा लगा। उस रसायन शास्त्री ने उससे कारण पूछा कि तू ग्रंथ का अपमान इस तरह क्यों करता है? तो उस मनुष्य ने कहा कि इस ग्रथ के लिखे अनुसार मैंने सोना बनाया किन्तु सोना नहीं बना, मैं तो बर्बाद हो गया।

रसायन शास्त्री ने कहा कि चल मेरे सामने बना, ग्रन्थ का प्रयोग बिल्कुल ठीक है, तेरी बनाने की विधि में त्रुटि होगी। वह आदमी रसायन शास्त्री के साथ अपने घर गया वहा जाकर उसने फिर सामग्री जोड कर सोना बनाना प्रारम्भ किया। सोना बनाते समय गले हुए तांबे में अन्य चीजों के साथ नीबू का रस भी पड़ता था, रस डालने के लिए जैसे उसने नींबू के चाकू से दो टुकड़े किये कि रसायन शास्त्री ने तपाक से उसके मुख पर एक थप्पड़ मारा और कहा कि नीबू का रस निकालते हुए लोहा क्यों लगाया? इस रस के डालने से सोना नहीं बनेगा। तब उस मनुष्य ने नीबू को पत्थर से कुचल कर रस निकाला तब कुछ देर पीछे सोना बन गया।

रसायन शास्त्री ने कहा कि ग्रथ का अभिप्राय बिना गुरु के समझाये मालूम नहीं होता।

यही बात प्रत्येक कला तथा ज्ञान पर लागू होती है बिना गुरु के सिखाये कोई भी विद्या या कला नहीं आती। तैरना सीखने की विधि पुस्तकों में लिखी है किन्तु उसे पढ़ कर कोई तैराक तैरना नहीं सीख सकेगा जब तक कोई तैराक उसे तैरना न सिखलावे। जो मनुष्य बिना गुरु के विद्या सीखने का यत्न करते हैं वे कभी सफल नहीं हो पाते, क्योंकि तिल की ओट में पर्वत छिपा हुआ होता है, उस तिल जैसे सूक्ष्म-रहस्य का भेद गुरु ही बतलाता है। इस कारण ससार में गुरु का गौरव (महत्त्व) सब कोई जानता है।

एक कवि ने गुरु की महिमा पर बड़े मर्म की बात कही है—

> गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पाय।
> बलिहारी वा गुरु की, जिन गोविन्द दियो बताय॥

यानी—कवि कहता है कि यदि मेरे सामने गुरु और ईश्वर दोनो खडे हों और मुझ से पूछा जाय कि दोनों में पहले किस के चरण छूने चाहिए? तो कवि स्वय उत्तर देता है कि यद्यपि ईश्वर गुरु से भी बहुत उच्च श्रेणी का है परन्तु मैं तो पहले गुरु की वन्दना करूंगा। प्रश्न कर्ता ने पूछा कि भाई क्यों? ईश्वर से पहले गुरु के पैर क्यों पूजना चाहते हो? तो कवि उत्तर देता है कि मुझे क्या पता था कि यह ईश्वर है, ईश्वर का भेद भी तो गुरु ने मुझे बताया है। इस कारण गुरु ने ईश्वर से भी अधिक मेरा उपकार किया है।

कवि की इस बात मे रचमात्र भी त्रुटि या अत्युक्ति नहीं, परमात्मा का दर्शन या अनुभव

परमात्मा द्वारा नहीं हुआ करता, परमात्मा का ज्ञान कराने वाला तो गुरु ही हुआ करता है इस कारण गुरु का गौरव महान है।

भगवान् महावीर के मुक्त हो जाने पर आत्म कल्याण का पथ-प्रदर्शन गुरु ही तो करते रहे, हमारे गुरुओं ने ही तो भगवान् महावीर की वीर चर्या का स्वयं निर्मल आचरण किया और उसका महान् प्रचार किया। श्री समन्तभद्र आचार्य ने भारत के कोने कोने में डंके की "चोट पर" प्रतिवादियों से शास्त्रार्थ करके सत्यधर्म की प्रभावना की, श्री अकलंकदेव ने भारत में बौद्धधर्म के व्यापक हो जाने पर अपने अकाट्य तर्क बल पर बौद्ध विद्वानों को परास्तकर जैनधर्म का झंडा फहराया, श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मूल संघ की स्थापना करके जैन धर्म की प्राचीन साधु आचार परम्परा को स्थिर रक्खा। अग्रवाल, खंडेलवाल आदि जातियों को जैनधर्म में दीक्षित हमारे प्रभावशाली गुरुओं ने ही किया।

जिनवाणी गुरु परम्परा से ही अब तक चली आई है। जिस तरह एक दीपक से अन्य दीपक प्रज्वलित होता है, इसी प्रकार गुरु अपने शिष्य को ज्ञान प्रदान करता है और वह शिष्य अन्य शिष्यों को ज्ञानी बनाता है इस तरह ज्ञान की परम्परा प्रचलित रहती है। जिस समाज की गुरु परम्परा छिन्न भिन्न हो जाती है उस समाज की संस्कृति जीवित नहीं रहती।

'गुरु' का अर्थ 'भारी' यानी बड़ा है, तदनुसार मनुष्य के प्रथम गुरु तो माता पिता होते हैं जो उसका हित, बुद्धि और ममता से पालन-पोषण करते हैं, फिर आयु में जो अधिक होते हैं वे वयोगुरु होते हैं। बाबा, नाना, चाचा आदि सम्बन्ध गुरु होते हैं। तैरना, सीना, मल्ल युद्ध करना, व्यापार आदि सिखाने वाले कलागुरु होते हैं। अक्षरविद्या, अंकविद्या, न्याय साहित्य आदि पढ़ाने वाले विद्यागुरु होते हैं। और धर्मविद्या की शिक्षा देने वाले धर्मगुरु होते हैं। तथा अन्यायं, अधर्म, पाप, कुपंथ की शिक्षा देने वाले कुगुरु भी होते हैं।

इन सब में पूज्य उच्च स्थान धर्मगुरु का है क्योंकि अन्य गुरु तो सांसारिक शिक्षा देते हैं। जब कि धर्मगुरु आत्मा को परमात्मा बनाने वाली, कर्मजाल काटने वाली परमार्थशिक्षा देते हैं। गुरु स्वयं आत्मधर्म का आचरण करता है अतः उसकी वाणी का जो प्रभाव श्रोताओं पर पड़ता है वह अन्य धुआँधार भाषण करने वाले गृहस्थ विद्वानों का नहीं पडता, क्योंकि उपदेश दाता स्वयं संसार की कीचड़ में फंसा है तो वह संसार से पार होने का अनुभव कहाँ बता सकता है और सुनने वाले भी उसकी लच्छेदार बातों से प्रभावित नहीं होते।

एक सेठ एक विद्वान से प्रतिदिन धर्मशास्त्र सुना करता था। परन्तु उसके चित्त में संसार से विरक्ति लेशमात्र भी न आती थी, इसका कारण सेठ ने एक दिन एक साधु से पूछा तो वह साधु उस सेठ तथा विद्वान् को जंगल में ले गया वहाँ पर उसने उस सेठ और उस पंडित को अलग-अलग वृक्ष से बांध दिया। फिर उस पंडित से कहा कि पंडित जी ! सेठ जी पेड मे बंधे हुए हैं उनको छुड़ाकर बन्धन मुक्त कर दो। पंडित जी बोले कि महाराज ! मैं स्वयं बंधा हुआ हूँ मैं किस तरह सेठ जी का बन्धन काट सकता हूं ? तब साधु ने सेठ जी से कहा कि सेठ जी ! आप ही पंडित जी की रस्सी खोल दीजिये। सेठ जी ने उत्तर दिया कि मैं तो पहले रस्सी के बन्धन से छूट जाऊँ तब पंडित जी को छुडा सकता हूं।

तब साधु ने दोनों की रस्सी खोलते हुए कहा कि सेठजी ! इसी तरह पण्डित जी जब स्वयं गृहस्थाश्रम के संसार-बन्धन में बंधे हुए हैं तब तुम्हारा संसार बन्धन कैसे काट सकते हैं ? तुम्हारा संसार बन्धन तो हम-जैसे ससार बन्धन से छूटे हुए व्यक्तिही छुड़ा सकते हैं। सेठ जी ने रहस्य जान लिया।

वैसे तो निर्ग्रन्थ गुरु-चर्या प्रत्येक युग में बहुत कठिन चर्या रही है परन्तु इस कलियुग में तो यह और भी अधिक कठिन हो गई है। क्योंकि इस भौतिक युग में लोगों की भोगलिप्सा आत्मरुचि तथा ससार से विरक्ति नहीं होने देती और आजकल हीन संहनन होने से शरीर कठोर परिषह सहने योग्य बलवान नहीं रहा तथा सर्व परिग्रह त्याग कर निर्ग्रन्थ नग्न साधु बनना सरल नहीं। इसी कारण पंडित आशाधर जी ने कहा है—

काले-कलौ चले चित्ते देह चान्नादि कीटके।
एतच्चित्र यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥

यानी—इस कलिकाल में मनुष्यों के चित्त चंचल हो गये हैं धर्म में स्थिर नहीं रहते, तथा शरीर अन्न का कीड़ा बन गया है, उपवास, एकाशन (एक बार) भोजन करने योग्य नहीं रहा, इस कारण यह बड़ा आश्चर्य है कि आजकल भी जिनेन्द्ररूप धारक निर्ग्रन्थ साधु पाये जाते हैं।

यह सब प्रताप चारित्र चक्रवर्ती परमपूज्य श्री आचार्य शान्तिसागर जी महाराज जैसे गुरु का है। सद्गुरु ही जनता का अज्ञान दूर करते हैं। वे अपने लिये थोड़ा सा साधारण भोजन लेते हैं उस के बदले में जनता को उपदेशामृत पान कराकर विश्व कल्याण रात दिन किया करते हैं। शास्त्रारम्भ में इसी कारण कहते हैं—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

अर्थात्—संसारी लोक अज्ञान अन्धकार से अन्धे बने हुए थे, सद्गुरु ने उनके नेत्र ज्ञानरूप सुरमे की सलाई से खोल दिये हैं उस गुरु को नमस्कार है।

हमको भी गुरु ने ही सन्मार्ग दिखाया है, इसी कारण हमारे उद्धारक गुरु ही हैं। श्री वादीभसिंह आचार्य ने कहा है 'भवान्धेस्तारको गुरुः' यानी—गुरु संसार सागर से पार कर देता है। पंडित भूधरदास जी ने कहा है—

'बंदों दिगम्बर गुरु चरण जग तरण तारण जान' यानी—दिगम्बर गुरु संसार से स्वय पार हो जाते हैं और अपने अनुयायियों को भी ससार से पार कर देते हैं इसी कारण उन्हे 'तरणतारण' कहते हैं। पं० द्यानतराय जी ने कहा है—

गुरु समान दाता नहिं कोई,
मेघ समान सबन पर वर्षत कछु इच्छा नहि जाके होई ॥

यानी—गुरु के समान इस संसार में कोई दानी नहीं है। बादलों के समान वह समस्त जनता पर उपदेश अमृत की वर्षा सदा करता रहता है और जिसके हृदय में किसी भी तरह की इच्छा नहीं होती।

—०—

प्रवचन नं० २६

स्थानः— तिथिः—

श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली आषाढ़ शुक्ला १३, रविवार, ३ जुलाई १६५५

वात्सल्य अङ्ग

जीव को संसार में भ्रमण कराने वाले यद्यपि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म हैं, परन्तु इन सब कर्मों का मूल मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म के ही कारण समस्त कर्मों का आस्रव तथा बध हुआ करता है। जिस तरह जड़ कट जाने पर या सूख जाने पर पेड़ की डालियाँ, टहनियाँ तथा पत्ते कुछ समय में स्वयं सूख जाते हैं, उसी तरह मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर शेष कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं।

चौथे गुणस्थान से मोहनीय कर्म के मूल पर प्रहार होना प्रारम्भ होता है तभी से शेष कर्मों की शक्ति घटती चली जाती है और आत्मा की शुद्धता का विकास होता जाता है। १२ वे गुणस्थान ने जब मोहनीय कर्म पूर्ण नष्ट हो जाता है तो थोड़ी ही देर में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों घाति कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। शेष चार अघाति कर्म आयु कर्म के बराबर ही रह पाते हैं, तदनन्तर आत्मा समस्त कर्मों से पूर्ण शुद्ध हो जाता है। इस तरह मोहनीय कर्म समस्त कर्मों का राजा है।

मोहनीय कर्म को संक्षेप से समझना चाहे तो उस के मूल तीन भेदों से समझ सकते हैं— १. मिथ्यात्व, २. राग, ३ द्वेष। इन्हीं तीन भेदों के मूल संघ के प्रतिष्ठाता श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने आध्यात्मिक ग्रंथों में मोह और क्षोभ शब्दो द्वारा प्रगट किया है। मोह से उन्होंने दर्शन-मोहनीय या मिथ्यात्व को लिया है और क्षोभ से राग और द्वेष को ग्रहण किया है। राग और द्वेष के कारण आत्मा में अनेक प्रकार क्षोभ (बेचैनी) होता है इस कारण राग द्वेष का संयुक्त नाम क्षोभ रख दिया है और मिथ्यात्व के कारण आत्मा अचेत सा बना रहता है, अतः मिथ्यात्व को मोह कह दिया है।

चारित्र मोहनीय की २५ कषायों को राग और द्वेष में सम्मिलित कर लिया है। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा को द्वेष रूप माना जाता है और माया लोभ, हास्य, रति, स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसक वेद को राग में अन्तर्गत किया जाता है।

राग के कारण जीव के प्रेम रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं। द्वेष के कारण वेदरूप में परिणाम होते हैं। दुष्ट, निर्दय, हिंसानन्दी जीवों में द्वेष भाव की मुख्यता होती है शेष जीवों में राग की मुख्यता होती है।

यद्यपि द्वेष की तरह राग भी ससार-बन्धन का कारण है परन्तु द्वेष जहाँ विनाशरूप ध्वंसात्मक स्थिति उत्पन्न कर देता है, अशान्ति फैला देता है, मार काट, लड़ाई झगड़े घृणा का वातावरण बना देता है, जिसमें कि जीवों का एकत्र शान्ति से रहना कठिन हो जाता है। वहाँ राग प्रेममय, सर्जनात्मक परिस्थिति पैदा करता है जिस से अनेकों जीव एक स्थान पर शान्ति से ठहरते हैं, स्नेह से एक दूसरे को सहयोग प्रदान करते है और परस्पर अपनापन प्रगट करते हैं।

माता का अपनी सन्तान के प्रति गाढ़ स्नेह इसी राग के कारण होता है पुत्र का जीवन बचाने के लिये अपना सर्वस्व यहाँ तक कि अपने प्राण भी निछावर करने के लिये तैयार इसी राग के कारण रहा करती है। अकलंक निष्कलंक-जैसा भ्रातृप्रेम इसी राग से हुआ करता है पति पत्नी का तथा मित्रों का परस्पर प्रेमभाव इसी राग के कारण होता है।

सिंह चीता भेड़िया जैसे हिंसक पशु रात्रि दिन हिंसा करते हुए भी जो अपने बच्चों से प्रेम करते हैं वह भी इसी राग से करते हैं। बिल्ली जिस मुख और दांतों से दबा कर चूहे को तो मार देती है किन्तु अपने बच्चों को उसी मुख और दांतों से दबाकर उठाते समय जरा भी पीड़ा नहीं होने देती वह भी इसी राग की महिमा है। अपने परम प्रिय बड़े भाई रामचन्द्र की मृत्यु के बनावटी समाचार को सत्य घटना समझकर शोक में तत्काल जो लक्ष्मण की मृत्यु होगई उसका कारण भी यही राग है।

राग दो प्रकार का है—१. संसारी राग, जो कि ऊपर लिखे हुए रूप में सांसारिक पदार्थों अथवा जीवों के साथ हुआ करता है, यह राग मात्र तो कर्मबन्धन को और भी दृढ करके संसार की परम्परा को बढ़ाता है। २. धार्मिक राग, जो कि धर्म, धर्म के फल तथा धार्मिक जीवों के साथ हुआ करता है। पहला राग अशुभ कहलाता है क्योंकि उससे आत्मा का वास्तविक लाभ नहीं होता हानि होती है। दूसरा राग शुभ-राग है उससे आत्मा को लाभ मिलता है, आत्मा परम्परा से कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

धर्म को स्थिर रखने के लिये यह आवश्यक है कि धर्मात्माओं की स्थिति दृढ़ की जावे क्योंकि धर्म की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है, धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, आत्मा के बिना वह अलग स्वतन्त्र नहीं रह सकता, अतः धर्म को बढ़ाने का अभिप्राय धर्मात्माओं को बढ़ाना या धर्मात्माओं को उन्नत करना है। क्योंकि धर्मात्मा थोड़े होंगे तो उस धर्म की शक्ति, प्रभाव, प्रसार, प्रचार भी थोड़ा ही होगा यदि धर्म के अनुयायी परस्पर असगठित, मूर्ख, दीन हीन, पतित हुए तो वह धर्म भी निर्बल और अवनत होगा।

इसी कारण धर्म श्रद्धालु सम्यग्दृष्टी को यह प्रेरणा है कि साधर्मी (अपने धार्मिक व्यक्ति) के साथ ऐसा प्रेम करो जैसा गाय अपने बछड़े के साथ करती है, एक रंग की एक सी ही हजारों गायों में बछड़ा अपनी माता को तुरन्त पहचान लेता है और हजारों एक से ही रूप रग वय के खड़े हुए हजारों बछड़ों में गाय भी अपने बछड़े को तुरन्त पहचान लेती है। गाय के बछड़े को यदि सिंह ने पकड़ लिया हो तो गाय अपने बछड़े को सिंह से छुड़ाने के लिये सिंह के साथ युद्ध करने के लिये तैयार हो जाती है, उस समय उसका यह जरा भी चिन्ता नहीं होती कि हाथियों को भी मार डालने वाला यह बनराजसिंह मुझे तुरन्त मार डालेगा। ऐसा ही गाढ़ प्रेम धर्मात्मा पुरुषों को अपने दूसरे धर्मात्मा के साथ करना चाहिये। सम्यग्दर्शन का यह साधर्मी वात्सल्य सातवाँ अंग है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कराने वाली षोडश कारण भावनाओं में सोलहवीं भावना साधर्मी–वात्सल्य नाम की है। अत धर्म वृद्धि के अभिप्राय से वात्सल्य अंग का पालन प्रत्येक धर्मात्मा को करना चाहिये।

रक्षा-बन्धन का इतिहास इस साधर्मी-वात्सल्य (अपने समान धर्मात्मा से प्रेम) का आदर्श दृष्टान्त है। वैक्रियिक ऋद्धि-धारक श्री विष्णुकुमार मुनि को जिस समय यह ज्ञात हुआ कि हस्तिनापुर के

निकट श्री अकम्पनाचार्य के आज्ञावर्ती ७०० मुनियो पर प्राणघातक महान उपद्रव हो रहा है, तब वे अपनी तपस्या को कुछ समय के लिये रोक तुरन्त हस्तिनापुर पहुँचे।

राजा पद्मराय के एक प्रबल शत्रु को जीवित पकड़ ले आने के पारितोषिक में बरदान रूप बलि, बृहस्पति, नमुचि, आदि चार ब्राह्मण मन्त्रियों ने सात दिन के लिए हस्तिनापुर राज्य राजा पद्मराय से ले लिया था। इसीसे अकम्पनाचार्य के मुनि संघ से अपने पहले के अपमान का बदला लेने के लिये नरमेध यज्ञ करने की योजना की और मुनिसंघ के चारों ओर गीली लकड़ी, चर्बी आदि जला दी जिस क धुएँ से मुनियों का दम घुटने लगा।

पद्मराय राजा विष्णुकुमार मुनि का छोटा भाई था सो पहले तो विष्णुकुमार ने जाकर उसको फटकारा, फिर राज्य अधिकार प्राप्त बलि को दण्ड देने के लिए अपना वामन (बौना-छोटा) शरीर बनाया तथा वेदपाठी ब्राह्मण का रूप बनाकर वेदमन्त्र उच्चारण करते हुए बलि के पास पहुंचे। लघुकायधारी विष्णु-कुमार के मुख से वेदमन्त्र सुनकर बलि बहुत प्रसन्न हुआ। उसने विष्णुकुमार से कहा कि ब्राह्मण देवता! जो तुम्हारी इच्छा हो, वह मुझ से मांग लो।

विष्णुकुमार ने कहा कि मुझे अपने रहने के लिये मकान बनाने को अपने तीन पग (कदम) के बराबर भूमि चाहिये।

बलि ने कहा तुम्हारे तीन पगों के बराबर भूमि तो बहुत थोड़ी होगी, कुछ और भी मांग लो विष्णुकुमार ने उत्तर दिया कि बस, तीन पग से अधिक जमीन की या अन्य किसी पदार्थ की आवश्यकता मुझको नहीं है। बलि ने कहा 'मुझे स्वीकार है, तुम तीन पग जमीन ले लो।'

तब विष्णुकुमार मुनि ने विक्रिया से अपना शरीर बहुत बड़ा बना लिया और अपना एक पैर सुमेरु पर्वत पर रक्खा तथा दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत के ऊपर रक्खा। विष्णुकुमार ने अपने तीसरे पग के लिये पृथ्वी बलि से मांगी। बलि विष्णुकुमार का विराट् रूप देखकर घबड़ा गया, और विनम्र होकर उनसे क्षमा मांगने लगा कि अब आपके तीसरे पग के लिए मेरे पास और भूमि नहीं है, मेरी पीठ पर अपना पैर रख सकते हैं।

इस तरह बलि से राज्य अधिकार लेकर विष्णुकुमार ने अपना असली रूप प्रगट किया और श्री अकम्पनाचार्य के संघ का उपसर्ग निवारण किया। फिर प्रायश्चित लेकर तपस्या करने चले गये।

यह है साधर्मी वात्सल्य। यद्यपि मुनि-अवस्था में अपना तपश्चरण छोड़कर विक्रिया ऋद्धि का इस तरह उपयोग करना, कपट रूप बनाकर किसी को छलना तथा उपसर्ग दूर कराने में क्रियात्मक भाग लेना आदि बातें अनुचित है, परन्तु सात सौ तपस्वी साधुओं का मूल्यवान जीवन बचाने के लिए ही विष्णु-कुमार मुनि ने यह सब कुछ किया, इस क्रिया में उनका अपना निजी स्वार्थ कुछ न था।

श्री विष्णुकुमार मुनि की घटना, प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को स्मरण रखनी चाहिये, जब कभी अपने किसी साधर्मी स्त्री पुरुष के ऊपर कोई विपत्ति आवे तो उसे तन मन धन की शक्ति लगाकर दूर करने का यत्न करना चाहिये। साधर्मी वात्सल्य भावना से ही हमारे प्राचीन आचार्यों ने अपने तप, स्वाध्याय, ध्यान का समय हम लोगों के उपकार के लिए अच्छे उपयोगी साहित्य के निर्माण में लगाया।

जयपुर के दीवान अमरचन्द्र वात्सल्य भाव से दीन अनाथ जैन भाइयों को गुप्त रूप से सहायता दिया करते थे।

पहले बड़े नगरों में जैनों के हजारों घर होते थे वहां पर यदि कोई दरिद्र जैन आ जाता था तो सब भाई अपने अपने घर से एक एक रुपया और मकान बनाने के लिये एक एक ईंट उसको दे देते थे जिससे मकान बनाने की सामग्री और व्यापार करने के लिये रकम उसको मिल जाती थी और इस तरह एक नया जैन परिवार उस नगर में आनन्द से व्यापार करने लगता था।

इस बीसवीं शताब्दी में बम्बई के स्व० सेठ माणिकचन्द्र जी ने भी वात्सल्य की प्राचीन परम्परा का जीर्णोद्धार किया। जैन समाज की उन्नति के लिये उन्होंने अनेक स्थानों पर अनेक संस्थाएं स्थापित कीं। लाखों रुपये उन्होने न्यायपूर्वक व्यापार से कमाये और उदार हृदय से समाज सेवा के लिये लाखों रुपये ही दान किये, उनकी भावना थी कि मुझ जैसे अनेक व्यक्ति समाज में हो जावें। फिरोजपुर निवासी स्व० ला० देवीसहाय जी का हृदय भी साधर्मी वात्सल्य से ओतप्रोत था, उन्होंने भी हजारों रुपयों का ऐसा गुप्त दान किया जिसको कोई भी नहीं जानता।

आज जैन समाज में हजारों अनाथ बच्चे, विधवा स्त्रियां हैं उनके संरक्षण तथा संवर्द्धन का भार जैन समाज के उदार व्यक्तियों पर है प्रत्येक बच्चे को अपना पुत्र पुत्री समझ कर उनके पालन पोषण की पूर्ण व्यवस्था कर देनी चाहिये। इसी तरह प्रत्येक अनाथ स्त्री की सहायता का ऐसा स्थायी प्रबन्ध कर देना चाहिये जिस से कि वह धर्म साधन करते हुए आराम से अपना जीवन बिता सके।

समाज में ऐसे अनेक कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थी होते हैं जो कि ऊँची शिक्षा पाकर समाज का मस्तक उन्नत कर सकते हैं परन्तु दरिद्रता के कारण वे ऊँची शिक्षा पाने के लिये खर्च नहीं कर सकते, ऐसे छात्रों को सहायता देकर पढ़ाना वात्सल्य का सुन्दर उपयोगी रूप है। स्व० सेठ माणिकचन्द्र जी ने असमर्थ छात्रों को छात्रवृत्ति देने के लिये स्थायी कोष बनाया था जिससे कि अभी तक सैंकड़ों विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां मिल रही हैं। ऐसे छात्रवृत्ति कोष बहुत से बनने की आवश्यकता है जिस से सभी असमर्थ छात्र लाभ उठा सकें।

वात्सल्य भाव से पुण्य-बन्ध होता है तथा समाज की चतुर्मुखी उन्नति होती है जिसका परोक्ष फल तो अच्छा होगा ही किन्तु प्रत्यक्ष फल यह होता है कि धर्म-परम्परा बनी रहती है।

—०—०—

प्रवचन नं० ३०

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथिः—
आषाढ़ शुक्ला १४ सोमवार, ४ जुलाई १९५५

जैन धर्म की दीक्षा

रात्रि का गहन अन्धकार जब जगत् को अचेत और निष्क्रिय बना देता है, जिसमें कि ऊँचे

पर्वत, गहरे गहरे गड्ढे और समतल भूमि एक समान दीख पड़ते हैं, खुले हुए नेत्र भी कुछ नहीं देख सकते, चोर उठाईगीरों की बन आती है। तब कुछ देर पीछे ही पूर्व दिशा से सूर्य की सुनहरी किरणें प्रकाश फैलाती हुई प्रगट होती हैं, सूर्य किरणों के आते ही अंधकार का पता नहीं कहाँ लुप्त हो जाता है, उस समय जगत् में नवचेतना जाग उठती है और पशु पक्षी तथा मानव जनता क्रियाशील हो उठती है। अन्धेर का राज्य समाप्त हो जाता है। ठीक इसी तरह अज्ञान का अन्धकार भी जब जगत् को सब ओर से घेर लेता है, उस समय जनता विवेकशून्य होकर अपना प्रगतिशील (आत्म-शुद्धि) कार्य नहीं कर पाती, मूर्खता का साम्राज्य हृदय पर यहाँ तक प्रभुता जमा लेता है कि स्वयं आत्मा अपना भी अनुभव नहीं कर पाता।

तब हृदय के उस गहन अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य से भी अधिक प्रकाश प्रदान करने वाले किसी युग प्रधान महान व्यक्ति का उदय होता है जो कि स्वयं पूर्ण ज्ञान पुंज बनकर जनता को ज्ञानमय बनाता है, उसके हृदयवर्ती ज्ञानचक्षु खोल देता है, चिरकाल से अवरुद्ध मुक्ति पथ का द्वार-उद्घाटन करता है। संसार सागर से पार होने के लिये धर्म तीर्थ का निर्माण करता हैं, जनता उसे विश्व-उद्धारक भगवान् या तीर्थंकर कहती है, कोई उसे प्रकृति की सुन्दर देन कहता है तो कोई जनता के सौभाग्य का अपूर्व फल।

भरतक्षेत्र के विस्तृत भूभाग में कर्मयुग के प्रारम्भ में भगवान् ऋषभनाथ प्रातःकालीन सूर्य के समान प्रगट हुए। उन्होंने अपने गृहस्थ काल में अनभिज्ञ जनता को जीवनोपयोगी समस्त कलाएँ, असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि विद्याएं, अक्षर विद्या, अक विद्या सिखलाई। गृहस्थाश्रम के पश्चात् जब उन्होंने तपोभूमि में चरण रक्खा तब अपनी आत्मशुद्धि के लिये कठोर तपस्या की। जैसे अग्नि के द्वारा सुवर्ण शुद्ध हो जाता है उसके बाहरी भीतरी समस्त मैल दूर हो जाते हैं, उसी तरह भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी तपस्या द्वारा आत्मा के अन्तरंग (भावकर्म) तथा बहिरंग (द्रव्यकर्म) मैल दूर कर दिये। तब क्रोध, मान, लोभ, मोह आदि को जीत लेने के कारण उनका नाम 'जिन' ('जयति इति जिनः' यानी जीतने वाला) विश्व विख्यात (प्रसिद्ध) हो गया।

जब भगवान् विश्वज्ञाता विश्वद्रष्टा वीतराग हो गये तब उन्होंने जीवमात्र को संसार से पार करने के लिए आत्महितकारी उपदेश दिया। मुनिधर्म तथा गृहस्थधर्म के यम नियम, विधि विधान व्यवस्था सब को समझाई। जनता का हृदय अन्धकार दूर हुआ, आत्मज्ञान तथा आत्मशुद्धि की प्रक्रिया लोगों को मालूम हुई। अगणित मनुष्य भगवान् ऋषभनाथ के बतलाये हुए धर्म मार्ग पर चलने लगे। उनका नाम 'जिन' था अतः उनके बतलाये आत्मधर्म का नाम 'जैनधर्म' प्रसिद्ध हुआ। तदनंतर भगवान् अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकरों ने भी अपने २ समय में उसी जैनधर्म का प्रभावशाली प्रचार किया। तीर्थंकरों के मुक्त हो जाने पर उनके अनुयायी शिष्य जैनधर्म का प्रचार करते रहे।

जैनधर्म में प्रत्येक प्राणी की रक्षा तथा उद्धार का उपदेश दिया गया है अतः जैनधर्म कुछ एक मनुष्यों या प्राणियों का ही धर्म नहीं है अपितु वह 'विश्वधर्म' है। प्रत्येक व्यक्ति यहाँ तक कि पशु पक्षी भी अपनी शक्ति के अनुसार उसका आचरण कर सकते हैं। यानी—समस्त संसार जैनधर्मानुयायी बन

सकता है। प्राचीन कथाओं से ज्ञात होता है कि पूर्व भव के धर्म संस्कार से तथा पशु पर्याय में उपदेश पाकर अनेक हाथी, सिंह, बन्दर, कबूतर आदि पशु पक्षियों ने अपनी शक्ति अनुसार धर्म आचरण करके शुभ गति प्राप्त की।

प्रत्येक धार्मिक पुरुष का कर्तव्य है कि वह विश्वहितङ्कर जैनधर्म का अनुयायी अन्य मनुष्यों को भी बनावे। जो भव्य भद्र प्रकृति के मनुष्य होते हैं, जिनका भविष्य (होनहार) अच्छा होता है वे भगवान् ऋषभनाथ द्वारा प्रदर्शित जैनधर्म आचरण करके आत्म-कल्याण करते हैं। पं० आशाधरजी ने सागार-धर्मामृत में कहा है—

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद् गुणैः-
येऽयत्नोपनतैः स्फुरन्ति सुकृतामग्रेसराः केऽपिते।
येऽप्युत्पद्य कुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्वं गुणैः-
विद्याशिल्प विमुक्त वृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान् ॥२-२०।

अर्थात्—जो मनुष्य जैनकुल में जन्म लेकर कुल परम्परा से चले आये जैनधर्म के अभ्यास से अनायास स्वयं अहिंसा आदि अनेक गुणों से देदीप्यमान होते हैं, ऐसे भाग्यशाली व्यक्ति बहुत थोड़े हैं। और जो कर्मयोग से पवित्र आजीविका वाले, दीक्षा ग्रहण करने योग्य किन्तु मिथ्यादृष्टी कुल में उत्पन्न होकर तात्त्विक श्रद्धान आदि गुणो से अपने आपको पवित्र करते है, वे भी जैन हो जाते हैं।

यानी—जिन्होंने जैनकुल में जन्म लिया है वे सत् देव धर्म गुरु की श्रद्धा, अहिंसा आदि गुणों को कुल परम्परा से ही पा लेते हैं किन्तु जिनका जन्म जैन घर में तो नहीं हुआ परन्तु जिनका वश मुनि दीक्षा ग्रहण करने योग्य है ऐसे व्यक्ति भी वीतराग प्ररूपित जैनधर्म का श्रद्धान करके जैन हो जाते है। उससे आगे पं० आशाधर जी लिखते हैं—

तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं,
तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तुदुर्दैवतः।
आङ्गं पूर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीत शास्त्रान्तरः,
पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन्धन्यो निहन्त्यंहमी ॥ २१ ॥

यानी—अपराजित महामत्र णमोकार मत्र सीखकर कुदेवों की मान्यता, आराधना भक्ति हटाकर वह भद्र पुरुष किसी साधु या गृहस्थाचार्य से देशव्रत (गृहस्थ धर्म) ग्रहण करे। फिर ग्यारह अग, चौदह पूर्व-सम्बन्धी ग्रन्थों को तथा अन्य मत मतान्तरों के ग्रन्थों का अध्ययन करके सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करके पर्व (अष्टमी चतुर्दशी) के अन्त में प्रतिमायोग (नग्न होकर एकान्त में आत्मध्यान करना) धारण करके पाप कर्म नष्ट करे।

अर्थात्—जिस श्रद्धान ज्ञान आचरण के द्वारा आत्म शुद्धि होती है, दीक्षित (नवीन) जैन भी

उन तीनों गुणों को प्राप्त करके ही सफलता पा सकता है, इसी का निर्देश पं० आशाधर जी ने किया है।

शारीरिक जन्म तो प्रत्येक जीव प्राप्त करता है ऐसी जन्म-परम्परा अनादि काल से चली आ रही है उससे आत्मा का कुछ लाभ नहीं होता, आत्मा का कल्याण धर्म ग्रहण करने से होता है, अतः जैनधर्म ग्रहण करने से मानो दीक्षित व्यक्ति का नवीन जन्म होता है उस नवीन धार्मिक जन्म के विषय में पं० आशाधर जी ने कितना सुन्दर लिखा है :—

गुरुर्जनयिता तत्त्व-ज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः ।
तथा तत्राऽवतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥

यानी—उपदेश तथा दीक्षा देने वाला गुरु उस दीक्षित जैन का पिता है, तात्त्विक ज्ञान उसका अच्छा संस्कार किया हुआ गर्भ है, उस गर्भ में वह भव्य मनुष्य धर्मरूपी जन्म से उत्पन्न हुआ है।

इन्द्रभूति गौतम थे तो कट्टर भगवान् महावीर के विरोधी, परन्तु निकट भव्य या चरम शरीरी थे, अतः इन्द्र की कूट युक्ति से वे भगवान् महावीर के साथ शास्त्रार्थ करने चले आये किन्तु भगवान् को देखते ही उनका गर्वभरा हृदय भगवान की भक्ति में बदल गया और जैनधर्म के अचल श्रद्धालु बनकर भगवान् के समक्ष ही महाव्रती मुनि बनकर, प्रथम गणधर बने। भगवान् महावीर के मुक्त होने के बाद वे भी मुक्त हो गये।

श्री विद्यानन्द कट्टर वैदिक मतानुयायी महान् विद्वान् थे। वे बाजार में चले जा रहे थे। उसी बाजार में एक जैन मंदिर था, उस मंदिर में एक जैन मुनि श्री समन्तभद्राचार्यरचित देवागमस्तोत्र पढ़ रहे थे, उस स्तोत्र को सुनने के लिये विद्यानन्द मंदिर में चले गये। वहाँ पर उन्होंने वह सारा स्तोत्र सुना। स्तोत्र में तार्किक युक्तियों से अन्य मतो का निराकरण किया है। स्तोत्र में प्रगट की गई वे युक्तियां विद्यानन्द स्वामी के हृदय में घर कर गईं जिस से बिना किसी का प्रतिबोध पाये स्वय जैनधर्म के श्रद्धालु बन गये। तार्किक विद्वान् थे अत' उनको जैन न्याय के हेतु लक्षण जानने की जिज्ञासा हुई जब उन्हे 'अन्यथानुपपत्ति' रूप निर्दोष हेतु का लक्षण भी मालूम हो गया तब वे पक्के जैनधर्म के उपासक बन गये। उन्होंने निर्ग्रन्थ साधु दीक्षा ग्रहण की। तथा—आप्त परीक्षा, श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि अनेक अनुपम तार्किक ग्रन्थों की रचना की।

इसी प्रकार जैनधर्म की दीक्षा लेने वाले अनेक विद्वान् भद्र व्यक्ति हुए हैं। बीसवीं शताब्दी में भी अनेक भव्य परिवार अनेक कठिनाइयों को सहर्ष सहन करते हुए जैनधर्मी बने। क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य उनमें से ही एक हैं। बड़नगर में नेमा जाति के ऐसे तीन परिवार भी जैन हैं। जैन धर्मानुयायी होने के कारण नेमा जाति के अन्य व्यक्तियों ने उनसे सामाजिक सम्बन्ध तोड़ दिया। परन्तु वे इस पर भी विचलित न हुए। सर सेठ हुकमचन्द्र इन्दौर के प्रयत्न से खण्डेलवाल जाति ने उन तीनों परिवारों को अपना लिया है।

यद्यपि इस भौतिक युग में मनुष्यों को धर्म की वार्ता प्रिय मालूम नहीं होती वे यथेच्छ खान पान, खेल कूद, विषय भोग मनोरंजन तथा राजनीति में क्रियात्मक रुचि लेते हैं, इस तरह से वे शरीर

को तो सन्तुष्ट रखने का यत्न करते हैं किन्तु आत्मा को सन्तुष्ट करने वाला धर्म रूपी भोजन नहीं देते। परन्तु इसके साथ लोगों में धार्मिक कट्टरता, दुराग्रह, हठवाद भी दूर होता जा रहा है। धार्मिक सहिष्णुता बढ़ती जा रही है, युक्तियुक्त सत्य बात स्वीकार करने की ओर जनता की रुचि अग्रसर हो रही है, अतः परीक्षा प्रधानी जैनधर्म के प्रचार करने का यह सुवर्ण अवसर है। जैन समाज को इस अवसर से लाभ उठाना चाहिये।

जनता में जैन साहित्य का इतना प्रसार करना चाहिये कि प्रत्येक विद्वान् तथा धर्मजिज्ञासु के हाथ में जैनधर्म के उपयोगी ग्रन्थ पहुँच जावें। अन्य लोग अपने पीतल को मुलम्मा करके जनता को अपने अपने धर्म की ओर आकर्षित कर रहे हैं, इधर जैन समाज अपनी सुवर्णप्रभा को भी जनता के सामने रखने में प्रमाद करता है?

कुपुत्र अपने पिता की सम्पत्ति को खा पी कर नष्ट कर देता है, उसे कम कर डालता है। पुत्र अपनी पैत्रिक सम्पत्ति बढा तो नहीं पाता किन्तु कम भी नहीं होने देता। और सुपुत्र अपने पिता के वैभव में अनेक गुणी वृद्धि कर देता है। जैन समाज के उत्साही व्यक्ति अपने आपको भगवान् महावीर के सुपुत्र प्रमाणित करें, उनके हाथ में जो जैनधर्म की आध्यात्मिक सम्पत्ति है उसको अनेक गुणा बढ़ा दें। जो व्यक्ति या जो समाज योग्य अवसर से लाभ नहीं उठाता, वह युग की दौड़ में पीछे रह जाता है।

साहित्य प्रचार के सिवाय बड़ी बड़ी सभाओं, धर्मसम्मेलनों तथा उत्सवों में जैनेतर विद्वानो तथा जनता को सादर बुलाकर उनके सामने जैनधर्म के प्रभावशाली भाषण कराने चाहियें। शंका समाधानों की योजना रखनी चाहिये।

यूरोप के महात्मा यीशु अपने मत का प्रचार करने से पहले भारत आये थे, यहाँ उन्हें कुछ समय तक जैन साधुओं का सम्पर्क मिला था, आध्यात्मिक बोध वे भारत से लेकर ही गये थे तदनन्तर पश्चिमी एशिया और यूरोप में प्रचार किया था। उनका ईसाई धर्म आज दिन दूना बढ़ता चला जा रहा है। यूरोप के इस धर्म के अनुयायी भारत में लगभग ६०-७० लाख हैं जब कि भगवान महावीर के अनुयायी उन से बहुत थोड़े हैं। ईसाई प्रचारक दरिद्र जनता में सेवा तथा सहायता के आधार पर अपना धर्म फैलाते हैं। इसके लिये अनेक स्कूल, कालेज, अस्पताल, अनाथालय चल रहे हैं। हजारों प्रचारक रात दिन प्रचार में सलग्न हैं। लगभग २३-२४ करोड़ रुपये वार्षिक खर्च ईसाई धर्म के प्रचार के लिये केवल भारत में होता है। जैन समाज को भी धार्मिक प्रचार के लिये, दीन दुःखी जनता के सकट निवारण के लिये उदारतापूर्वक दान करना चाहिये। जिस व्यक्ति की जैनधर्म में रुचि प्रतीत हो उसको प्रेम से सहयोग देना चाहिये।

प्रवचन नं० ३१

स्थानः—　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　तिथिः—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली　　　　　　　आषाढ़ शुक्ला १५ मंगलवार ५ जुलाई १६५५

देव पूजा

समस्त संसार स्वार्थ-प्रिय है, बिना स्वार्थ के कोई भी व्यक्ति न किसी से कुछ सम्बन्ध रखता है, न कोई कार्य करता है। पुत्र अपनी माता से इसी कारण प्रेम करता है कि माता उसका पालन पोषण करती है और माता भी पुत्र से स्नेह इसी स्वार्थ पर करती है कि वह बड़ा हो कर मेरी सेवा करेगा। पुत्र पिता का पारस्परिक प्रेम स्वार्थ के कारण ही है, पति-पत्नी और मित्रों का आपसी मेल स्वार्थ पर ही आधारित है। गाय जब तक दूध देती है गाय का स्वामी तब तक उस पर स्नेह का हाथ फेरता है उसको खाने पीने को अच्छा देता है, वही गाय जब दूध देना बन्द कर देती है तब उसे या तो घर से निकाल देता है या किसी गोशाला को भेज देता है अथवा किसी कसाई को बेच देता है।

माता जब अपने प्राण बचाने में अपने गोद के बच्चे को बाधक समझती है तब वह उस दुधमुहे बच्चे को अरक्षित छोड़ जाती है। बादशाह की सेना से अपनी सुरक्षा करने के लिए भागते समय बुन्देलखण्ड के वीर चम्पतराय और उसकी पत्नी शिशु (दूध पर निर्भर) छत्रसाल तक को झाड़ी में रख गये थे। अयोग्य पुत्र अपने वृद्ध माता पिता को स्वार्थवश ही कष्ट देते हैं। गुरुओं की सेवा का कारण भी स्वार्थ ही होता है। धर्म साधन, योग साधना, दान, परोपकार, जन सेवा, दीन दुखियों का दुःख हरण आदि जिन कार्यों को निःस्वार्थ समझा जाता है, उन कार्यों में भी स्वार्थ भावना काम करती है। कोई बुद्धिमान् व्यक्ति यश चाहता है तो कोई दूरदर्शी व्यक्ति पुण्य-संचय की भावना रखता है। स्वार्थ-भावना न हो तो, न तो कोई दान करे और न कोई परोपकार। योगियों की अनासक्ति योग भी स्वार्थ साधन का ही एक रूप है। शुद्धोपयोगी मुनियों ने भी स्वार्थ साधन किया और अर्हन्त भगवान् भी स्वार्थ-सिद्धि में लीन रहते हैं। सबसे अधिक स्वार्थी वे सिद्ध परमात्मा हैं जो कि यथार्थ में परम-आत्मा हैं, वे अनन्तकाल स्वात्मलीनता के अतिरिक्त कुछ नहीं करते।

'स्वार्थ' की परिभाषा में भिन्न भिन्न व्यक्तियों की अपेक्षा अन्तर हो सकता है सच्चरित्र माता का स्वार्थ अपनी पुत्री के सदाचार में निहित है तो वेश्या अपना स्वार्थ अपनी पुत्री को दुराचारिणी बनाने में समझती है। चोर अपने पुत्र को सफाई से दूसरों की जेब काट कर द्रव्य ले आने में मानता है, साहूकार अपने पुत्र को नीति से व्यापार द्वारा धनसंचय में निपुण कर देना ठीक समझता है।

तदनुसार देव की उपासना भक्ति पूजा में भी स्वार्थ भावना ही कार्य करती है।

संसार के समस्त पूज्य व्यक्तियों में सब से उच्च स्थान 'देव' का माना जाता है। अनेक व्यक्ति परमात्मा को ही देव कहते हैं और अनेक मतानुयायी परमात्मा की कुछ शक्ति रखने वाले अथवा परमात्मा के अवतार को देवरूप में मानते हैं। इस तरह संसार में अर्हन्त, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध, भैरव, राम, कृष्ण, हनुमान, दुर्गा, काली भवानी, चण्डिका आदि अनेक देव देवी विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा माने पूजे जाते हैं।

किस देव को पूजना चाहिये और किसको नहीं पूजना चाहिये ? इस प्रश्न पर हम यहाँ विशेष ऊहापोह न करके संक्षेप से इतना कहना पर्याप्त समझते हैं कि जो देव तुम्हारा सब से अधिक स्वार्थ सिद्ध कर सके, उसकी पूजा उपासना करो। अर्हन्त भगवान् की पूजा उपासना का लक्ष्य उनका कृपापात्र या भक्त, दास अथवा समीपवर्ती होना नहीं है अपितु स्वयं उनके समान अर्हन्त भगवान् बन जाना ही है। है भी ऐसा, जिन व्यक्तियों ने सच्चे मन से अर्हन्त भगवान् की भक्ति पूजा की, कालान्तर में वे भी पूज्य अर्हन्त परमात्मा बन गये। इस तरह अपने भक्तों को अपने जैसा भगवान् बना देने वाला भगवान् (अर्हन्त परमात्मा) ही सब से श्रेष्ठ पूज्य देव है।

श्री मानतुङ्ग आचार्य ने भक्तामर स्तोत्र में कहा है—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ, भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।

तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा, भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥ ६ ॥

अर्थात्—हे भगवन् ! आपका स्तवन करने वाले भक्त लोग आपके समान ही पूज्य भगवान् बन जाते हैं इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। क्योंकि उस श्रीमान से क्या लाभ, जो कि अपने आश्रित जन (मुनीम आदि नौकर) को अपने-समान श्रीमान् न बना लेवे।

अर्हन्त भगवान् की सर्वश्रेष्ठ पूज्यता इस कारण भी है कि वे पूर्ण शुद्ध, वीतराग परमात्मा है। पूर्ण शुद्ध वीतराग सर्वज्ञ होना ही आत्मा की पूर्ण उन्नति है। जिन देवों में राग, द्वेष, मोह, भय, काम, क्रोध आदि की मात्रा दिखाई दे, उनमें उतना ही आत्मा का विकार भाव सिद्ध होता है। जो देव स्वयं विकारी होगा उसकी उपासना करने से आत्मा के विकार दूर किस तरह हो सकते हैं ?

किस देव में आत्मा के विकार क्रोध, मान, मोह, ममता, भय, राग-द्वेष, आदि पाये जाते हैं और किसमें नहीं ? इसकी झलक उनकी मूर्ति से होती है। अर्हन्त भगवान् के सिवाय प्रायः सभी अन्य देवों के पास आभूषण, शस्त्र, स्त्री आदि पदार्थों का समर्ग पाया जाता है जिससे यह प्रतीत होता है कि अभी तक उनमें राग द्वेष आदि की कुछ मात्रा विद्यमान है। अर्हन्त भगवान् की मूर्ति शान्त, निर्विकार, निर्भय, प्रसन्न, आत्म निमग्न मुद्रा में पाई जाती है, कोई भी वस्तु उस मूर्ति के पास नहीं, स्वर्ण, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, अस्त्र, शस्त्र, आदि-कोई भी वस्तु अर्हन्त प्रतिमा पर नहीं पाई जाती। यह निरस्त्र, निःशस्त्र, निर्भूषण, निर्वस्त्र मुद्रा इस बात की साक्षी है कि अर्हन्त भगवान् को किसी भी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है इसी कारण वे निर्विकार हैं। किसी भी संसारी पदार्थ से उन्हे मोह ममता राग द्वेष नहीं रहा है।

श्री वादिराज आचार्य ने एकीभाव स्तोत्र मे कहा है—

आहार्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः,
शास्त्रग्राही भवति सततं वैरिणायश्च शक्यः।
सर्वांगेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां,
तत्किं भूषावसनकुसुमैः किं च शस्त्रैरुदस्त्रैः ॥

यानी—जो स्वयं असुन्दर (बदसूरत) होता है वह शोभा बढाने वाले पदार्थों की इच्छा करता है, और जो अपने वैरी से भयभीत होता है वह शस्त्र ग्रहण करता है। हे भगवन्! आप सर्वांग सुन्दर तथा अपने शत्रुओं से अजेय हैं तब आप को भूषण, वस्त्र, पुष्पों तथा अस्त्र, शस्त्रों की क्या आवश्यकता है?

यद्यपि अर्हन्त भगवान् वर्तमान समय में हमारे सामने नहीं है, किन्तु जिस अतीत पुरुष का चित्र देखते ही उस पुरुष के गुण दोप स्मरण आ जाते हैं और जैसी अच्छी बुरी भावना उस के लिये हृदय में होती है जागृत हो उठती है स्व० से० माणिकचन्द्र जी बम्बई का चित्र देखते ही उनकी धार्मिक सामाजिक सेवायें स्मरण हो आती हैं, पूर्व मुनिराजों के चित्र देखते ही उनकी दृढ़ सच्चरित्र आत्मचर्या का प्रभाव हृदय पर जागृत हो उठता है उसी तरह अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा का दर्शन करते ही उन की शान्ति, वीतरागता, निर्भयता आत्मलीनता, प्रसन्नता आदि अध्यात्मिक गुण मूर्तिमान दीखने लगते हैं।

जिस तरह भूगोल पढने वाले विद्यार्थी को मान चित्र (नकशा) देखना आवश्यक है बिना नकशा देखे उसका भौगोलिक ज्ञान परिपक्व नहीं हो पाता इसी प्रकार आत्म-चिन्तन के लिए शुद्ध आत्मा वाले का चित्र भी सामने होना आवश्यक है जिस को देख कर शुद्ध आत्मा की रूप रेखा हृदय में समा सके। शुद्ध आत्मा का चित्र अरहन्त भगवान् की मूर्ति के सिवाय अन्य कोई नहीं मिलता। अरहंत भगवान् की प्रतिमा देखते ही हृदय मे यह भावना जागृत हो उठती है कि 'आत्मा का स्वभाव शान्त, निर्भय वीतराग है, संसार का कोई भी पदार्थ उसका अपना नहीं है, अन्य संसारी पदार्थों की ओर से दृष्टि हटाकर अपने आत्मा की ओर करो।

सिनेमा देखने वाले जड चलचित्रों को देखने से जैसे राजनीति, युद्ध, शृङ्गार, काम वासना आदि भाव हृदय में स्वय जागृत हो जाते हैं इसी तरह वीतराग अरहत देव की मूर्ति को देखकर शान्त वीतराग भावों का उदय होता है। आत्मा को राग, द्वेष, क्रोध, काम आदि भावो से शुद्ध करना ही आत्मा का सबसे बड़ा हित है क्योंकि कर्म बन्धन से मुक्त होने का यही एक मार्ग है।

अतः आत्मध्यान के लिये तथा आत्मचिन्तन के लिये उपयोगी सरल मार्ग अर्हन्त देव की प्रतिमा का दर्शन है। अरहन्त देव की मूर्ति को पाषाण की मूर्ति न समझ कर साक्षात् अर्हन्त भगवान् की श्रद्धा से दर्शन, विनय, भक्ति पूजन करनी चाहिए। भगवान् के मुख पर दृष्टि जमाकर विचार करो कि मेरा आत्मा भी यदि राग द्वेष आदि से छूट जावे तो ऐसा ही परम शांत शुद्ध बुद्ध परमात्मा बन सकता है। भगवान के दर्शन पूजन के समय अपना चित्त अन्य ओर से हटा कर अरहन्त देव के चिन्तवन में तन्मय कर देना चाहिये। तभी भगवान की भक्ति से आत्मा की शुद्धि होती है।

गृहस्थ को प्रातःकाल स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर पहले भगवान का प्रसन्न चित्त से दर्शन करना चाहिए, फिर भगवान का अभिषेक करके अष्ट द्रव्य से पूजन करना चाहिये। पूजन करते समय मन वचन शरीर का उपयोग भगवान् के गुणों में उलझा रहता है, सांसारिक विषय वासनाओं से उतने समय तक मन वचन शरीर का सम्पर्क नहीं रहता, अतः गृहस्थ के लिए पूजा करना श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने रयणसार में मुख्य धर्म बतलाया है।

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा तहा सोवि ॥११॥

यानी—गृहस्थधर्म में दान देना (मुनि आदि पात्रों को आहार आदि देना) तथा पूजा करना मुख्य है । इन दोनों के बिना श्रावकधर्म नहीं है । मुनिधर्म में ध्यान और स्वाध्याय मुख्य हैं इन के बिना मुनिधर्म भी कुछ नहीं ।

आदर सत्कार, नमस्कार, स्तवन, विनय आदि का अभिप्राय भी 'पूजा' है किन्तु यहाँ पर पूजा का अभिप्राय अष्ट द्रव्यों द्वारा भगवान की पूजा करना है । पूजन के समय यदि अपना उपयोग इधर उधर न जाने पावे तो उससे अचिन्त्य लाभ होता है । द्विसन्धान काव्य, नाममाला तथा विषापहार के रचयिता कवि धनञ्जय तन्मय होकर भगवान की पूजा कर रहे थे उस समय उन के पुत्र को घर पर सांप ने काट खाया जिससे उनका पुत्र अचेत हो गया । तब उन की पत्नी ने धनञ्जय को समाचार भेजा और तत्काल घर पर आजाने का आग्रह किया ।

धनञ्जय को नौकर ने सब बात कही परन्तु धनञ्जय पूजा करने में लीन थे अत: उन्होंने कुछ न सुना और न अपने स्थान से जरा भी डिगे । उनकी पत्नी ने फिर फिर दो-दो बार उनके पास सन्देश भेजा किन्तु उसका कुछ भी प्रभाव जब धनञ्जय पर न हुआ क्योंकि वे तो उस समय भगवान की भक्ति में लीन थे अन्य कुछ सुनने, समझने, विचारने का उनके पास समय न था ।

तब झल्ला कर उनकी पत्नी उस अचेत पुत्र को मन्दिर में उठा लाई और उसने धनञ्जय के सामने लाकर रख दिया । धनञ्जय कवि पूजन समाप्त कर चुके थे, उनका चित्त कुछ पुत्र की ओर गया, किन्तु वे फिर भगवान की स्तुति करने लग गये, कवि तो थे ही, उसी समय विषापहार स्तोत्र बना डाला, स्तोत्र का १४ वाँ श्लोक 'विषापहारं मणिमौषधानि, मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च । भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति पर्यायनामानि तवैव तानि ॥' ज्यों ही उन्होंने पढ़ा त्यों ही उन के पुत्र का सर्वविष उतर गया और सचेत हो कर उठ बैठा ।

पूजन करते समय प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी ही तन्मयता रखनी चाहिये ।

—०—०—

प्रवचन नं० ३२

स्थान—	तिथि:—
श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली	श्रावण कृष्णा १ बुद्धवार, ६ जुलाई १६५५

वीर शासन दिवस

आज का दिन चिरस्मरणीय पवित्र दिवस है, विश्ववन्दनीय भगवान् महावीर ने आज से लगभग ढाई हजार पहले अरहंत पद पाकर सब से प्रथम आज के दिन अपने दिव्य उपदेश से जनता को आत्म कल्याण का पथ-प्रदर्शन किया था ।

अनादि काल से यह जीव अपने विकृत भावों (क्रोध, मान, मोह आदि) द्वारा ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का बन्ध करता रहा है और द्रव्य कर्मों के उदय से ही भाव कर्मों को बनाता आया है। इस तरह भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म इस जीव के बनते रहे, बन रहे हैं और तब तक बनते रहेंगे जब तक कि यह जीव आत्मज्ञान द्वारा अपने भावों में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं लावेगा।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का जीव कभी विदेहक्षेत्र में पुण्डरीकिणी नगरी के निकट मधुक वन में पुरूरवा नामक एक भील था, उसकी स्त्री का नाम कालिका था। उस वन में एक सागरसेन नामक मुनि ध्यान कर रहे थे। पुरूरवा ने दूर से उनकी चमकती हुई आँखों को हिरण की आँखें समझा, अतः सागरसेन मुनि महाराज को हिरण समझकर मारने के लिये धनुष पर बाण चढ़ाया। उसी समय झट उस की स्त्री ने पुरूरवा को रोक दिया—कहा कि 'क्या अनर्थ कर रहे हो? अपने बाण से पूज्य साधु महाराज को मारना चाहते हो? वह हिरण नहीं है, वे तो एक महात्मा ऋषि हैं।'

पुरूरवा की होनहार अच्छी थी, उसके हृदय में मुनि महाराज की श्रद्धा हुई और उसने उनके निकट जाकर क्षमा मांगी तथा मुनि महाराज के उपदेश से मांस भक्षण का त्याग करके अहिंसा अणुव्रत लिया। इस दयामय परिणामों से वह मरकर स्वर्ग आया और वहाँ से आकर भगवान् ऋषभनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरीचि हुआ।

युवावस्था में ही अपने पितामह भगवान ऋषभनाथ के साथ साधु हो गया परन्तु साधुचर्या में भूख, प्यास आदि सहन न कर सकने के कारण भ्रष्ट साधु बनकर तप करने लगा। इस तरह मिथ्या श्रद्धा तथा अज्ञान तप के कारण देवगति आदि पाता रहा किन्तु संसार भ्रमण करता रहा। कभी देव हुआ, कभी राजा हुआ, कभी नारायण पद पाया, कभी सातवें नरक भी गया, अनेक पशु योनियां भी पाईं। इस तरह उच्च नीच शरीर पाते हुए भगवान् महावीर के भव से १० भव पहले हिमगिरि पर एक सिंह उत्पन्न हुआ। जानवरों को मारकर खाना उसका काम था।

एक दिन सयोग से उस पर्वत पर अजितंजय और अमिततेज नामक दो चारण ऋद्धि-धारक मुनि आ निकले, उन्होंने उस सिंह को एक हिरण का पीछा करते हुए देखा। अपने दिव्यज्ञान से उस सिंह को निकट भव्य जानकर मधुर स्वर में उस सिंह को पुकार कर कहा कि वनराज सिंह! क्या कर रहे हो? अपना पेट भरने के लिये दूसरे जीव का प्राण हनन कर रहे हो। कहाँ तुम चक्रवर्ती के पुत्र थे, कहाँ तुम्हारी यह पशु गति है? जिन बुरे कामों से तुम्हारी दुर्गति हुई, उन ही हिंसादि बुरे कामों को फिर कर रहे हो।

मुनि महाराज के मधुर उपदेश को सुनकर अपने पहले भवों का स्मरण हुआ और इस कृत्य पर उसे बहुत दुःख हुआ, उसके नेत्रों से आँसू निकल पड़े, उसने भूखा रहना शान्ति से स्वीकार किया किन्तु प्राणि हिंसा करना छोड़ दिया। यहाँ से उसके जीवन में उन्नति रूप क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। जिसके फलस्वरूप वह सिंह मरकर सिंहकेतु देव हुआ। स्वर्ग से आकर कनकोज्वल नामक राजकुमार हुआ। तपस्या करके फिर देव हुआ। वहाँ से आकर हरिषेण नामक राजपुत्र हुआ, तब १० वें स्वर्ग का देव हुआ।

उस देव गति से आकर विदेहक्षेत्र में प्रियमित्र चक्रवर्ती हुआ। राजसुख भोगकर साधुदीक्षा ली। तदनन्तर समाधि के साथ मरण कर इन्द्र हुआ। वहाँ की आयु पूर्ण करके नन्द नामक राजपुत्र हुआ। युवावस्था में प्रोष्ठिल मुनि से धर्मउपदेश सुनकर राज पाट त्याग करके उसने मुनिदीक्षा ग्रहण की। कठोर तपस्या करते हुए नन्द मुनि ने १६ भावनाओं को भाया, जिसके फलस्वरूप उसने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। वहाँ का आयु पूर्ण करके सोलहवें अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हुआ।

तदनन्तर इन्द्रपद का समय समाप्त करके अब से ढाई हजार वर्ष से कुछ पहले भारत के देश के विहार प्रान्त के कुण्ड ग्राम (कुण्डलपुर) में राजा सिद्धार्थ के राजभवन में माता त्रिशला (प्रियकारिणी) की कोख से अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के रूप में जन्म लिया। उनके नाना वैशाली गणतन्त्र के प्रधान विख्यात राजा चेटक थे। युवा हो जाने पर कलिंग देश के राजा जितशत्रु की सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या यशोदा के साथ भगवान महावीर के साथ पाणिग्रहण करने का प्रस्ताव आया किन्तु भगवान् महावीर ने विवाह नहीं किया। ३० वें वर्ष की तरुण वय में उन्होंने राजसुख त्यागकर मुनि पद ग्रहण किया।

नग्न दिगम्बर रूप में वे १२ वर्ष ५॥ मास तक कठोर तपस्या करते रहे। तदनन्तर जृम्भकग्राम के निकट ऋजुकूला ॐ नदी के किनारे वैशाख सुदी १० के दिन मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का समूल क्षय करके पूर्ण वीतराग, पूर्णज्ञाता (सर्वज्ञ) हो गये।

तीर्थंकर के सर्वज्ञ हो जाने पर उनके दिव्य उपदेश से जनता को लाभ पहुंचाने के लिये इन्द्र एक बहुत सुन्दर कलापूर्ण बहुत विशाल सभामण्डप बनाया करता है, तदनुसार भगवान महावीर के लिये भी 'समवशरण' बनाया गया जिसमें भगवान का पवित्र उपदेश सुनने के लिए असख्य नर, पशु, पक्षी, देव, साधु, साध्वी, वहाँ एकत्र हुए परन्तु भगवान् का दिव्य उपदेश प्रारम्भ नहीं हुआ। इन्द्र आश्चर्य चकित था कि क्या ऐसी त्रुटि है जिससे वीर प्रभु की दिव्य वाणी प्रकट नहीं हुई। इस आशा में कि 'संभवतः आज नहीं तो कल भगवान् का उपदेश अवश्य होगा।' इस प्रकार ६५ दिन व्यतीत हो गये।

तब चिन्तातुर इन्द्र ने अपने दिव्य (अवधि) ज्ञान से विचार किया कि 'मामला क्या है जो कि भगवान् का उपदेश नहीं हो रहा।' तब इन्द्र को मालूम हुआ कि 'भगवान के बीज पद रूप गूढ उपदेश को सुनकर खुलासा समझने तथा समझाने वाले विद्वान् का यहाँ पर अभाव है, अतः इस त्रुटि की पूर्ति होना परम आवश्यक है।' अवधि ज्ञान द्वारा ही उसको ज्ञात हुआ कि इसके योग्य विद्वान् इन्द्रभूति गौतम हैं। तब इन्द्र एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाकर, अपने आप को भगवान् महावीर का शिष्य प्रकट करके कूट युक्ति से गौतम को उस समवशरण मे लाया। इन्द्रभूति गौतम ने ज्यों ही भगवान् का दर्शन किया त्यों ही वह भगवान् महावीर का विनीत शिष्य बनकर वहीं पर साधु बन गया।

उसी समय ६६ दिन पीछे राजगृही के निकट विपुल पर्वत-पर श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन प्रभात बेला में भगवान् महावीर का सर्व प्रथम विश्वहितकर उपदेश प्रारम्भ हुआ। उस दिन को जनता ने वर्ष का आद्य दिवस (पहला दिन) निश्चित किया। प्राचीन ग्रन्थों से प्रगट होता है कि

ॐ जृम्भक गाम सभवत विहार प्रान्त का झरिया नगर होगा, वराकर नदी का नाम उस समय ऋजुकूला होगा। (भ० महावीर पृष्ठ १०८)

पहले भारत में श्रावण बदी प्रतिपदा के दिन से ही वर्ष का प्रारम्भ माना जाता था । इस तरह वीर शासन (भगवान् महावीर के उपदेश) का उदय होने से यह दिन स्मरणीय पवित्र दिवस बन गया। कुछ समय से जैन समाज इस पवित्र दिवस को भूल गया था किन्तु जैन साहित्यिक इतिहास के प्रकाण्ड पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार ने धवल ग्रन्थ के स्वाध्याय से इस दिन का पुनः पता लगाया। इस शुभ अन्वेषण के लिये जैन समाज को उनका आभारी होना चाहिये।

आज भगवान् महावीर हमारे सामने नहीं हैं अत: उनकी वाणी के साक्षात् श्रवण करने का सौभाग्य हमको नहीं मिल रहा है। उनके आद्य गणधर श्री गौतम स्वामी भी कभी के मुक्त हो चुके हैं अतः उनके द्वारा भी हमको वीर वाणी सुनने का प्राप्त नहीं। भगवान् महावीर के अन्य गणधर भी इस समय नहीं हैं और न कोई अन्य केवलज्ञानी या श्रुतकेवली इस समय यहां विद्यमान हैं। फिर भी भगवान् महावीर की शिष्य परम्परा उनके पीछे भी बहुत समय तक बनी रही, उस शिष्य परम्परा द्वारा भगवान् की दिव्यवाणी पहले ता मौखिक पठन पाठन से चलती रही, फिर कषाय पाहुड़ के ज्ञाता श्री गणधर आचार्य ने कषायपाहुड ग्रन्थ की रचना की, तदनन्तर श्रीधरसेन आचार्य ने मेधावी विद्वान् पुष्पदन्त भूतबली को सिद्धान्त पढाकर ग्रंथ रचना के लिये प्रेरणा की, तदनुसार उन्होंने षट्खण्ड आगम की रचना की। यतिवृषभ आचार्य ने कषायपाहुड़ पर चूर्णिसूत्र बनाये। श्री वीरसेन आचार्य ने षट्खण्ड आगम के पहले ५ खण्डों पर धवल टीका, छठे खंड महाबंध पर महाधवलाटीका और कषायपाहुड़ पर जयधवला टीका ये टीकायें प्राय: पौने दो लाख श्लोक प्रमाण है। इतना बड़ा साहित्य आज तक संसार में किसी भी विद्वान् ने नहीं लिखा। श्री कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, जिनसेन, प्रभाचंद्र, रविषेण, गुणभद्र, वीरनन्दि आदि अनेक विद्वान ऋषियों ने गुरु परम्परा से भगवान महावीर की वाणी जो प्राप्त की उसको प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं में महत्वपूर्ण ग्रन्थों के रूप में लिखकर चालू रक्खा। इस प्रकार भगवान् महावीर की वाणी आज भी हमको पढ़ने सुनने के लिये मिल रही है।

जिस तरह अभेद्य मणियों में वज्रसुई से छेद करके उनमें सूत्र (सूत) पिरोकर मणिमाला बना ली जाती है, जिससे बिखरी हुई मणियाँ एकत्र बनी रहती हैं उसी भगवान् महावीर के अनुयायी नररत्न बिखरे हुए हैं उनको भगवान् महावीर की वाणीरूपी सूत्र द्वारा संगठित किया जा सकता है। अतः जिनवाणी के प्रचार द्वारा ही जैन समाज का संगठन किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ने जहां आत्म-कल्याणकारी उपदेश दिया, मुक्तिपथ का प्रदर्शन किया, अज्ञान, अन्ध श्रद्धा को मिटाया, ज्ञान का प्रकाश किया, वहीं सामाजिक व्यवस्था की भी सुन्दर प्रणाली बतलाई। अपने भक्तों को चार संघों में संगठित रहने की विधि का निर्देश किया। मुनि, आर्यिका श्रावक, श्राविका के उचित आचार का उपदेश भगवान् महावीर ने अच्छे विस्तार से दिया। उस चतुर्विध संघ की संगठित प्रणाली भगवान् महावीर के पीछे भी चलती रही जिससे जैनधर्म की परम्परा अनेक विघ्न बाधाओं के आते रहने पर भी बनी रही।

आज उस चतुर्विध संघ का संगठन शिथिल दीख रहा है, इसी से जैन समाज मे निर्बलता प्रवेश करती जा रही है, अतः जैनधर्म को प्रभावशाली बनाने के लिये हमको अपने चारों संघों का मजबूत संगठन करना चाहिये। 'संघे शक्तिः कलौ युगे' यानी—इस कलियुग में संगठन द्वारा ही शक्ति पैदा की

जा सकती है। इस कारण वीर शासन को व्यापक बनाने के लिये हमारा प्रथम कर्तव्य अपने सामाजिक संगठन को बहुत दृढ़ बनाना है।

इस कार्य मे प्रत्येक वर्ग को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये। गृहस्थों का संगठन समस्त सामाजिक त्रुटियों को दूर कर सकता है। जिन कार्यों को कठिन दुःसाध्य या असाध्य समझ कर छोड़ दिया जाता है, वे कार्य सगठित शक्ति के द्वारा सरलता के साथ सम्पन्न हो जाते हैं। जो बुराइयां जनता के निर्बल भाग को और भी अधिक निर्बल बनाती हैं उन बुराइयों का अस्तित्व सामाजिक संगठन के सम्मुख रहने नहीं पाता।

विद्वद्वर्ग को भी सगठन में पूर्ण सहयोग देना चाहिये, समाज का मस्तिष्क विद्वान् लोग है। मस्तिष्क के समान उनको समाज की प्रगति का पथप्रदर्शन करते रहना चाहिये।

गृहस्थ वर्ग की तरह व्रती त्यागी लोगों का सगठन भी वीरवाणी प्रचार के लिये आवश्यक है। सारांश यह है कि माला की तरह सब सूत्र में पिरोकर वीर प्रभु के अनुयायियों को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये।
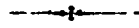
प्रवचन नं० ३३

स्थान — श्री दिगम्बर जैन कूचा सेठ दिल्ली।

तिथि— श्रावण कृष्णा २ बृहस्पतिवार, ७ जुलाई १९५५

जिनेन्द्र पूजन

आत्मा में अपने अच्छे बुरे विचारों का परिणमन, परिवर्तन स्वय होता है, परन्तु भावों के पलटने मे बाहरी पदार्थ भी प्रभाव डालते हैं।

एक मनुष्य के एक पुत्र उत्पन्न होता है, इतनी ही बात से उस मनुष्य के घर में हर्ष का सागर उमड उठता है। वह पुत्र जीवित रहेगा या नहीं, कुपुत्र बनेगा या सुपुत्र, इस बात का ज्ञान न होने पर भी आनन्द का स्रोत उसके हृदय में बहने लगता है। रात्रि के समय एक मनुष्य का पैर रबड की गाल नली पर पड जाता है, भ्रम से वह समझ बैठता है कि मेरे पैर के नीचे सांप आ गया, इतनी ही गलत धारणा से उसके हृदय में तत्काल भय का सचार हो जाता है वह एक दम चीख पडता है। राम और लक्ष्मण के अनुपम भ्रातृ-प्रेम की परीक्षा लेने के लिये एक देव स्वर्ग से आया, उसने राम के नौकर चाकरों का कृत्रिम रूप बनाया, और रोते पीटते, शोक प्रगट करते वह उसी रूप में लक्ष्मण के पास गया तथा प्रेम की परीक्षा करने के लिय झूठमूठ कह दिया कि 'राम मर गये हैं।' इतना समाचार सुनते ही लक्ष्मण की हृदयगति रुक कर (हार्टफेल होकर) मृत्यु हो गई।

एक रेलगाड़ी के एक ही डिब्बे में दो मनुष्य रात्रि के समय यात्रा कर रहे हैं, एक के पास अपने बिस्तर के सिवाय और कुछ नहीं है, वह निश्चिन्त होकर पैर फैलाकर सो रहा है। दूसरे मनुष्य के पास

३-४ सन्दूक है जिनमें चांदी के बर्तन और सोने के आभूषण तथा जरी के वस्त्र हैं, वह मनुष्य अपने उन मूल्यवान वस्तुओं से भरे सन्दूका के कारण क्षण भर भी बेफिक्री की झपकी नहीं ले पाता।

इसी तरह अन्य जड़ चेतन बाहरी पदार्थ भी आत्मा पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। इनमें से चाक्षुप पदार्थ (नेत्रों से दीखने वाली चीजें) अधिक प्रभाव डालते हैं। प्रत्येक मनुष्य जानता है कि सिनेमा में दिखाई देने वाले चलचरित्र निर्जीव फिल्म की छाया रूप हैं तथा अभिनय करने वाले स्त्री पुरुष (ऐक्टर ऐक्ट्रैस) भी नाटक की तरह अनेक तरह के रूप बना कर बनावटी हंसी, शोक, रोना हर्ष आदि की चेष्टा करते हैं, उसमे वास्तविकता कुछ भी नहीं है, फिर लोग फिल्मों को देख कर कभी हसते हैं, कभी करुणाजनक दृश्य देखकर रोते हैं तथा अनेक प्रकार की अच्छी बुरी शिक्षा लेकर वहां से आते हैं।

इसी सिद्धान्त के आधार पर बहुत प्राचीन युगों से चित्रकला, मूर्तिनिर्माण कला तथा मूर्तिपूजा प्रचलित है। महाभारत की कथा अनुसार एकलव्य भील ने धनुर्विद्या विशारद द्रोणाचार्य की एक कृत्रिम मूर्ति बना कर अपनी झोंपड़ी में स्थापित की थी, उस मूर्ति को ही वह अपना गुरु मानकर धनुषबाण चलाने का अभ्यास करता था, उसके हृदय में संकल्प था कि द्रोणाचार्य मुझे धनुषबाण चलाना सिखा रहे हैं। इसी रीति से अभ्यास करके धनुषवाण चलाने में अर्जुन, कर्ण के समान निपुण हो गया था।

जिस तरह एकलव्य ने धनुषवाण की शिक्षा ग्रहण करने के लिए द्रोणाचार्य की मूर्ति से लाभ उठाया उसी तरह आत्मा को क्रोध, मान, चिन्ता, भय, काम, राग, द्वेष आदि विकारों से शुद्ध करने के लिये श्री जिनेन्द्र देव की निर्विकार शान्त, प्रसन्न, निर्भय, आत्मनिमग्न मूर्ति का दर्शन पूजन लाभदायक है। वैष्णव ग्रन्थ योगवाशिष्ठ में लिखा है कि जब रामचन्द्र को संसार से वैराग्य हुआ तब रामचन्द्र ने भावना की कि—

नाहं रामो न मे वांछा भावेषुच न मे मनः।
शान्तिमासितु मिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

अर्थात्—न मै 'राम' हूँ, न मुझे कोई इच्छा है, न संसार के किसी पदार्थ में मेरा मन है। मैं तो अपनी आत्मा में ही निमग्न हो कर जिनेन्द्र देव के समान शान्ति प्राप्त करना चाहता हूं।

योगवाशिष्ठ लिखित राम-भावना के अनुरूप ही जिनेन्द्र गभवान् के भक्त पुजारी जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं क्योंकि जिनेद्र भगवान् ने ही योग बल से आत्मा की शांति तथा ज्ञान सुख आदि शक्तियों का पूर्ण विकाश किया है, अतः उनकी पूजा भक्ति द्वारा ही वह आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त हो सकती है। इसी को लक्ष्य करके प० आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में लिखा है—

दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः।
श्रयन्त्यहम्पूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितम्॥३२॥

यानी—व्रतरहित सम्यग्दृष्टि भी यदि अरहंत भगवान् की पूजा करे तो उस को भी आत्मा की अभ्युदय सिद्धियां स्वयं प्राप्त होती हैं तो यदि व्रती पुरुष पूजा करे तब उसकी ऋद्धि सिद्धि का कहना ही क्या है।

प्रति दिन सूर्य उदय होने से पहले ब्राह्ममुहूर्त मे उठना चाहिये क्योंकि धर्म साधन विद्याभ्यास तथा अन्य व्यावहारिक कार्यों में सफलता पाने का इच्छुक व्यक्ति तभी सफल हो सकता है जब कि सूर्य उदय होने से पहले उठे। नीतिकार ने भी कहा है—

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं बह्वाशिनं निष्ठुरभाषणञ्च ।
सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिः ॥

यानी—मैला कुचैला रहने वाले, मैले दांतों वाले, बहुत खाने वाले, कटु भाषी, सूर्य उदय हो जाने पर तथा सूर्य अस्त होने ही सो जाने वाले मनुष्य को चाहे वह चक्रवर्ती राजा ही क्यों न हो, पर उसे लक्ष्मी छोड़ जाती है।

अतः सूर्य उदय होने से पहले उठकर अपने दोनो हाथों की हथेली मिला कर उन्हे देखे, दोनों हाथों की दीर्घ रेखाओं का मिलकर आकार सिद्धशिला के समान हो जाता है, हथेलियों को देखते ही सिद्धपरमेष्ठी के निवास स्थान का स्मरण हो जाता है । फिर कम से कम ६ बार णमोकार मंत्र पढकर शौच (मल मूत्र) करने जाना चाहिए। मल-मूत्र के हाथ मिट्टी से मल कर जल से धोवे। मल मूत्र वाले हाथ मिट्टी द्वारा ही शुद्ध होते हैं । कुछ लोग साबुन से धो लेते हैं वह ठीक नहीं है। फिर शुद्ध जल से मुख शुद्धि करके शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए। स्नान करने से सर्वांग शुद्धि हो जाती है। सर्वांग शुद्धि हो जाते पर ही भगवान् की पूजा—जैसा पवित्र कार्य करना उचित है। सागारधर्मामृत में कहा भी है—

स्त्र्यारम्भ सेवासंक्लिष्टः स्नात्वाऽऽकण्ठमथाशिरः ।
स्वयं यजेतार्हत्यादानस्नातोऽन्येन याजयेत् ॥३४॥

यानी—स्त्री सेवन तथा आरम्भ कार्य आदि से अशुद्ध मनुष्य सिर या कंठ तक स्नान करके स्वय अर्हन्त देव की पूजा करे। यदि स्वय स्नान न किया हो तो अन्य मनुष्य से पूजन करावे।

नित्यं स्नानं गृहस्थस्य देवार्चन परिग्रहे ।
यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥

अर्थात्—देव पूजा के लिये गृहस्थ को नित्य स्नान करना चाहिए, मुनि को म्लेच्छ का स्पर्श हो जाने पर स्नान (दंडस्नान) करना चाहिये । इस के सिवाय अन्य समय मुनि के लिये स्नान करना निषिद्ध है।

स्नान करने के अनन्तर शुद्ध वस्त्र पहन कर कुएं के शुद्ध जल से धोकर पूजन के अष्ट द्रव्य बना कर घर से ले जावे अथवा मंदिर मे ही स्नान करके वहीं पर अष्ट द्रव्य तैयार करे। तदनन्तर भगवान् का पूजन बहुत प्रसन्नता और उत्साह के साथ प्रारम्भ करे।

पूजन का पहला अंग अभिषेक है, सो प्रथम ही संस्कृत भाषा का अथवा हिन्दी भाषा का अभिषेक पाठ पढ़ता हुआ अभिषेक करे।

उत्तर प्रान्त में बहुत से मनुष्य अभिषेक करते समय पं० रूपचन्द्र जी पांडे रचित मंगल पाठों में से गर्भ कल्याणक तथा जन्म कल्याणक के मंगल छन्द पढ़ते हैं और 'सहस्र अठोतर कलशा प्रभु के शिर ढरें' पढ़ते हुए भगवान का अभिषेक करते है, यह प्रथा बहुत गलत है। अर्हन्त भगवान् की मूर्ति का जन्म कल्याणक सम्बन्धी अभिषेक करना या समझना बहुत मोटी भूल है। पूजन के समय अर्हन्त प्रतिमा का अभिषेक जन्म कल्याणक की क्रिया नहीं है वह घातिकर्म मुक्त अर्हन्त भगवान् की पूजा का अंग है। अतः पं० रूपचन्द्र जी पांडे का बनाया हुआ अभिषेक पाठ ही उस समय पढ़ना चाहिये।

अभिषेक कर लेने पर आह्वान, स्थापन और सन्निधीकरण करके क्रमशः जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन अष्ट द्रव्यों से (तथा अष्ट द्रव्य के मिश्रित रूप अर्घ से) अर्हन्त भगवान् की, सिद्ध परमेष्ठी को, तीर्थंकरों की पूजन करनी चाहिये। तथा पंच परमेष्ठी, जिनवाणी, अकृत्रिम चैत्यालय आदि की पूजा भी करनी चाहिये। पूजन कर लेने पर शान्तिपाठ पढ़कर तदनन्तर अन्त मे विसर्जन पाठ पढ़ते हुए विसर्जन करना चाहिये।

प्रतिदिन साधारण जो पूजा की जाती है वह दैनिक पूजा है। आषाढ़, कार्तिक और फागुन के अन्तिम आठ दिनों में देवगण नन्दीश्वर द्वीप के ५२ अकृत्रिम चैत्यालयो की बड़े समारोह से पूजन करते हैं उसी के अनुरूप अष्टाह्निका (आठ दिन) में नन्दीश्वर द्वीप की पूजा करना अष्टान्हिक पूजन है। चतुर्मुख प्रतिमा विराजमान करके ३२ हजार मुकुट बद्ध राजा एक साथ जो पूजा करते है सो सर्वतोभद्र या महामह पूजा है। दिग्विजय करके जब चक्रवर्ती बडे समारोह से जो पूजा करता है और पूजा करके याचकों को मुँह मांगा दान करता है सो कल्पद्रुम पूजा है। तथा—इन्द्र जो अपने समस्त देव परिकर के साथ भगवान की पूजा करता है उसका नाम इन्द्रध्वज पूजा है। पूजा के ये पांच मुख्य भेद है। दशलक्षण आदि अन्य विशेष पूजन पाठ भी इनमें ही सम्मिलित कर लिए जाते है।

पूजन करते समय स्नान करने, अष्ट द्रव्य बनाने आदि में कुछ आरम्भ जनित पाप होता है किन्तु पूजन करने से जो आत्मशुद्धि तथा महान् पुण्य बन्ध होता है उसकी तुलना में वह थोडा सा पाप कुछ हानि नहीं पहुंचाता। श्री समन्तभद्र आचार्य ने भगवान् वासुपूज्य का स्तवन करते हुए लिखा है—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्य राशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशेः ॥

अर्थात्—हे भगवन्! जिस तरह विष की एक बूंद शीतल क्षीर सागर का जल नहीं बिगाड़ सकती, इसी तरह आपकी पूजा करने वाले मनुष्य का पूजा-सम्बन्धी आरम्भ जन्य थोडा सा पाप पूजा द्वारा उपार्जित महान् पुण्य राशि में कुछ हानिकारक नहीं हो सकता। यानी—पुजारी आध्यात्मिक दृष्टि से लाभ में ही रहता है।

इसी कारण मन्दिर निर्माण कराने मे तथा मूर्ति की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराने मे, वेदी प्रतिष्ठा, शिखर पर कलशारोहण मानस्तम्भ प्रतिष्ठा कराने, रथयात्रा आदि कार्यों मे जो कुछ आरम्भ-सम्बन्धी पाप होता है वह उपार्जित महान् पुण्य में विलीन हो जाता है। अत. प्रत्येक सद्गृहस्थ को प्रात.काल प्रतिदिन प्रमाद छोड़कर भगवान् की पूजा अवश्य करनी चाहिये।

जब हम को नेत्र मिले हैं तो इन के द्वारा सब से बड़ा कार्य भगवान का दर्शन अवश्य करना चाहिए, जब तक हमारी जीभ में बोलने की शक्ति है तब तक भगवान् की स्तुति पूजन बहुत मीठे स्वर में अवश्य पढनी चाहिए। जब तक हाथ कार्य कर रहे हैं तब तक भगवान् का अभिषेक पूजन करके तथा दान करके हाथों को सफल बनाना चाहिये। और जब तक पैरों में चलने फिरने की शक्ति है तब तक जिन मन्दिर में प्रति दिन दर्शन पूजन के लिये अवश्य जाना चाहिये। यथावसर तीर्थ यात्रा करनी चाहिये।

—०—

प्रवचन नं० ३४

स्थानः— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ दिल्ली

तिथिः— श्रावण कृष्णा ३ शुक्रवार, ८ जुलाई १९५५

पाक्षिक श्रावक

दूर देश की यात्रा करने के लिये यानी विविध वाहनों (सवारियों) का प्रयोग करते हैं। जिन मनुष्यों को अपनी यात्रा शीघ्र समाप्त करने की इच्छा होती है और जिनके पास अधिक द्रव्य खर्च करने की सामर्थ्य होती है वे वायुयान (हवाई जहाज) का टिकट लेकर एक हजार मील की यात्रा ३-४ घण्टे में कर लेते हैं, कोई मनुष्य मोटर स यात्रा करके कुछ अधिक समय में अपने लक्ष्य पर जा पहुचते हैं। जो व्यक्ति मोटर के सफर का खर्च नहीं कर सकता वह मेल ट्रेन से यात्रा करता है। इसी तरह अन्य व्यक्ति अपनी इच्छा और सामर्थ्य के अनुसार तांगा, बैलगाड़ी और ऊँटगाड़ी आदि से यात्रा करते हैं।

तथा जिन के पास खर्च करने के लिये कुछ द्रव्य नहीं होता वे पैदल ही विहार करते हैं। जैन साधुओं की यात्रा पैदल ही होती है।

इसी तरह संसार-यात्रा को पार करने के लिये अपनी शक्ति तथा इच्छा के अनुसार विविध साधनों का उपयोग किया जाता है। शीघ्र ससार पार होने के इच्छुक व्यक्ति जिस मार्ग पर चलते हैं वह मार्ग कठिन तो होता है किन्तु संसार यात्रा को शीघ्र समाप्त कर देता है। दूसरे सरल मार्ग ससार से पार कराने में बहुत समय लेते हैं।

एक तीक्ष्ण धार वाले भाले की नोंक पर एक सेब लगा हुआ है उसको शीघ्र झपट लेने के लिये तोता आदि परिश्रम पक्षी सफल हो सकता है अथवा चींटी जैसा क्षुद्र कीट वह तक पहुचकर उसको अपना आहार बना सकता है किन्तु सेब तक पहुचने और उस को समाप्त करने में उसे समय अधिक लगेगा। यदि चूहा उस सेब को खाना चाहे तो भाले की तीक्ष्ण धार उसे सेब तक पहुँचने से पहले ही घायल कर देगी।

इस प्रकार संसार को पार करने का शीघ्रगामी किन्तु बहुत कठिन मार्ग मुनि धर्म है। आद्य संहनन धारक धीर वीर साहसी महान् सहिष्णु मुनि अपने कठोर तप द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर लेता है, मुनि चर्या कठिन तो बहुत है परन्तु संसार से शीघ्र पार कर देती है।

इसी कारण श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ मे बतलाया है कि मुमुक्षु (मोक्ष चाहने वाले) को प्रथम ही मुनिधर्म ग्रहण करने का उपदेश देना चाहिये, जो आचार्य ऐसा न करके पहले गृहस्थधर्म का उपदेश देने लगता है वह दण्डनीय है । उन्होने लिखा है—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥

यानी जो आचार्य किसी आत्म कल्याण इच्छुक पुरुष को प्रथम ही मुनि धर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है, वह जिनेन्द्र भगवान् के विधान अनुसार दण्डनीय बतलाया गया है ।

यदि कोई व्यक्ति शीघ्रगामी किन्तु कठिन मुनि मार्ग पर न चलना चाहे तो उसके लिए गृहस्थ धर्म का विधान बतलाना चाहिये । इसी के अनुरूप पं० आशाधर जी ने प्रथम ही मुनि धर्म का ग्रन्थ अनगार धर्मामृत बनाया । तदनन्तर गृहस्थ धर्म का निरूपक सागार धर्मामृत ग्रन्थ बनाया ।

गृहस्थो के भी आचार श्रेणी के अनुसार अनेक भेद हैं । ऐलक क्षुल्लक भी गृहस्थ धर्म अनुयायी हैं जो कि मुनि के लघु भाई कहलाते हैं । उनमे निम्न श्रेणी के गृहस्थ क्रमशः १० वीं श्रेणी, ९ वीं, ८ वीं, सातवीं, छठी, पांचवीं, चौथी, तीसरी, दूसरी तथा पहली प्रतिमा का आचरण करते हैं ।

यदि कोई व्यक्ति पहली प्रतिमा का भी आचरण न कर सके तो मुक्ति प्राप्त करने की पहली सीढ़ी पाक्षिक श्रावक का आचार ग्रहण करना उपयोगी है ।

'पाक्षिक' शब्द का अर्थ 'धर्म की पक्ष रखने वाला' है । तदनुसार जो गृहस्थ धर्म का सत्य स्वरूप जानकर अपने आत्मा को कर्मजाल से मुक्त करने के लिये सत्‌देव, शास्त्र, गुरु की शरण लेता है, उनके सिवाय अन्य देवी देवताओं, शास्त्रो तथा साधुओं को श्रद्धा हृदय में नहीं रखता वह पाक्षिक श्रावक है ।

राग द्वेष मोह आदि १८ दोषों से रहित होने के कारण जो वीतरागी है यानी-जो न किसी पदार्थ या व्यक्ति से प्रेम करता है और न किसी से द्वेष घृणा करता है, जन्म मरण भूख प्यास जिस को नहीं रही । तथा—ज्ञानावरण पूर्ण क्षय हो जाने के कारण जो तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थों को यथार्थ जानता है । भूतकाल में जो कुछ हुआ इस समय जो कुछ हो रहा है और भविष्य में जो कुछ भी होगा ऐसे पूर्णज्ञाता का नाम सर्वज्ञ है । जो समस्त जीवों को कल्याण करने वाला उपदेश देता है उसे हितङ्कर या हितोपदेशक कहते हैं । सतदेव में यह तीनों विशेषतायें हुआ करती हैं यानी-जो वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी होता है वह सच्चा देव है । अर्हन्त, जिनेन्द्र, भगवान् आदि उसके अनेक नाम हैं ।

गुरु परम्परा से प्राप्त हुई श्री अर्हन्त देव की वाणी जिन शास्त्रों में लिखी हुई है, उन शास्त्रों को सच्चा शास्त्र कहते हैं । सर्वज्ञ और वीतराग की वाणी में प्राणी मात्र की रक्षा तथा कल्याण का उपदेश होता है । आत्म परमात्मा संसार मुक्ति आदि सिद्धान्तों का यथार्थ वर्णन होता है, उसमें आगे पीछे (पूर्वापर) विरोध नहीं होता है, कोई भी उसको असत्य प्रमाणित नहीं कर सकता, अतः जिनेन्द्र वाणी से अंकित शास्त्र ही सत्‌शास्त्र कहलाते हैं । जिनवाणी, आगम, सरस्वती आदि भी सच्चे शास्त्र के ही दूसरे नाम हैं ।

जो समस्त आरम्भ, परिग्रह तथा सासारिक विषयवासनाओ से रहित हो, आत्मचिन्तन, ज्ञान-अर्जन ध्यान में लीन रहता है ऐसा साधु सद्गुरु है।

पाक्षिक श्रावक दृढ़ अचल श्रद्धा से इन सत देव, शास्त्र, गुरु का उपासक होता है इन के सिवाय अन्य देवी देवताओं, शास्त्र, साधुओं की उपासना नहीं करता। ससार का कोई भी भय, प्रलोभन तथा विपत्ति उस पाक्षिक श्रावक को इस अटल श्रद्धा से चलायमान नहीं कर सकता, न कोई उसे इस विषय में किसी प्रकार का धोखा दे सकता है।

वह नित्य नियम से प्रतिदिन श्री जिनेन्द्रदेव का दर्शन करता है, पूजन करता है इस धर्म साधन के लिये वह जिन मन्दिर बनवाता है अथवा किसी बने हुए जिन मन्दिर में जाता है। मदिर धर्म साधन का इस कलिकाल में गृहस्थों के लिये मुख्य साधन है। प्रतिदिन मन्दिर मे देव-दर्शन पूजन करने से धार्मिक सस्कार बने रहते हैं। जहां पर मदिर नहीं होता या जो स्त्री पुरुष मदिर नहीं जाया करते उनकी धर्म भावना शिथिल हो जाती हैं। इसी कारण प० आशाधर जी ने सागारधर्मामृत मे कहा है—

धिग्दुष्षमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदृशामपि।
चैत्यालोकादृते न स्यात् प्रायो देवविशा यतिः ॥ २-३६ ॥

अर्थात्—इस कलिकाल रूपी रात्रि को धिक्कार है जिस मे ज्ञानवान लोगों को प्रतिमा रूपी प्रकाश के बिना परमात्मा का दर्शन नहीं होता। यानी आजकल भगवान् की प्रतिमा का दर्शन ही परमात्मा के दर्शन का कारण है।

अत: धार्मिक संस्कार स्थिर रखने के लिये जिन प्रतिमा और जिनालय परम आवश्यक हैं। इसी लिये पाक्षिक श्रावक प्रतिदिन नियम से दर्शन पूजन करता है।

दूसरे—वह जल दोहरे वस्त्र से छान कर पिया करता है। क्योंकि जल में सूक्ष्म असख्य त्रस कीटाणु होते हैं। उनकी रक्षा दोहरे कपड़े से पानी छानने पर ही हो सकती है।

तीसरे—पाक्षिक श्रावक रात्रि को भोजन नहीं करता है। रात्रि समय भोजन में अनेक कीटाणुओं के भोजन में आजाने की सम्भावना रहती है जोकि सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देते। सूर्य के प्रकाश और गर्मी में उनकी उत्पत्ति भी नहीं होती है। इस कारण पाक्षिक श्रावक दिन में ही भोजन करता है।

इस तरह प्रतिदिन देव दर्शन करना, जल छान कर पीना तथा दिन में भोजन करना ये तीन चिन्ह पाक्षिक श्रावक के होते है।

इसके सिवाय वह दयालु चित्त होता है अत: त्रस जीवों (दो इन्द्रिय आदि) को जान बूझ कर नहीं मारता, जहा तक होता है वह सावधानी से काम काज करता है जिससे छोटे कीडे मकोड़े भी न मरने पावें।

इसी कारण पाक्षिक श्रावक मांस खाने का त्याग कर देता है, क्योंकि मास त्रस जीवों की हिंसा से उत्पन्न होता है और उस मे प्रति समय असख्य त्रस जीव उत्पन्न होते रहते है इस कारण जीव हिंसा

से बचने के लिये वह न तो किसी भी तरह का कच्चा, पक्का (सूखा) मांस खाता है, न किसी का अंडा खाता है क्योकि अंडा भी कच्चे जीव में शरीर के रूप में मांस का ही रूपातर है।

तथा-वह अपनी बुद्धि निर्मल रखने के लिये तथा कीटाणुओं की रक्षा के लिये शराब भी नहीं पीता और न मधु (शहद) खाता है।

कम से कम इतनी श्रद्धा, ज्ञान, आचरण पाक्षिक श्रावक के होता है।

आजकल के जैन प्राय: पाक्षिक श्रावक हैं क्योंकि पहली दूसरी-आदि प्रतिमाओं का आचरण थोडे से व्यक्तियों के पाया जाता है। पाक्षिक श्रावक का आचरण सबसे कम श्रेणी का है अत: इस सबसे छोटे आचरण में कमी न आने देना चाहिये। कुछ लोग रात्रि भोजन करने लगे हैं, कोई कोई गृहस्थ विवाह के समय रात्रि भोजन करते कराते हैं इस प्रथा और आदत का त्याग कर देना चाहिये।

कुछ युवक मांसभक्षियों की संगति से अंडे खाने लगे हैं उन्हें यह अभक्ष्य-भोजन तुरन्त छोड़ देना चाहिये, अडा मनुष्य तथा पशुओं के कच्चे गर्भ के समान सजीव पदार्थ है अत: ऐसे घृणित पदार्थ को छूना भी नहीं चाहिये।

नाम मात्र का धर्मात्मा भाई भी धर्मरक्षा के लिये बहुत उपयोगी होता है, समय पर उससे बड़ा कार्य सिद्ध हो जाता है, अत: नाम मात्र के धर्म पक्ष रखने वाले व्यक्ति की भी उपेक्षा न करनी चाहिये।

लगभग ५०-६० वर्ष पहले जब हाथरस में जैन रथयात्रा निकलने का शुभ अवसर आया तब वहाँ के साम्प्रदायिक सकुचित मनोवृत्ति वाले कुछ प्रभावशाली जैनेतर लोगों ने विरोध करके रथयात्रा में बाधा डालनी चाही, परन्तु कोर्ट से जैनों को रथयात्रा की अनुमति मिल गई, अत: पुलिस के सुप्रबन्ध में रथयात्रा अच्छी धूमधाम से निकली। इसको उन ईर्ष्यालु लोगो ने अपनी हार समझा और इसका बदला लेने के लिए उन्होंने गुप्तरीति से प्रचार करके हाथरस के समस्त जैनों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया। तदनुसार नाई जैनों की हजामत न बनाते थे, धोबियों ने जैनों के कपड़े धोने बन्द कर दिये, मेहतरों ने टट्टी की सफाई रोक दी। इस तरह रथयात्रा का बदला लेने की कुचेष्टा की।

तब वहाँ के दो लोहियों लोहा बेचने वाले) ने (जोकि वर्ष में केवल एक अनन्त चतुर्दशी के दिन ही मन्दिर में जाते थे, इसके सिवाय उनका धार्मिक आचरण कुछ न था, किन्तु उनको यह अभिमान था कि हम जैन है) जैनों के सामाजिक बहिष्कार का बदला लेने के लिये अपनी दोनो दुकानें बन्द कर दीं। हाथरस में लोहे की दुकानें उस समय वे ही दो थीं। इस कारण लुहारों, बढ़इयों, मकान बनाने वालों, कारखानों वालों आदि लोगों को उन दुकानों के बन्द हो जाने से बड़ा कष्ट हुआ, उनको कील, पत्ती पेच आदि लोहे का सामान न मिलने से उनका काम ठप्प हो गया। इस अनिवार्य अड़चन से विवश होकर वह जैनों का सामाजिक बहिष्कार दो दिन भी न चल सका।

प्रवचन नं० ३५

स्थान :— तिथि:—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली श्रावण कृष्णा ४ शनिवार, ६ जुलाई १६५५

मङ्गल

यह तो ठीक है कि ससारी जीवों की अमूल्य, अटूट, अक्षय, और असीम आत्मनिधि कर्म के आवरण में छिपी हुई है, किन्तु है तो उसके अपने घर में ही, कहीं बाहर तो गई नहीं है, उसे स्वयं उस अपने अटूट भण्डार का पता न हो तो न सही, किन्तु वह भण्डार है तो उसी के पास, उसके सिवाय कोई व्यक्ति तो उसको न ले सकेगा। कस्तूरा हिरण अपनी ही नाभि की कस्तूरी की सुगन्धि से मस्त हो जाता है किन्तु उस अभागे को इस बात का रहस्य ज्ञात नहीं होता, इसी कारण उस सुगन्धि को वह अन्य वृक्षों, झाड़ियों, घास, पौदों में सूंघता फिरता है और भटकते भटकते खेदखिन्न हो जाता है। परिणाम यह होता है कि वह कभी शिकारी के हाथ में पड जाता है। और उस कस्तूरी का उपभोग उस हिरण के बजाय वह शिकारी उसके पेट को चीरकर, कस्तूरी निकाल कर करता है।

एक तेल बेचने वाले तेली को कहीं से एक सेर भर पारस पत्थर मिल गया। तेली का सौभाग्य था जो ऐसी मूल्यवान निधि उसके हाथ आ गई। वह यदि चाहता तो मनों लोहे को उस पारस पत्थर से छुआ छुआकर (स्पर्श कराकर) सोना बना लेता किन्तु उस अभागे के भाग्य में यह बात थी ही नहीं, उसे पता ही न था कि 'मेरे पास ऐसा अमूल्य पत्थर है,मुझे अब घर घर फिर कर यों तेल बेचने की क्या आवश्यकता है, मैं तो घर में बैठकर ही जरा से परिश्रम से अपने घर सोने का ढेर लगा सकता हूं।' उस अभागे तेली ने उस अमूल्य पारस पत्थर को केवल पत्थर ही समझा और इसी कारण उस पारस को अपना तेल तोलने के लिये एक सेर का बाट ही बना लिया। उसके इस दुर्भाग्य पर कवि ने छन्द बना दिया—

'पढ़ी पारसी बेचें तेल, यह देखो कर्मों के खेल।'

ठीक ऐसी ही दशा ससारी जीव की है वह जिस सुखदायक पदार्थ की खोज में इधर उधर भटकता है और इतना भटक चुका है लोकाकाश का कोई भी प्रदेश इससे अछूता नहीं, कहीं यह नारकी बनकर पहुँचा, तो कहीं पर देव बनकर, कहीं मनुष्य के रूप में पहुँचा तो कहीं पशु पर्याय के रूप में। मुक्त जीवों का सिद्ध-क्षेत्र भी निगोदी जीव के रूप में इसने जाकर छू लिया वहाँ पर बहुत समय तक रहा भी।

सभी ग्राह्य पुद्गल वर्गणाओं के कारण यह एक बार नहीं किन्तु अनेक बार ग्रहण कर चुका, कोई भी परमाणु इससे अछूता न रहा, परन्तु उस अनन्त अतीत काल में इसका सुख का प्यास कण मात्र भी एक क्षण के लिये भी न बुझी, यह तो अब तक सुख का भूखा ही रहा। तथा भविष्य में भी यह जब तक अपने रहस्यमय भण्डार से अपरिचित बना रहेगा तब तक इसकी यह भूख मिटेगी भी नहीं।

अपनी सुख की इच्छा तृप्त करने के लिये मनुष्य विचित्र विविध मान्यताओं को अपने लिये सिद्धान्त बना लिया करते हैं। कभी किसी मनुष्य ने किसी कार्य के लिये जाते हुए दही से भरा हुआ पात्र देख लिया और सौभाग्य से उसको अपने कार्य में सफलता मिल गई तो वह समझ लेता है कि दही

का दर्शन मंगलमय है, दही को खाकर या देखकर किसी कार्य सिद्धि के लिये जाना चाहिये । किसी व्यक्ति को प्रातः सबसे प्रथम गाय दीख गई और उसका वह दिन सुख शान्ति समृद्धि से व्यतीत हुआ तो उसने तथा जनता ने सिद्धान्त बना लिया कि प्रातः गाय का दर्शन मंगलरूप है। -

इसी प्रकार विभिन्न लोगों ने जल पूरित कलश को मगल कुम्भ तथा पीली सरसो, हल्दी, दूर्वा, कुमारी कन्या आदि का प्रथम दर्शन आदि मंगलरूप मान लिया है। कामी पुरुषों ने व्यभिचार-परायण वेश्या को मंगलामुखी मान लिया है, किन्तु ये सब सांसारिक मान्यतायें गलत हैं। सासारिक सुख की प्राप्ति उक्त पदार्थों को प्रात. सब से पहले देख लेने मात्र से हो जाती तो प्रत्येक व्यक्ति दही, हल्दी, पीली सरसों, जल से भरा हुआ कलश आदि पदार्थ अपने अपने घर पर रख कर प्रतिदिन मंगल मय दिवस बना लेते, तब किसी को किसी दिन कोई दुःख होता ही नहीं।

सुख साता वेदनीय कर्म के उदय से संसारी जीवों को मिलता है और दुःख असाता वेदनीय कर्म के उदय से मिलता है। सातावेदनीय का संचय शुभ कार्य करने से होता है । अन भ्रान्त भावना त्याग करके दुःख के कारण भूत कर्मों को दूर करने के लिये तथा शुभ कर्मों के उपार्जन करने के लिये मंगलकारी पदार्थों तथा कार्यों का आश्रय लेना चाहिये।

तदनुसार मंगल (सुख शांतिदायक) पदार्थ जगत् मे चार हैं—

अरहत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मगलं ।

यानी—जगत् में अर्हन्तदेव, सिद्ध भगवान्, साधु तथा सर्वज्ञ प्रतिपादित धर्म ये चार पदाथ मंगलरूप हैं। स्वयं मंगलरूप हैं तथा अपने आराधक उपासक का मगल करने वाले हैं।

अर्हन्त मगल

आत्मध्यान निमग्न योगी जब शुद्धोपयोग शुक्ल ध्यान द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय इन चार घाति कर्मों का समूल क्षय करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, और अनन्त बल प्राप्त कर लेते हैं तब वे पूर्ण वीतराग सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा अर्हन्त परमात्मा हो जाते है, शरीर में रहते हुए भी जीवन्मुक्त होते हैं। अजर, अमर, निरजन, निर्विकार हो जाते हैं। समस्त इच्छायें उनकी समूल विलीन हो जाती हैं।

यदि वचन योग से उनकी दिव्यध्वनि होती है तो उसके द्वारा प्रत्येक जीव का कल्याणकारी, सुपथ-प्रदर्शक, तत्व, पदार्थ, नय, कर्मबन्धन, कर्ममोचन व्यवस्था, संसार भ्रमण, संसार मुक्ति आदि सिद्धान्तों का विवेचन जनता को सुनने के लिये मिलता है। उसको सुनकर असंख्य प्राणी सन्मार्ग पर चलते हुए आत्म कल्याण करते हैं, बहुत से मनुष्य उन के पद-चिन्हों पर चलकर उन अर्हन्त भगवान् के समान हो घातिकर्म क्षय करके अर्हन्त बन जाते हैं। बहुत से व्यक्ति उनका दर्शन करके अपने आत्मा की अनुभूति करने लगते हैं। उनके समीपवर्ती विकराल हिंसक जीव सिंह, बाघ, भेड़िया, सर्प, बिल्ली आदि जानवर अर्हन्त भगवान् के प्रभाव से अपनी हिंसक भावना छोड़ कर गाय, हिरण, खरगोश, चूहे, कबूतर आदि जीव जन्तुओं के साथ प्रेम से खेलते हैं।

उन अर्हन्त भगवान् का दर्शन करते ही मनुष्य के हृदय मे शान्ति का स्रोत बहने लगता है। उन का पुनीत नाम लेने से ही रसना (जीभ) पवित्र हो जाती है। अत' सब से प्रधान मगलरूप भगवान् अर्हन्त परमात्मा हैं। प्रात' सब से प्रथम अर्हन्त भगवान् की मूर्ति का दर्शन करना मगलमय है।

अर्हन्त भगवान् का दर्शन, स्तवन, चितन्वन करने से शुद्ध आत्मा का स्मरण होता है। रागद्वेष, क्रोध, भय, शोक आदि त्याग कर क्षमा शान्ति समता आदि गुणों की ओर चित्त आकर्षित होता है, आत्मा का अनुभव करने की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है, अत: शुभ कर्म का आस्रव होता हैं, अशुभ कर्मों की निर्जरा तथा सवर होता है, जिससे कि आत्मा को सुख प्राप्त होता है चित्त शान्त सन्तुष्ट निराकुल होता है।

सिद्ध मंगलं

अर्हन्त भगवान् जब शेप वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघाती कर्मों का क्षय करके पूर्ण मुक्त हो जाते हैं, उस समय पूर्ण आत्मसिद्धि पा लेने के कारण सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। द्रव्य कर्म, भावकर्म, तथा नोकर्म, (शरीर) से मुक्ति पा लेने के कारण उनका परम विशुद्ध अपने स्वाभाविक अमूर्तिक अन्तिम मनुष्याकार में स्थिर हो जाता है, अनन्त समय तक उसी आकार में रहा आता है। कर्मबन्ध से मुक्त हो जाने के कारण तदनन्तर वे स्वय मनुष्य लोक से गमन करके लोकाकाश के सब से उच्च भाग तनुवात विलय में विराजमान हो जाते हैं, उससे ऊपर अलोकाकाश है अत' वहाँ पर धर्मास्तिकाय न होने से नहीं जाते।

अष्ट कर्म नष्ट होने से उनमें कर्मों के अभावरूप, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्त-वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु ये आठ गुण प्रगट होते हैं। इनके साथ ही और भी अनन्तगुण पूर्ण विकसित हो जाते हैं। ऐसे परम शुद्ध सिद्ध परमात्मा का साक्षात् दर्शन तो किसी को होता नहीं, अत: उनका ध्यान, स्मरण, चिन्तन तथा स्तवन ही किया जाता है। साक्षात् दर्शन न होने के कारण तथा उनसे उपदेश आदि न मिलने के कारण ही उनका नाम अर्हन्त के पीछे लिया जाता है।

तीर्थंकर संसार में किसी को नमस्कार नहीं करते हैं, केवल सिद्ध परमेष्ठी को ही नमस्कार करते हैं। कार्य प्रारम्भ करने से पहले जन साधारण भी 'नम:सिद्धेभ्य:' कहकर सिद्ध परमात्मा का स्मरण करते हैं। ऐसे परम पुनीत सिद्ध भगवान भी उत्तम मंगल रूप हैं। उनका मन में स्मरण करते ही चित्र पवित्रता की ओर आकर्षित होता है, उनके गुण गायन करने से मुख पवित्र हो जाता है, हृदय में शुद्ध आत्मा की लहर लहराने लगती है जिससे अशुभ कर्म क्षय होकर शुभ कर्म का आस्रव होता है, विघ्न बाधायें नष्ट हो जाती हैं। प्रारब्धकार्य में सफलता मिलती है। अत प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में 'ॐ नम: सिद्धेभ्य:' उच्चारण किया करो। शय्या से उठते ही सिद्धों का स्मरण करो।

विराग सनातन शान्त निरंश, निरामय निर्भय निर्मल हंस।
सुधाम विबोध निधान विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह ॥
इत्यादि स्तोत्र पढे।

साहू मंगल

अर्हन्त भगवान के मुक्त हो जाने पर उनके पद चिन्हों पर चलकर स्व-पर कल्याण करने वाले साधु परमेष्ठी होते हैं। कुटुम्ब परिवार, धन सम्पत्ति, मित्र परिवार तथा सांसारिक विषय वासनाओं, भोग्य उपभोग्य पदार्थों मे ममता मोह त्याग कर, शरीर से भी ममत्व दूर करके, तत्काल उत्पन्न (यथाजात) बच्चे का सा निर्विकार नग्न रूप धारण करके, समस्त आरम्भ कर्मों का त्याग कर जो ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय दमन, ६ आवश्यक तथा अचेल, अस्नान, भूमि शयन आदि २८ मूलगुणों तथा उत्तर गुणों का आचरण करते हैं, आत्मध्यान, स्वाध्याय आदि तपस्या से निरन्तर आत्म शुद्धि करते हैं, वे साधु परमेष्ठी है। संसार में न कोई उनका मित्र होता है, न कोई शत्रु। संसार के किसी पदार्थ की इच्छा उनको नहीं होती।

ऐसी पुनीत चर्या वाले साधु परमेष्ठी भी जगत में मगलरूप हैं क्योंकि वे आत्मशुद्धि में लगे हुए है, किसी के अहित का न कोई कार्य करते हैं, न वचन से कोई किसी का हानिकारक, कड़वा तथा असत्य वचन कहते है और न उनके मन मे किसी के लिए दुर्भावना उत्पन्न होती है। ऐसे पवित्र आत्मा का दर्शन करते ही मनके दुर्विचार दूर हो जाते हैं। उनका उपदेश सुनने से सन्मार्ग पर चलने की भावना जाग्रत होती है। अतः मगलाचार के लिये 'णमो लोए सव्वसाहूणं' मुख से उच्चारण करो।

वन्दों दिगम्बर गुरु चरण, जग तरण तारण जान।
जे भरम भारी रोग को हैं, राजवैद्य महान ॥

इत्यादि स्तुति पढ़कर मुख तथा मन पवित्र करना चाहिये।

केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं

केवलज्ञानी अर्हन्त भगवान् का बतलाया हुआ धर्म तो आत्मा को शुद्ध करके परमात्मा बना देता है, उससे बढ़कर संसार में और मंगल क्या हो सकता है? आत्मा का जो निर्मल स्वभाव है, वही आत्मा का धर्म है। उसी आत्म धर्म को कठोर तपस्या द्वारा केवली भगवान् प्राप्त करते हैं,अतः उनका बताया हुआ अनुभूत धर्म ही आत्मा का कल्याण कर सकता है।

वह धर्म-वार्ता जिन ग्रन्थों में अंकित है उन धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करने से आत्मज्ञान, पर पदार्थ ज्ञान, कर्मबन्ध, मोक्ष, संवर, निर्जरा आदि उपयोगी सिद्धान्त का परिज्ञान होता है। 'प्रत्येक जीव के साथ दयालुता का व्यवहार करो क्योंकि वे भी तुम्हारे समान ही जीव हैं। ऐसा प्राणीमात्र का हित-कारी उपदेश उन शास्त्रों मे ही मिलता है। मोह और अज्ञान के अन्धकार को दूर करने के लिये वे धर्मग्रन्थ प्रकाश देने वाले दीपक हैं। अतः जगत् में धर्म, धर्मग्रन्थ भी मंगलरूप हैं।

केवलिकन्ये वाङ्मय गंगे, जगदम्बे अघ नाश हमारे।
सत्यस्वरूपे मंगलरूपे, मन मन्दिर में तिष्ठो हमारे ॥

इत्यादि स्तोत्र पढ़ो ॥

प्रवचन नं० ३६

स्थान:— तिथि:—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ दिल्ली। श्रावण कृष्णा ६ सोमवार, १३ जुलाई १६५५

गुरु भक्ति

'तिल की ओट में पहाड़ छिप जाता है' यह केवल किंवदन्ती (कहावत) ही नहीं है अपितु यथार्थ सत्य है। नेत्र की काली पुतली के बीच में छोटी सी दूसरी काली पुतली (कृष्ण मण्डल) है, उस पर तिल या तिल जैसा अन्य कोई छोटा पदार्थ रख दिया जावे तो फिर नेत्र पहाड़ क्या पहाड़ से भी बड़े पदार्थ को भी नहीं देख सकता। इस का अभिप्राय यही है कि छोटे से रहस्य में बड़ी २ बातें छिपी रहती हैं, अतः उन रहस्यों को जब तक न बतलाया जाय तब तक वे महत्व पूर्ण बातें ज्ञात नहीं हो सकतीं।

एक मनुष्य को रसोई बनाने की सभी प्रक्रिया मालूम थी। दाल, शाक, चावल जिस तरह स्वादिष्ट सुपक्व बनने चाहिये वैसे बना लेता था। आटा गूंधने में भी निपुण था, रोटी को सुन्दर गोल बनाने में भी निपुण था। यानी—रसोई बनाने की प्रायः सब विधि उसे मालूम थी। जब उसको रसोई बनाने की आवश्यकता हुई तो उसने समस्त सामग्री एकत्र करके रसोई बनाना प्रारम्भ किया, दाल शाक भात सब ठीक तैयार कर लिया। आटा ठीक गूंध कर रोटी भी अच्छी गोल बना ली, परन्तु रोटी सेकने के लिये ज्योंही तवे पर डाली कि वह रोटी तवे पर चिपक गई और कठिनाई से पलटी जा सकी, पलटते पलटते आधी जल गई। दूसरी, तीसरी, चौथी रोटी की भी यही दशा रही। वह मनुष्य आश्चर्य में था कि ऐसा क्यों हुआ। किन्तु इस का रहस्य न जान सका। अपने हाथ की रोटी थी अतः उसे जैसे तैसे खा कर सन्तोष करना पड़ा। ऐसी ही बात प्रतिदिन होती रही, सब कुछ ठीक बन कर रोटी सिकने में बिगडती रही।

एक दिन जब वह रसोई बना रहा था, तब उससे एक मनुष्य मिलने आया, वह आगन्तुक मनुष्य से बात भी करता जाता था और रसोई बनाने में भी लगा रहा। ज्यों ही उसने रोटी बेल कर तवे पर सेकने के लिये डालनी चाही कि आगन्तुक व्यक्ति ने उससे कहा कि तवा तो अच्छा गर्म हो जाने दो, अभी तवा कच्चा है, इस पर तो रोटी चिपक जावेगी।

यह बात सुन कर उस रसोई बनाने वाले व्यक्ति का मुख प्रसन्नता से खिल उठा, आगन्तुक मनुष्य ने प्रसन्नता का कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया कि केवल इतनी छोटी सी बात मालूम न होने से प्रति दिन मेरी रोटियाँ खराब हो जाती थीं, अब ऐसा न होगा। तदनुसार तवा खूब गर्म हो जाने पर रोटी उसने तवे पर डाली और तब रोटी ठीक सिक गई, न तवे पर चिपकी और न जली।

इसी तरह के रहस्यों को अपने अनुभव के आधार से बताने वाला व्यक्ति गुरु होता है। बिना गुरु के सिखाये कोई भी मनुष्य किसी कला में दक्ष नहीं हो सकता। योग्यता और शक्ति तथा बुद्धि प्रत्येक प्राणी में है किन्तु उसका विकास और लाभदायक उपयोग की विधि गुरु के द्वारा ही प्रगट होती है।

अंग्रेजी राज्य से पहले लखनऊ में एक अच्छे धनिक मनुष्य को मूत्र (पेशाब) आना बन्द हो गया। उसे बहुत व्याकुलता हुई। पैसे के बल पर लखनऊ नगर के अच्छे से अच्छे वैद्य हकीम बुलवाये गये उनकी चिकित्सा की गई, अनेक मूल्यवान औषधियां दी गई परन्तु उसे किसी तरह भी लाभ न हुआ। पेशाब रुका रहा और व्याकुलता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। उसके परिवार के व्यक्ति भी बड़े दुःखी हुए।

अन्त में लखनऊ के समीपवर्ती गांव का एक अनुभवी वैद्य भी बुलाया गया। वैद्य ने उस सेठ को देखकर कहा कि एक हजार रुपये लूंगा और तुरन्त आराम कर दूंगा। सेठ के घर वालों ने हजार रुपये देना स्वीकार किया। तब वैद्य ने तरबूज के छिलके मंगवाये और उनको कूटकर उनका रस निकलवा कर सेठ को पिलाया। उस रस को पीते ही सेठ का रुका हुआ पेशाब आ गया और वह स्वस्थ हो गया। सेठ के घर वालों ने वैद्य को ५००) रुपये ही दिये और यह कहकर उसे विदा कर दिया कि आपने कोई मूल्यवान दवा तो दी नहीं है ५००) रुपये ही काफी हैं। वैद्य असन्तुष्ट होकर आधी रकम लेकर ही चला गया। सेठ ने तरबूज के छिलके एकत्र करके और भी रखवा लिये ताकि आवश्यकता के समय काम आ सकें।

संयोग से शीत ऋतु (जाड़ों) में उस सेठ का पेशाब फिर बन्द हो गया, तब उसके घर वालों ने तरबूज के छिलकों का रस निकाल कर उसे पिलाया किन्तु उससे भी सेठ को जब आराम न हुआ तब फिर उसी गांव के वैद्य को बुलाया गया किन्तु वैद्य न आया। वैद्य ने पहले के शेष ५००) रुपये और अब की बार के हजार रुपये जाने से पहले पेशगी मांगे, सेठ के सम्बन्धियों को वैद्य की मांग पूरी करनी पड़ी, तब वैद्य सेठ की चिकित्सा करने गया।

वैद्य ने फिर तरबूज के छिलके मंगवाये, सेठ के घर वालों ने कहा कि तरबूज का रस पिलाने पर भी इनको पेशाब नहीं आया। वैद्य ने कहा कि घबडाओ मत, अब पेशाब आ जायगा, तब फिर तरबूज के छिलकों का रस निकाला गया, तदनन्तर वैद्य ने वह रस थोडा गर्म कराकर सेठ को पिलाया, सेठ जी को पेशाब खुलकर आ गया। सेठ के घर वाले चकित रह गये कि जरा सा भेद मालूम न होने से हमको १५००) रुपये वैद्य को देने पडे।

सारांश यह है कि थोड़े से रहस्य में बड़ी महत्वशाली बात छिपी रहती है, गुरु उसी रहस्य का भेद बता देता है।

ज्ञान प्रत्येक मनुष्य में है परन्तु उसपर पर्दा पड़ा रहता है जिससे कि उसका उपयोग मनुष्य नहीं कर सकता, गुरु अध्यापक अपनी प्रक्रिया से विद्यार्थी को पढ़ा कर उस ज्ञान के पर्दे को हटाता जाता है, उस विद्यार्थी का ज्ञान विकसित होता जाता है अध्यापक अपना ज्ञान विद्यार्थी को नहीं देता है, यदि ऐसा होता हो तो १०-२० विद्यार्थी पढ़ाने के बाद अध्यापक अज्ञानी हो जाना चाहिये, परन्तु पढ़ाने से अध्यापक का ज्ञान उलटा बढ़ता जाता है, घटता नहीं है। इस तरह विद्यार्थी गुरु अध्यापक की सहायता से अपने ज्ञान का विकास करके विद्वान् बन जाता है।

वैसे तो प्रत्येक कला सिखलाने वाला व्यक्ति गुरु कहलाता है, किन्तु समस्त गुरुओं में दो प्रकार

के गुरु विशेष आदरणीय होते हैं—१. विद्या गुरु, २ धर्म गुरु । जो व्यक्ति अक्षर विद्या, अक विद्या तथा वैद्यक, ज्योतिष आदि लौकिक शास्त्र ज्ञान कराता है यह विद्यागुरु कहलाता है । विद्यागुरु के प्रयत्न से मनुष्य के ज्ञान नेत्र खुल जाते हैं ।

मनुष्य को जो आत्मा से परमात्मा बनाने वाली प्रक्रिया सिखलाता है वह धर्मगुरु कहलाता है । संसार सागर को पार करने का ज्ञान धर्मगुरु से प्राप्त होता है, अतः धर्मगुरु ससार में सब से अधिक पूज्य और वन्दनीय होता है । जिस तरह पानी में स्वय तैरने वाला निपुण व्यक्ति ही दूसरे व्यक्ति को तैरना सिखला सकता है, उसी तरह ससार से पार होने का जिसे स्वयं अनुभव है वही धर्मगुरु हो सकता है । उस गुरु की पहचान निम्न लिखित लक्षणों से होती है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ।।

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

यानी—जिसको सासारिक विषयों की आशा न रही हो, जो किसी प्रकार का आरम्भ (खेती व्यापार, रसोई आदि) न करता हो, जिसके पास रचमात्र भी परिग्रह (रुपया पैसा वस्त्र आदि) न हो, जो स्वाध्याय, आत्म ध्यान तथा तपस्या में लीन रहता हो, ऐसा तपस्वी सद्‌गुरु या धर्मगुरु कहलाता है ।

रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्रस्नेही परार्थकृत् ।

परिपालितधर्मोहि भवाब्धेस्तारको गुरुः ।। ३० ।।

क्षत्रचूडामणि द्वि० लम्ब

यानी—जो रत्नत्रय (सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र) का धारक हो, धार्मिक व्यक्ति से प्रेम करता हो, परोपकारी हो, स्वयं धर्म का आचरण करता हो, ऐसा व्यक्ति ही भवसागर से पार करने वाला गुरु होता है ।

अन्य गुरुओं की सेवा से तो कोई थोड़ा सा भौतिक लाभ होता है परन्तु धर्म गुरुओं की सेवा से आत्मा की अक्षय अनुपम निधि प्राप्त होती है, अतः सद्‌गुरु की सेवा भक्ति विनय द्वारा आत्मनिधि प्राप्त करना चाहिये । जिस तरह लौकिक विद्या प्राप्त करने का सब से अच्छा सुगम साधन गुरु की सेवा करना है उसी तरह आत्मशुद्धि के लिये भी सद्‌गुरु की सेवा करना आवश्यक है । श्री वादीभसिंह ने शिष्य का लक्षण बतलाया है—

गुरुभक्तो भवाद्भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः ।

शान्तस्वान्तोह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ।। ३१ ।।

क्ष० चू० द्वि० लम्ब

यानी—जो अपने गुरु की भक्ति करता हो, संसार से भयभीत हो (संसार से मुक्त होना चाहता हो), विनयमान हो, धर्मात्मा तथा बुद्धिमान हो, शान्त चित्त हो, आलसी न हो, एव सभ्य हो यानी—

उद्दण्ड न हो, ऐसा व्यक्ति शिष्य (धर्म विद्या सीखने का पात्र) होता है। गुरु से आत्म शुद्धि का ज्ञान पाने के लिये शिष्य में ये गुण होने चाहिये।

सांसारिक गुरुओं को प्रसन्न करने के लिये धन सम्पत्ति तथा कोई अन्य पदार्थ भेंट किया जाता है परन्तु धर्मगुरु की भेंट के लिये ऐसे किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह ऐसे सब पदार्थों का त्याग कर चुका है, उसको सन्तुष्ट करने के लिये विनय और सेवा ही पर्याप्त है। जब गुरु आवें तब अपना काम छोड़ कर खड़ा होना, गुरु को उच्च आसन पर बिठाना, स्वयं नीचे आसन पर बैठना, गुरु के चरण-स्पर्श करना हाथ जोड़कर उनको नमस्कार करना, आगे जा कर उनका स्वागत करना, उनके पीछे पीछे चलना, विनीत शब्दों में उनके साथ वार्तालाप करना, उनका शारीरिक खेद दूर करने के लिये उनका शरीरमर्दन करना, चरण दबाना आदि कार्य गुरु सेवा है। गुरु की सेवा करने से जहाँ अनेक गुण प्राप्त होते हैं वहाँ महान् पुण्य कर्म का उपार्जन भी होता है।

सद्गुरु अपकार करने वाले व्यक्ति के लिये भी न दुर्भावना करता है, न कुछ अपकार करता है, वह तो अपने अपकारी को भी शुभ आशीर्वाद देता है।

बौद्धधर्मानुयायी श्रेणिक ने ईर्ष्या और द्वेष वश श्री यशोधर मुनिराज को पहले तो अपने शिकारी कुत्तों द्वारा मरवाना चाहा जब उसमें उसे सफलता न मिली क्योंकि उस के भयानक कुत्ते भी मुनिवर की अहिंसा मूर्ति से प्रभावित होकर शान्त हो गये, तब श्रेणिक स्वयं तलवार म्यान से बाहर खींचकर उनको मारने चला परन्तु मार्ग में सांप आ जाने पर उसने अपने क्रोध का वार उसी के ऊपर कर दिया और वह मरा हुआ साप उठकर यशोधर मुनि के गले में डाल कर चला आया। मुनि आत्मध्यान में लीन रहे।

यह बात जब चेलना ने सुनी तो उसे दुःख हुआ वह श्रेणिक को साथ लेकर मुनिराज यशोधर के पास पहुँची और उसने वह सांप मुनि के गले मे निकाल कर अलग किया तब मुनि ने अपना ध्यान समाप्त किया। उन्होंने अपने भक्त (रानी चेलना) तथा शत्रु (राजा श्रेणिक) को अपने सामने बैठा देखा। यशोधर मुनि के हृदय में समता थी, रागद्वेष रंचमात्र भी न था। अतः उन्होंने दोनों को मीठे शब्दों में शुभ आशीर्वाद दिया कि 'तुम्हारे आत्मा में धर्म की वृद्धि हो।'

राजा श्रेणिक मुनि महाराज का शुभ आशीर्वाद सुन कर बहुत लज्जित हुआ और प्रायश्चित्त के लिये आत्महत्या करने का विचार करने लगा, तब मनःपर्ययज्ञानी यशोधर मुनि बोले—राजन्! आत्म-हत्या महान् पाप है, हृदय में ऐसा विचार न करो। प्रायश्चित्त करना चाहते हो तो सत्यमार्ग पर आ जाओ, कुमार्ग पर चलना छोड़ दो।

मुनिराज के स्वल्प उपदेश से प्रभावित हो कर राजा श्रेणिक जैनधर्म का तथा सद्गुरु का भक्त बन गया, भगवान् महावीर का प्रमुख उपासक हो गया।

गुरु ही भगवान् की भक्ति का भेद बतलाता है। भगवान् तो हमारे सामने नहीं हैं अतः हमको उनसे उतना साक्षात् लाभ मिलना कठिन है किन्तु भगवान् के पद चिन्हों पर चलने वाले निर्ग्रन्थ गुरु हमारे सामने हैं, उनका हित उपदेश विनय तथा ध्यान से सुनकर आत्महित करना चाहिये।

—o—o—

प्रवचन नं० ३७

स्थान:— तिथि:—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ दिल्ली श्रावण कृष्णा ७ मगलवार, १२ जुलाई १६५५

अहिंसा व्रत

जगत् में जितने पदार्थ हैं, सब में अपनी अपनी निजी सत्ता है, अत: समस्त वस्तुए अनादि काल मे हैं और अनन्तकाल तक रहेंगी न किमी विशेष (खास) समय में उनकी उत्पत्ति हुई और न किसी विशेष समय में उनका समूल नाश होगा, न उन्हें किसी ने कभी बनाया और न कभी कोई उन्हे समूल नष्ट कर सकता है, सदा से सभी पदार्थ थे और सदा रहेंगे। जितने पदार्थ इस समय हैं उतने ही भूतकाल में थे और भविष्य में भी उतने ही रहेंगे, न तो उनमें से कोई एक भी कम होगा और न कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न होगा।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

यानी—सत् पदार्थ का कभी अभाव नहीं होता और असत् पदार्थ का कभी उत्पाद नहीं होता। हां यह बात अवश्य है कि उनकी दशा प्रतिक्षण परिवर्तन होती रहती है। बीज की जगह पर वृक्ष हो जाता है, वृक्ष सूख कर लकड़ी हो जाती है लकड़ी जल कर कोयला हो जावे, कोयला जल कर राख हो जावे, राख धूल मिट्टी बन कर धूल मिट्टी हो जावे। यह सब कुछ होता है, किन्तु पुद्गल परमाणुओं (मैटीरियल ऐट) में कुछ कमी बेशी नहीं होती।

इन्हीं पदार्थो में जीव भी है। जीव भी अविनाशी अखंड पदार्थ है, वह भी न कभी उत्पन्न हुआ, न कभी नष्ट होना है। अनन्तानन्त जीवों में से सभी जीवों के अपने अंश कभी भी टूटते फूटते बिखरते नहीं हैं, सदा अखड बने रहते हैं। अत: जीव भी अक्षय पदार्थ है। इस के विषय में कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

यानी—इस जीव को न शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि इसको जला सकती है, न जल इस जीव को गला सकता है और न वायु इसको जरा भी सुखा सकती है। अर्थात् कोई भी भौतिक पदार्थ जीव को हानि नहीं पहुँचा सकता।

हां, ससार दशा में इस जीव को रहने के लिये पौद्गलिक (भौतिक) घर की आवश्यकता हुआ करती है, सो नर, पशु, देव आदि के विभिन्न शरीर अपनी अपनी कर्म की कमाई के अनुसार कुछ कुछ समय के लिये मिला करते है, अवधि (मियाद-आयु) समाप्त हो जाने पर उस भौतिक घर, जिसे कि शरीर कहते हैं को छोडना पडता है और नये शरीर में निवास करना पडता है। नये शरीर में जाने का नाम जन्म और पुराने शरीर को छोडने का नाम मरण या मृत्यु है। बुद्धिमान व्यक्ति स्वय विचार सकता है कि जन्म और मृत्यु शरीर की होती है, जीव की नहीं होती।

तब फिर हिंसा पाप क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर तो सरल है किन्तु उसे समझने के लिये इतना जान लेना आवश्यक है कि जीव जिस शरीर में भी जाता है मोहवश उसको अपनी समझ बैठता है और किसी के बल प्रयोग से उसे छोड़ना नहीं चाहता। जैसे कि कोई किरायेदार किराये पर लिए हुए मकान को किसी के बल प्रयोग से छोड़ना नहीं चाहता। यदि बलपूर्वक (जबरदस्ती) उससे वह मकान खाली कराया जाता है तो उसे महान् दुःख होता है। ठीक, इसी तरह यदि कोई व्यक्ति किसी जीव को उसका शरीर छोड़ने पर बाध्य (लाचार) करता है तो उसे भी महान् दुःख होता है (नारकी के सिवाय) क्योंकि उस शरीर में रहने को वह अपना जीवन समझता है और उस शरीर के छोड़ने को अपनी मृत्यु।

बस, इसी धारणा या मान्यता पर किसी जीव के शरीर को क्षत विक्षत (घायल चोटिल) करना अथवा उस शरीर से उस जीव को निकाल देना (जान से मार देना) हिंसा को महान् पाप कहा जाता है। इसी जीव को सताना, मारना, कष्ट देना, पीड़ा देना आदि को हिंसा कहते हैं।

किसी को अनिच्छित अनिष्ट कष्ट देना, सताना ही महान पाप है, इस कारण हिंसा सरीखा जघन्य पाप और कोई नहीं है। इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि किसी भी मनुष्य को पर्वत के बराबर सुवर्ण के बदले में अथवा समस्त संसार का राज्य देने के बदले मे यदि उससे उसका जीवन मांगा जावे तो वह इतनी बड़ी भौतिक सम्पत्ति के बदले में अपना जीवन देने के लिये तैयार नहीं होता।

अहिंसा परमो धर्मः

हिंसा जब इतना बड़ा महान् पाप है तब हिंसा का न करना यानी अहिंसा सबसे उत्तम धर्म है। क्योंकि जीव जिसे अपनी मन से अधिक प्रिय वस्तु समझते हैं उस जीवन की रक्षा करना जीव का सबसे बड़ा उपकार (भलाई) है। सबसे बड़ा उपकार ही सबसे बड़ा धर्म होता है।

अन्य किसी बात में मतभेद (अनेक मत) हो सकता है, परन्तु अहिंसा को परम धर्म मानने के विषय में दो मत कभी नहीं हो सकते। प्रत्येक मनुष्य से पूछ लीजिये, प्रत्येक पशु पक्षी की सम्मति ले लीजिये, कीड़े मकोड़ों, मक्खियों यहाँ तक कि कीटाणुओं से पूछ ताछ कर छान बीन, जाँच पड़ताल कर लीजिये, सब का यही उत्तर होगा कि 'हमको अपना जीवन (जिन्दगी) सुरक्षित चाहिये।' अपने वर्तमान जीवन को कोई नहीं छोड़ना चाहते। कीड़े मकोड़े, कीटाणुओं के जीवन का मूल्य मनुष्य की दृष्टि में कुछ न हो, परन्तु उन कीड़े मकोड़ों की दृष्टि से उनके जीवन का मूल्य आंकिये, उनकी दृष्टि से उनके जीवन का भी उतना ही मूल्य है जितना कि मनुष्य अपने जीवन का आंकता है अतः वह भी मरना नहीं चाहता। इस कारण सर्वसम्मत परमपाप और परम धर्म का नाम यों निश्चित होता है। 'हिंसा परम पाप है, अहिंसा परम धर्म है।'

यमपाल चाण्डाल

बात बहुत पुराने समय की है काशी में एक यमपाल नामक चाण्डाल था, राजा की आज्ञा से अपराधियों को फांसी देना उसका काम था, इसके लिये उसको कुछ राज्य से वेतन (तनखा) मिलता था, और फांसी चढने वाले के वस्त्र आभूषण भी उसे मिल जाते थे।

एक बार नगर के बाहर एक मुनिराज आये उनका उपदेश सुनकर राजा ने अपने राज्य मे अष्टाह्निका के दिनों में (कार्तिक, फागुन और आषाढ़ महीनों के अन्तिम ८ दिन) हिंसा बद कराने का नियम लिया, स्त्री पुरुषों ने भी विभिन्न तरह के व्रत नियम लिये। अन्त में यमपाल ने भी मुनिवर से चतुर्दशी के दिन फांसी न देने का व्रत ग्रहण किया।

राजपुत्र को कुसगति से मांस खाने की आदत पड गई थी। उसने आषाढ़ मास की अष्टाह्निका में भी बाग में छिपकर एक बकरे को मारकर मांस खा लिया। राजा को इस बात का पता चल गया। राजा ने अपने पुत्र को अपराधी पाकर प्राणदण्ड दिया। न्याय प्रिय राजा का न्याय देखकर प्रजा पर अच्छा प्रभाव पडा।

राजपुत्र को फांसी देने के लिये राजकर्मचारी यमपाल को बुलाने उसके घर गये। संयोग से वह दिन चतुर्दशी का था। यमपाल ने अपने घर की ओर सिपाहियों को आता देखकर अनुमान किया कि आज किसी को फांसी लगेगी। अत' वह अपने व्रत पालने के लिये घर में छिप गया और अपनी पत्नी से कह दिया कि 'यदि मुझे सिपाही बुलाने आवें तो कह देना कि यमपाल कहीं बाहर गया है।'

सिपाहियों ने आकर उसकी पत्नी से पूछा कि 'यमपाल कहाँ है ?' उसकी पत्नी ने उत्तर दिया 'कहीं बाहर गया है।' सिपाहियों ने कहा 'बडा अभागा है, आज राजपुत्र को फांसी होगी, उसके शरीर के वस्त्र आभूषणों से तेरी दरिद्रता दूर हो जाती।'

यमपाल की स्त्री पर लोभ सचार हुआ—तदनुसार उसने मुख से इन्कार करते हुए भी हाथ के संकेत से सिपाहियों को बतला दिया कि यमपाल घर में भीतर छिपा बैठा है। संकेत पाकर सिपाही घर में भीतर घुस गये और यमपाल को पकड़कर राजा के सामने उपस्थित किया। राजा ने यमपाल को आज्ञा दी कि मेरे पुत्र को फांसी पर चढादो, इसने राजाज्ञा भंग करके अष्टान्हिका में बकरे का बध किया है।

यमपाल नम्रता से बोला कि राजन ! जिस महात्मा से आपने अष्टाह्निका में अपने राज्य में जीव-बध न कराने का नियम लिया है, उन्हीं महात्मा से मैंने चतुर्दशी के दिन फासी न देने का व्रत लिया है, अत मैं आज फासी न दे सकूंगा, आज के लिये मुझे क्षमा कीजिये। किन्तु राजा ने हठ पकड ली कि तुझे राजपुत्र को फांसी आज ही देनी होगी।

यमपाल के अनुनय विनय का जब राजा के हृदय पर कुछ प्रभाव नहीं पडा, तो यमपाल ने भी अपने अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये दृढ़ता के साथ राजा को उत्तर दिया "मैं आज फासी नहीं दूंगा।"

राजा को बहुत क्रोध आया, राजा ने आज्ञा दी कि यमपाल के और मेरे पुत्र के हाथ पैर बांधकर तालाब में डाल दो। राजा की आज्ञा का पालन हुआ और दोनो तालाब में डाल दिये गये। किन्तु जनता तथा राजा ने देखा कि 'राजपूत तो डूबकर मर गया, परन्तु यमपाल दैवी सहायता से बच गया, देवों ने उसका अच्छा सत्कार किया।' तब लोगों ने यमपाल का जयघोष किया और राजा ने भी उसे क्षमा कर दिया।

समस्त त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग करके अहिंसा व्रत पालना सबसे श्रेष्ठ धर्म कार्य है, किन्तु यह तभी हो सकता है जब कि मनुष्य गृहस्थाश्रम का त्याग कर चुका हो। गृहस्थ मनुष्य को खेती, दुकानदारी, उद्योग कारखाने आदि चलाकर घर बार चलाने के लिये द्रव्य उपार्जन करना पड़ता है इन काम धन्धो को करते हुए उससे न चाहते हुए भी चींटी, कीड़े-मकोड़े आदि जीव जन्तुओं की हत्या हो ही जाती है। तथा रसोई बनाने में, बुहारी देने में, स्नान करने में, मसाले धान आदि कूटने में एवं चक्की चलाने आदि में भी सावधानी रखते हुए अनेक छोटे जीव मर जाया करते हैं। इसी तरह कभी कभी चोर, डाकू, उठाईगीरों से अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने के लिये, गुण्डों, लुच्चों, लफंगों से अपने सम्मान की रक्षा के लिये और किसी आततायी (आक्रमणकारी) से अपनी रक्षा करने के लिये गृहस्थ को लड़ाई भी करनी पड़ती है, राजाओं को राज्य की रक्षा के लिये महायुद्ध करने पड़ते हैं। ऐसी हिंसायें गृहस्थाश्रम में होती रहती हैं, अतः गृहस्थ स्त्री पुरुष ऐसी उद्योगी, आरम्भी, विरोधी हिंसाओं का त्याग नहीं कर सकते।

इसी कारण अहिंसा के उपासक वीर जैनराजा जहाँ पशु पक्षियों, दीन दुखी निर्बल, शरणागत स्त्री पुरुषों की रक्षा करते थे कीड़े मकोड़े पर भी दया करते थे, वहां उन्हें अपने शत्रुओं के साथ घनघोर युद्ध भी करने पड़ते थे जिसमें कि हजारों, लाखों, सैनिकों, घोड़े, हाथियों आदि की हत्या हो जाती थी।

इस तरह गृहस्थ ऊपर लिखी तीन तरह की हिंसाओं से नहीं बच सकता। हाँ वह निरपराध स्त्री पुरुष का तथा पशु पक्षी आदि जन्तुओं की जान बूझकर हत्या करना त्याग सकता है, इसलिये गृहस्थ केवल संकल्पी त्रसहिंसा का त्यागी होता है इसी कारण गृहस्थ की अहिंसा अणुव्रत के रूप में है, जब कि साधु की अहिंसा महाव्रत के रूप में होती है क्योंकि मुनियों को न तो कुछ उद्योग धन्धा करना पड़ता है, न कुछ आरम्भ करना पड़ता है और वे न किसी से लड़ते भिड़ते युद्ध करते हैं, जान बूझ कर तो वे किसी भी जीव की हिंसा करते ही नहीं है।

हृदय में क्रोधवश, लोभवश, अभिमानवश किसी भय के कारण अथवा लज्जा के कारण जब दूसरे किसी जीव को मारने का विचार होता है, वास्तव में हिंसा वह ही है। उसी को भावहिंसा कहते हैं। उन हिंसक विचारों के बाद जो दूसरे जीव को पत्थर, लाठी, तलवार आदि से मारा जाता है वह द्रव्यहिंसा है। भावहिंसा कारण है और द्रव्यहिंसा कार्य है। भावहिंसा न होने पर यदि कोई जीव मर जावे तो हिंसा का पाप नहीं लगता है, जैसे कि आपरेशन (चीरफाड़) करते समय डाक्टर से रोगी मर जाता है।

इस कारण अहिंसाव्रत का सच्चा लाभ उठाने के लिये हृदय में हिंसक विचारों की उत्पत्ति न होने देनी चाहिए। इसके लिये अपने मन पर बहुत कड़ा नियन्त्रण करने का अभ्यास करते रहना आवश्यक है।

प्रवचन नं० ३८

स्थानः— तिथिः—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ दिल्ली श्रावण कृष्णा ८ बुधवार, १३ जुलाई १६५५

धन का सदुपयोग

संसार में प्रत्येक प्राणी लोभ कषाय के कारण सचय शील (द्रव्य एकत्र करने वाला) बना हुआ है। छोटी सी चींटियों को देखा जाय तो प्रत्येक समय कुछ न कुछ खाने की चीज उठाकर अपने बिल की ओर जाती हुई मिलेगी। यदि वह चीज अधिक भारी होगी तो अनेक चींटिया मिलकर उसे आसानी से उठाकर चल देती हैं, यों अपने वजन से अनेक गुणे भारी मरे हुए कीड़े मकोड़ों तथा खाने के अन्य पदार्थों का वे अपने बिल में खींचकर रख लेती हैं, उनका बिल चाहे पृथ्वी पर हो या चाहे छत में हो वे प्रत्येक समय उसे भरती रहती हैं, इसी कारण जल वर्षा आदि क कारण यदि कुछ दिन अपने बिल में से बाहर निकलने का अवसर न मिले तो भी चींटी भूखी नहीं रह सकती, अपने उस संचित खाद्य पदार्थ से अपनी भूख दूर करती रहती है।

चूहे भी ऐसा ही किया करते हैं, जो कुछ भी उन्हे खाने के लिए मिलता है, खा लेने के पश्चात् शेष पदार्थ उठाकर अपने बिल में रख लेते हैं यदि उनका बिल खोलकर कोई देखे तो उसमे बहुत सा अन्न आदि खाने की चीजें मिलेंगी।

एक साधु एक गॉव के निकट एक झोंपड़ी में रहता था, वह आस-पास के गांवों से अपने खाने के लिये अन्न मांग कर ले आता था और झोंपडी में आकर भोजन किया करता था, उसी झोंपडी में एक बिल में एक चूहा भी रहता था। वह साधु के लाये हुए अनाज में से कुछ, जैसा उसे अवसर मिलता, लेकर अपने बिल में रख लिया करता था।

एक दिन उस साधु ने भीख में मांग कर लाये हुए अनाज का झोला खूटी पर टांग दिया, इतने में वहां पर एक दूसरा साधु आ गया, वह साधु उस आगन्तुक साधु के साथ बातें करने लगा कि मौका देख कर चूहा बिल में से बाहर निकल आया और साधु के खूंटी पर टगे झोले की ओर बढ़ा, झोला जरा ऊँचा टगा हुआ था, वहॉ तक चढ़ने का कोई साधन न था, अत चूहे ने झोले तक उछल कर पहुंचने की चेष्टा की। किन्तु झोला उसकी उछल कूद की सीमा से ऊँचा टंगा हुआ था अतः वहा तक पहुंचने में चूहे को कठिनाई हो रही थी, फिर भी वह अधिक बला कर झोले तक पहुँचने में लगा रहा।

बातें करते हुए आगन्तुक साधु की दृष्टि उस चूहे की ओर गई, वह झोंपड़ी वाले साधु से कहने लगा कि तुम्हारा चूहा बहुत बलवान है जो इतना ऊँचा उछल रहा है ? झोंपड़ी वाले साधु ने कहा कि यह शक्ति सचित अन्न की होगी। अपनी बात प्रमाणित करने के लिये उसने उसी समय उस चूहे का बिल खोद कर देखा तो उसमें दो ढाई सेर अन्न निकला, वह अन्न साधु ने बाहर निकाल लिया। दूसरे दिन उस साधु ने वह झोला जरा नीचा टाँग दिया, वह चूहा दूसरे दिन भी आया परन्तु उस दिन चूहा थका हुआ निर्बल दिखाई दिया जिससे उछल कर उस नीचे टगे हुए झोले तक भी न पहुच सका। तब उसने दूसरे साधु से कहा कि बिल का अन्न न रहने के कारण इसकी शक्ति इतनी क्षीण हो गई है।

इसी प्रकार अन्य पशु पक्षी कीड़े मकोड़े भी अपना खाद्य पदार्थ यथासंभव इकट्ठा किया करते हैं, बन्दर जितना खा सकता है खा लेता है शेष उपलब्ध भोजन अपने गले की थैली में भर लेता है, पेड़ों की जड़ें भी उसी ओर बढ़ती हैं जिधर उनका खाद्य, पानी होता है।

फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है, वह तो सब से अधिक संचयशील प्राणी है। पदार्थ-संचय में मनुष्य अपने जीवन का बहुभाग लगा देता है, इसी द्रव्य संचय से कोई व्यक्ति बहुत धनिक, [कोई थोड़ा धनिक, कोई केवल अपने पेट भरने योग्य और निर्धन भूखा दीख पड़ता है। चोरी, डकैती, जेबकटी, छीना झपटी सब पाप इसी संचयशीलता का परिणाम है।

किन्तु जो व्यक्ति धन ग्रहण करता है उसको धन निकालना भी अवश्य पड़ता है। जिस तरह पेट भोजन ग्रहण करता है तो उसे मल-मूत्र के रूप में वह ग्रहण किया हुआ भोजन निकालना भी पड़ता है, यदि उसके पेट से वह न निकले तो मनुष्य बीमार हो जाता है तब वैद्य औषधि प्रयोग से उस भुक्त अंश को पेट से बलपूर्वक निकालता है। पानी घर में इकट्ठा हो जाय तो मोरी नाली आदि से बाहर स्वयं निकलता है यदि मोरी या नाली न हो तो वह पानी घर को दीवाल को तोड़कर घर की नींव में घुस कर वहां से निकल भागने का यत्न करता है जिसका परिणाम होता है, उस घर का गिर पड़ना।

इसी प्रकार संचित द्रव्य भी मनुष्य को किसी रूप में निकालना (खर्च करना) पड़ता है, यदि वह धन को खर्च न करे तो धन किसी चोरी डकैती, अग्नि, राज्य आदि के द्वारा निकल जाता है। स्वयं धन का निकालना दो प्रकार से होता है—१. दान करके, २. अपने भोग उपभोग में खर्च करके। इसी बात को एक कवि ने बतलाया है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रोगतयो भवन्तिवित्तस्य ।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

यानी—धन की तीन दशाएं होती हैं—१. दान २. भोग और ३. नाश जो मनुष्य न तो पर उपकार में दान करता है, न अपने भोग उपभोग में उस धन का उपयोग करता है उसका धन किसी न किसी तरह नष्ट हो जाता है।

एक मनुष्य के पास बहुत धन था परन्तु वह बहुत लोभी और कृपण (कंजूस) था, एक पाई भी न तो दान करता था, न अपने अच्छे खान-पान, पहनने-ओढ़ने पर खर्च करता था। उस बहुमूल्य धन को वह अपने घर में भी चोरी डकैती के भय से न रखता था। उसने नगर से दूर एक जंगल में जमीन खोद कर उस धन को गाड़ रक्खा था। प्रतिदिन वह जंगल में जाकर अपने गड़े हुए धन को देख आता था और फूल कर कुप्पा हो जाता था कि मेरे पास इतना धन है, मैं लखपती हूँ।

एक दिन एक चोर उसके पीछे लग गया और जब उसने जंगल में जा कर अपना धन जमीन खोदकर देखा तो उस चोर ने देख लिया। वह मनुष्य उस धन को वहीं दबाकर अपने घर चला गया, उधर वह चोर वहां पर पहुँचा और जमीन खोदकर उस धन को निकाल कर वहां से अपने घर ले गया।

दूसरे दिन जब वह कजूस अपना गड़ा हुआ धन देखने जंगल में आया तो क्या देखता है कि जमीन खुदी हुई पड़ी है और वहाँ गड़े हुए धन की एक पाई भी नहीं बची है। यह देखकर उसे बहुत दु:ख हुआ और वह जोर जोर से चिल्लाकर रोने लगा कि 'हाय हाय मैं लुट गया।' उसका रोना सुनकर आस पास के बहुत से मनुष्य वहाँ पर एकत्र हो गये।

लोगों ने उससे पूछा कि भाई! क्या बात है? कंजूस बोला कि 'मेरा धन यहाँ पर गड़ा हुआ था उसे कोई निकाल कर ले गया, मैं लुट गया, मैं मर गया। लोगों ने उसको कहा कि भाई! धन तो तेरे काम पहले भी न आता था और अब भी न आवेगा, तब में और अब में कुछ अन्तर नहीं है, पहले यहाँ गड़ा था अब कहीं और जगह पहुंच गया, इसमें शोक करने की आवश्यकता क्या है?

कजूस के हृदय को बड़ा धक्का लगा और वहीं पछाड़ खाकर मर गया।

किसी कवि ने कहा है—

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव,
अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥

यानी—मनुष्य की वे ही पूर्ण इन्द्रियाँ होती हैं, वही नाम रहता है, चारों ओर दौड़ने वाली वही बुद्धि होती है, वचन भी वैसा ही रहता है, मनुष्य भी वह का वही होता है किन्तु धन की गर्मी निकल जाते ही क्षण भर में मनुष्य की दशा कुछ से कुछ हो जाया करती है।

मधु मक्खियाँ बहुत दूर दूर से लाकर अपने छत्ते में शहद इकट्ठा किया करती हैं, उस मीठे शहद का न तो स्वय उपभोग करती है और न किसी को देती हैं, इसका परिणाम यह होता है कि बहेलिया उनका छत्ता तोड़कर ले जाता है और जबरदस्ती उनके संचित शहद पर अधिकार कर लेता है।

यही दशा कृपण धनवान की हुआ करती है, वह न तो स्वय अपने उपभोग में उसे लेता है, न भोजन अच्छा करता है, न अच्छे वस्त्र पहनता है, अपने परिवार के पालन पोषण में भी उचित खर्च नहीं करता है, न अपनी सन्तान की शिक्षा पर अच्छा व्यय करता है। 'चमड़ी चली जावे परन्तु दमडी न जावे' का सिद्धान्त वह अपने लिये भी लागू रखता है। और किसी धार्मिक कार्य में, समाज सेवा की योजना में, दीन दुखियों की सहायता में, देश सेवा में, लोक कल्याण में तथा किसी यशरूप कार्य में भी कभी एक पाई नहीं देता। तीर्थयात्रा के लिये कभी तैयार नहीं होता, न कभी पात्रदान करता है।

ऐसे कृपण धनवान का धन भी फिर उसके घर से निकलने का कोई मार्ग ढूंढता है, मधु मक्खियों के छत्ते में एकत्र हुए मधु की तरह कोई कोई लूट उसके धन पर कभी न कभी अवश्य होती है। मर जाने पर तो उसके धन की छीना झपटी मुर्दे पर गिद्धों की तरह से हुआ ही करती है।

इसी लिये एक कवि ने कहा है कि—

कोई दे करके मरता है, कोई मर करके देता है ।
जरा से फर्क से बनते हैं, ज्ञानी और अज्ञानी ॥

यानी—बुद्धिमान् मनुष्य तो अपने हाथ से अपने धन का दान करने के बाद मरता है और अज्ञानी मनुष्य अपने हाथ से किसी को कुछ नहीं दे जाता, उसके मर जाने पर उसका धन यों ही सगे संबंधियों आदि के द्वारा इधर उधर हो जाता है ।

इस कारण भाग्य से पाये हुए धन का अच्छा उपभोग करना चाहिये । अपने तथा अपने पुत्र पुत्री, पत्नी, भाई आदि परिवार के सात्विक पौष्टिक भोजन पर आवश्यक व्यय करना चाहिये जिससे शरीर स्वस्थ बलवान बना रहे, रोगों का शिकार होकर वैद्य डाक्टरों के लिये खर्च न करना पड़े धर्म कर्म के पालन करने योग्य शरीर में क्षमता रही आवे, दीर्घ आयु योग्य रहे । वस्त्र भी सादा हो तो कुछ हानि नहीं, किन्तु स्वच्छ हों, गन्दे फटे टूटे न हों । इसके सिवाय सन्तान की शिक्षा पर आवश्यक खर्च में कमी न करनी चाहिये क्योंकि शिक्षा ही जीवन को उन्नत बनाती है। इसके सिवाय घर परिवार की अन्य आवश्यक व्यवस्था पर भी आवश्यकतानुसार खर्च करना चाहिये ।

इसके अनन्तर जिस धर्म के कारण इस भव में सुख सामग्री प्राप्त हुई है उस धर्म की जड़ कभी न सुखानी चाहिये उसे अपने धन-नीर से सींचते रहना चाहिये । स्वयं धर्म आराधन करने के लिये देव पूजा, गुरु सेवा, तीर्थ यात्रा, धर्म प्रचार, ग्रन्थ प्रकाशन, जहां आवश्यकता हो वहां पर मन्दिर बनवाने आदि धर्म कार्यों पर दिल खोल कर धन खर्च करना चाहिये जिससे धर्म की परम्परा चलती रहे ।

जिस समाज में मनुष्य रहता है उस समाज की उन्नति तथा बढ़वारी पर ही मनुष्य की उन्नति तथा बढ़वारी अवलम्बित है. अतः अपनी समाज सेवा के लिये जितना द्रव्य दे सके उतना अवश्य देना चाहिये । अपने धर्म भाई बहिनों के संकट दूर करना, समाज के बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था, साधर्मी के व्यापार आजीविका आदि में सहयोग करने आदि सामाजिक कार्यों में अपनी शक्ति अनुसार द्रव्य व्यय करना चाहिये ।

जिस देश में हम रहते हैं उस देश की उन्नति के लिये यथासभव धन प्रदान करना चाहिये । इसके सिवाय लोक कल्याण के कार्यों का भी ध्यान रखना आवश्यक है तदनुसार दीन दुखी अनाथ अपाहिज, अन्धे, असहाय मनुष्यों के दु.ख दूर करने मे जितनी सहायता दी जा सकती हो देनी चाहिये । भूखे व्यक्ति को भोजन करना, नंगे को वस्त्र देना, रोगी को औषधि देना, औषधालय खोलना, प्यासे को स्वच्छ शीतल जल पिलाना चाहिये । इस के सिवाय पशु पक्षियों की रक्षा के लिये, उनके भोजन के लिये, उनकी चिकित्सा के लिये भी जितना बन सके अवश्य खर्च करना चाहिये । साराश यह है कि परिश्रम से न्यायपूर्वक संचित किये हुए धन को धर्मार्थ तथा अपने लिये और परोपकार के लिये यथायोग्य खर्च करना चाहिये ।

प्रवचन नं० ३६

स्थान — तिथि:—

श्री दिगम्बर जैन नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली। श्रावण कृष्णा ६-१० गुरुवार, १४ जुलाई १६५५

दान

संसारी जीव को चार रोग अनादि से लगे हुए हैं—१. जन्म, २ मरण, ३. भूख, ४. प्यास। इनमें से जन्म मरण की चिकित्सा तो संसार भ्रमण के कारण कर्मबन्धन को नष्ट करना है, कर्मबन्धन का नाश आत्म श्रद्धा आत्मज्ञान तथा तपश्चर्या से होता है, किन्तु ये तीनों बातें प्रत्येक प्राणी को प्राप्त होना सरल नहीं हैं, अत जन्म मरण को परम्परा समाप्त करना भी हर एक प्राणी का काम नहीं। हाँ भूख प्यास की चिकित्सा (इलाज) प्रत्येक जीव किया करता है। पहले भोगयुग में मनुष्यों तथा पशु पक्षियों को अपनी भूख प्यास मिटाने के लिये कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता था, उनको भूख प्यास दूर करने की सामग्री कल्पवृक्षों से मिल जाया करती थी, किन्तु जब कर्मयुग आया तब वह सामग्री कल्पवृक्षों से मिलना बन्द होगई, उस समय मनुष्यों को परिश्रम करके भोजन पान प्राप्त करने की विधि सीखनी पडी।

सबसे प्रथम यह खेती आदि करने की विधि भगवान् ऋषभनाथ ने सिखलाई थी इसी कारण उन्हें 'आदि ब्रह्मा' कहते है। तत्काल उत्पन्न हुए बच्चे को भी भूख प्यास लगती है और उसको मिटाने के लिये वह बिना सिखाये पूर्व भव के संस्कार से अपनी माता के स्तनों का दूध पीने लगता है, ज्यों ज्यों बड़ा होता जाता है खाने पीने की दूसरी विधियाँ भी सीखता जाता है। देवों को जैसे ही भूख लगती है वैसे ही उनके गले से स्वय अमृत झरने लगता है और उनकी भूख शान्त हो जाती है। इस तरह भूख प्यास मिटाने का इलाज सब किसी को करना पड़ता है।

किन्तु कर्मभूमि में प्यास मिटाने के लिये पानी तो पृथ्वी के नीचे से कुओं द्वारा, पृथ्वी के ऊपर नदियों, झीलों द्वारा तथा आकाश से जल वर्षा द्वारा सरलता से मिल जाता है, अत. उसके लिये मनुष्यों तथा पशु पक्षियों को विशेष परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं होती और न उसके अधिक इकट्ठा करने की आवश्यकता दीखती है। परन्तु भोजन की सामग्री इतनी सरलता से प्रकृति से नहीं मिल पाती. अत. उसके लिये खेती बाड़ी आदि कठोर परिश्रम करने का सहारा लेना पड़ता है। किसान खेती करके इतना अन्न उत्पादन करता है कि अपने परिवार के सिवाय अन्य बहुत से परिवारों की भूख शान्त करने के लिये अन्न भी दे सकता है, अत. वह अपने लिये आवश्यक अन्य वस्त्र, बर्तन आदि पदार्थों के बदले में अपना अन्न दूसरों को दे देता है। इस तरह भूख मिटाने के लिये प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी तरह का परिश्रम अवश्य करना पड़ता है।

परिश्रम करते हुए मनुष्य कभी बीमार भी हो जाता है उस दशा में वह भोजन प्राप्त करने के लिये परिश्रम नहीं कर पाता, ऐसे अवसर के लिये मनुष्य को कुछ भोजन सामग्री अपने पास एकत्र रखने की आवश्यकता अनुभव होती है। अतः वह अपने कठिन समय के लिये कुछ न कुछ इकट्ठा भी करता जाता है। इसी संचय-वृत्ति (इकट्ठा करने) की भाग दौड़ में जो दूसरों से आगे बढ़ जाते हैं

वे धनवान भाग्यवान् कहे जाते हैं उनके पास पदार्थों का सचय दूसरों की अपेक्षा अधिक होता है और जो पदार्थ संचय की दौड में पीछे रह जाते है उनके पास पदार्थों का सचय थोड़ा हो पाता है या सर्वथा नहीं हो पाता, अत: वे निर्धन गरीब दरिद्र कहलाते है।

इस तरह ससार की सारी भाग दौड और अनेक तरह के परिश्रमो का मूल कारण भूख मिटाने का प्रयास (प्रयत्न) है, इसी में धनिक निर्धन की समस्या छिपी हुई है। धनिक अधिक द्रव्य सचय करके दूसरों को अपना दास बना लेता है और दूसरे मनुष्य अपने पास कम सचय होने के कारण धनिकों के दास बन जाते हैं। इसी आर्थिक विषमता के कारण ससार मे लडाई झगड़े, लूट चोरी, अनीति, अन्याय, अत्याचार, धोखेबाजी आदि बुरे कामों की सृष्टि होती है। क्रोध, मान, मायाचार, लोभ आदि दुर्गुण भी इसी के फल है।

धन की अत्यधिक विषमता को दूर करने के लिये जैन धर्म मे कुछ मौलिक आचरणीय सिद्धान्त बतलाये गये हैं। महाव्रती साधु के लिये धन सम्पत्ति का पूर्ण त्याग रूप अपरिग्रह रक्खा है तदनुसार जैन साधु फूटी कोडी भी अपने पास नहीं रख सकता। गृहस्थ के लिए जो ११ श्रेणियाँ (प्रतिमायें) बताई है उनमें से ९-१०-११ वीं श्रेणी का व्यक्ति योग्य वस्त्र तो अपने पास रख सकता है परन्तु रुपया पैसा आदि जरा भी नहीं रख सकता। नीचे की श्रेणी के जैन गृहस्थों के लिए धन के विषय में दो नियमों का पालन करना पड़ता है—१. परिग्रह का परिमाण, २ दान।

अपनी आवश्यकता के अनुकूल रुपया पैसा, सोना चाँदी, मकान, पशु, वस्त्र, बर्तन आदि गृहस्थ-उपयोगी पदार्थों का नियम करना, कि 'मैं इतना रुपया अपने पास रखूंगा, इतने रुपये हो जाने के बाद और अधिक संचय करना त्याग दूंगा, इतना सोना चाँदी मकान आदि रक्खूंगा, उससे अधिक नहीं।' परिग्रह परिमाण व्रत है।

धार्मिक व्यक्तियो तथा दीन दुखी जीवो को उनकी आवश्यकतानुसार भोजन, औषधि आदि देना दान है।

वैसे दान के चार भेद किये हैं—१. अन्वयदान, २. समदान, ३ पात्र दान, ४. दयादान। अपने पुत्र भाई भतीजे आदि को अपनी सम्पत्ति देना अन्वयदान है। अपने समाज जाति के योग्य वर को अपनी कन्या देना कन्या लेना, जीमनवार खिलाना, प्रेम व्यवहार के लिये कोई वस्तु अपनी जाति बिरादरी में बाँटना आदि समानता का सामाजिक लेन देन समदान कहलाता है।

मुनि, ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लिका आदि धर्मात्मा पुरुषों के लिये आहार, उपकरण आदि प्रदान करना पात्रदान है और दीन दुखी अनाथ असहाय स्त्री पुरुष पशु पक्षियों के दुख सकट दूर करने के लिए उनकी आवश्यकता योग्य वस्तुएँ दान करना दयादान है।

इनमें से प्रारम्भ के दो दान तो ऐसे हैं जिन को सभी मनुष्य स्वार्थ साधन के लिये किया ही करते हैं ऐसा किये बिना उनका समाज में निर्वाह नहीं हो सकता। इन दानों में तो केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपनी वंश परम्परा में धर्म-आचरण चलता रहे और कोई सामाजिक दोष न

उत्पन्न होने पावे। तथा कन्या के योग्य गुणी, स्वस्थ, सदाचारी वर को प्रमुख रूप से देखा जावे, केवल धन देखकर दुर्गुणी, रोगी, अशिक्षित, दुर्जन, प्रौढ़, वृद्ध आदि अयोग्य वर के साथ कन्या का विवाह न किया जावे। इसी तरह अपने पुत्र के लिए कन्या लेते समय दहेज के धन पर दृष्टि न रख कर शिक्षित गुणी, विनीत, सुन्दर कन्या को विशेषता देनी चाहिये।

यहाँ इतना और ध्यान रखना चाहिये कि विवाह सगाई आदि करते समय सामाजिक नियमों का उल्लंघन न किया जावे जिससे समाज के अन्य साधारण व्यक्तियों को तंगी न होने पावे। विवाह शादी आदि के ऐसे सरल कम खर्चीले नियम बनाने चाहियें जिससे समाज का गरीब से गरीब व्यक्ति भी अपने पुत्र पुत्रियों का विवाह सम्बन्ध कर सके।

परोपकार रूप दान तो पात्रदान दयादान ही है।

पात्र के तीन भेद हैं-१-उत्तम, २-मध्यम, ३-जघन्य। उत्तम पात्र (धर्म के भाजन) महाव्रती मुनि होते हैं। निर्ग्रन्थ तपस्वी मुनि सदा ज्ञान आराधन, आत्म साधना तथा धर्म उपदेश देना आदि स्व-उपकार, पर-उपकार करने में लगे रहते हैं। किसी से कुछ नहीं लेते किन्तु सबको सत्‌ज्ञान, अभयदान देते हैं, जनताको कुमार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर लगाते हैं ऐसे सर्वोच्च धर्मात्मा मुनि उत्तम पात्र हैं। उन को भोजन कराना, कमण्डलु पीछी तथा स्वाध्याय करने के लिये शास्त्र देना, उत्तम पात्र दान है। व्रताचरण करने वाले श्रावकों को उनकी आवश्यकता के अनुसार भोजन औषधि, शास्त्र, आदि देना मध्यम पात्र दान है। व्रतरहित सम्यक् धर्म श्रद्धालु व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुकूल वस्तु प्रदान करना जघन्य पात्र दान है।

पात्र दान द्वारा जगत् का उपकार करने वाले धार्मिक सज्जनों, साधु सन्तों की सुरक्षा तथा वृद्धि होती है, जिससे कि जगत् में सदाचार, शांति का प्रसार होता है, दुराचार और अशान्ति में कमी होती है अतः पात्र दान सब दानों में श्रेष्ठ दान है।

दीन दुःखी जीवों पर दया करके दुःख मेटने के लिये चार प्रकार की वस्तुओं का दान करना चाहिये—१-आहार दान, २-औषधिदान, ३-विद्या दान, ४-अभय दान।

भूख से दुःखी जीवों को उनकी भूख मिटाने के लिये निरामिष भक्ष्य सात्विक भोजन देना आहार दान है। जगत् में ऐसे निर्धन स्त्री पुरुष हजारों लाखों पाये जाते हैं जिन के पास अपने पेट भरने का कोई साधन नहीं होता, इस कारण यदि उन को भोजन न मिले तो या तो वे भूख से छटपटा कर अपने प्राण दे देते हैं, अथवा अपना पेट भरने के लिये कोई अनर्थ या अकार्य कर डालते हैं। भूख का भयानक दृश्य बतलाते हुए कवि ने लिखा है—

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं,
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्।
क्षुधातुराणां न भयं न लज्जा,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति॥

यानी—भूख से व्याकुल माता अपने औरस, दुधमुहे पुत्र को अरक्षित छोड़ कर चली जाती है, भूखी सर्पिणी अपनी भूख शान्त करने के लिये अपने ही अंडे खा जाती है । भूख से पीडित मनुष्यों को न कोई भय रहता है, न किसी प्रकार की लज्जा रहती है. निर्भय निर्लज्ज हो कर सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं । भूख से पीडित मनुष्यों को दया नहीं रहती वे भूख के कारण निर्दय बन जाते है ।

कुत्ती जिस समय बच्चे देती है, उस समय उस को बहुत भूख लगती है यदि उस समय उसको खाने के लिये कुछ न मिले तो वह अपने ही बच्चे खा जाती है । २०-२५ वर्ष पहले दक्षिणी भारत में अकाल पडा था उस समय एक स्त्री ने भूख से तड़फड़ा अपने मृतक बच्चे को भून कर खाने की तैयारी की थी सयोग से उसी समय सहायता देने के लिये स्वयंसेवक आ गये ।

ऐसी दशा में भूखे स्त्री पुरुषों भिखारियों को तथा पशु पक्षियों को भोजन कराना महान् उपकार का कार्य है । अपने घर आये हुए भूखे को अवश्य थोड़ा बहुत भोजन कराना चाहिए, अपने बनाये हुए भोजन में से थोडा बहुत भोजन भूखे जीवों को दान करने के लिए अवश्य बचा रखना चाहिए ।

असमर्थ रोगी स्त्री पुरुषों को स्वस्थ बनाने के लिये उन की मुफ्त चिकित्सा (इलाज) करना, गरीब रोगियों को दवा बांटना, रोगियों की सेवा करना, औषधालय खोलना जहां से सब को मुफ्त दवा मिलती रहे, हस्पताल खोलना, जहाँ रहकर दरिद्र रोगी स्त्री पुरुष अपनी चिकित्सा करावें, रोगी पशु पक्षियों का इलाज करना इत्यादि औषध दान है । गरीब स्त्री पुरुष वैद्य डाक्टरों के लिये फीस तथा दवा की रकम खर्च नहीं कर सकते अतः भयानक रोगों के शिकार होकर तडपकर मर जाते हैं. ऐसे रोगियों को यथा समय औषधि मिल जाने से उनके प्राणों की रक्षा हो जाती है । अतः औषधि दान भी बहुत उपयोगी है ।

अशिक्षित मूर्ख मनुष्य पशु के समान होता है वह न तो कुछ धर्म आचरण करके या अन्य कोई अच्छा कार्य करके अपना भला कर सकता है और न दूसरे व्यक्ति का । जो अपनी जाति, समाज एवं देश की सेवा, उन्नति कर सकता है, ऐसे मनुष्यों को विद्या पढ़ाना, विद्यालय खोलना, अच्छी उपयोगी पुस्तकें छपाकर जनता में उनको बाटना, उपदेश देकर अच्छे ग्रन्थ या लेख लिख कर ज्ञान का प्रसार 'ज्ञान दान' है । मूर्ख को ज्ञानी बनाना और ज्ञानी को अधिक ज्ञानी बनाने के लिये छात्रवृत्ति (स्कालर्शिप) देना, विद्यार्थियों में उत्साह लाने के लिये उन्हे पारतोषिक देना ज्ञान दान ही है । ज्ञान दान से संसार का महान उपकार होता है अतः ज्ञान दान श्रेष्ठ प्रशंसनीय दान है ।

किसी भयभीत स्त्री पुरुष का भय दूर करके उसे निर्भय बनाना, किसी दुष्ट आक्रमणकारी से किसी दीन दुर्बल की रक्षा करना, अनाथ बच्चों असहाय स्त्रियों की सहायता करना, असहाय जीवों को सहायता देना अभयदान है । रात्रि को जहाँ आने जाने के मार्ग पर अंधेरा हो जिस से आने जाने वालों को डर लगता हो, वहाँ प्रकाश कर देना, पहरा लगा देना, वन पर्वतों में साधु मुनियों के लिये मठ बनवा देना, धर्मशाला बनवाना आदि अभयदान है ।

दान करने से मनुष्य गरीब नहीं हो जाता, पुण्य कर्म से उस की सम्पत्ति और भी बढ़ती है, अतः उदारता के साथ यथाशक्ति दान करते रहना चाहिये ।

प्रवचन नं० ४०

स्थानः— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली। तिथिः— श्रावण कृष्णा ११ शुक्रवार, १५ जुलाई १६५५

पात्र-दान

गृहस्थ स्त्री पुरुषों से इच्छा पूर्वक तथा अनिच्छापूर्वक आरम्भ, उद्योग, परिग्रह सम्बन्धी चक्की, चूल्हा, बुहारी आदि के अनेक ऐसे कार्य होते रहते हैं जिन के द्वारा जीव घात होकर उनके पापकर्म बन्धता रहता है तथा धन संचय करने में भी अनेक कूट कपट, असत्यभाषण, चोरी, अनीति आदि कुकार्य करने पड़ते हैं इनके प्रायश्चित्त के लिए हमारे धर्मगुरुओं ने गृहस्थ को अपने संचित द्रव्य में से कुछ न कुछ अश प्रतिदिन दान करने का उपदेश दिया है। दान देने से जहाँ जिस को दान दिया जाता है उसका उपकार होता है वहाँ दान देने वाले का भी पाप भार हलका होकर पुण्य बन्ध होता है इससे उसका अपना उपकार भी हो जाता है। इसलिये दान अवश्य करना चाहिए। एक कवि ने कहा है:—

अगर धन रखा है मंजूर, तो धन वालो बनो दानी।
कुएँ से गर नहीं निकले, तो सब सड़ जायगा पानी॥

अर्थात् हे धनिक लोगो! यदि तुम अपने धन को स्थिर रखना चाहते हो या उसमें वृद्धि करना चाहते हो तो तुम अपने धन को दान में भी खर्चते रहो क्योंकि यदि कुएँ में से पानी न निकाला जावे तो वह पानी सड़कर खराब हो जाता है। इसी तरह बिना दान वाला धन भी पड़ा पड़ा हानिकारक हो जाता है।

दाता

दान करते समय दानी को दया, सन्तोष, धैर्य, क्षमा रखनी चाहिए और प्रसन्नता के साथ दान करना चाहिए, मांगने वाले पर क्रोधित होते हुए, उसको कुवचन कहते हुए जो दुखी क्लेशित भावों से दान दिया जावे उसका यथेष्ट फल नहीं होता है। हमारे आचार्यों ने दान देने वाले दाता में ७ गुणों का होना आवश्यक बतलाया है।

१—निःस्पृहा— दान देकर उसके बदले में अपने लिये यश आदि की इच्छा न करे। दानी का यश तो ससार में अपने आप फैलता ही है, परन्तु दानी को यश की इच्छा रखकर दान करना उचित नहीं है, यश की इच्छा तो एक तरह का स्वार्थ है नि स्वार्थ तथा निरिच्छुक होकर शुद्ध मन से दान करना चाहिये।

२—अक्रोध—दान देते समय मन में शान्ति क्षमा और दया भाव रखना चाहिये दान देते हुए क्रोध करना, मुख बिगाड़ना, गाली गलौज दे बैठना आदि बाते अनुचित है। क्योंकि इससे दान लेने वाले के हृदय को बहुत दु ख होता है।

३—निष्कपटता—दान देते समय छल कपट व्यवहार भी ठीक नहीं कि दान के लिए दिखाया कुछ अच्छा द्रव्य और दिया कुछ दूसरा ही घटिया पदार्थ, अधिक बोल कर थोड़ा देना आदि।

४—अनीर्ष्या—दान देने में दूसरों से ईर्ष्या (अदेखसका भाव) न करनी चाहिए, दान देकर दूसरे दानियों को नीचा दिखाने का भाव रखना बहुत बुरा है, दान देने में दूसरे को गिराने की चेष्टा निन्दनीय है, ईर्ष्या के द्वारा किये हुए दान का फल यथेष्ट नहीं मिलता और पुण्य के साथ में पाप कर्म का भी बध होता जाता है।

५. अविषाद—दान देकर दु ख न मानना। दान शक्ति से अधिक न करना चाहिये और दान देकर पछताना न चाहिये कि 'हाय! मेरी इतनी रकम कम हो गई।'

६. प्रमोद—दान प्रसन्नता के साथ करना चाहिए और दान देने के पश्चात् भी प्रसन्न होना चाहिए कि मेरा भाग्य है जो इस भौतिक सम्पत्ति का त्याग करके मैंने आत्मा का अशुभ कर्म भार हल्का कर दिया है, पुण्य कर्म का संचय किया है।

७. निरहंकार—दान देकर अभिमान नहीं करना चाहिये कि मैंने इतना दान कर दिया है, अमुक मनुष्य का भला कर दिया है। तथा देते समय भी अभिमान प्रकट न करना चाहिये जिस से दान देने वाले अपना अपमान अनुभव करें।

इन ७ गुणों से सहित दाता सदा प्रशसनीय होता है और दान का यथार्थ यथेष्ट फल प्राप्त करता है।

पात्र

दान लेने वाले व्यक्ति भी योग्य सदाचारी धर्मात्मा होने चाहियें। सत् श्रद्धा ज्ञान आचरण-सम्पन्न व्रती त्यागी पुरुष को दान देने से अधिक लोकहित होता है, अतः ऐसे व्यक्तियों को भक्ति के साथ दान देना चाहिये। पाखण्डी, धूर्त, भङ्गेडू लोगों को दान करने से लाभ नहीं। दीन दुःखी जीवों को दान दया भाव से देना चाहिये उसमें धर्मात्मा अधर्मात्मा आदि का भेदभाव न करना चाहिये। हां यह बात अवश्य है कि हिंसक, पापी, दुष्ट व्यभिचारी, शराबी, मांस भक्षक लोग दया के पात्र नहीं हैं। ऐसे पुरुषों की कभी दयानीय दशा दीखे तो उनको ऐसी वस्तु दान करनी चाहिये जिसका कि वह दुरुपयोग न कर सके।

एक बार एक धीवर की स्त्री एक सेठ के पास गई और अपनी गरीबी तथा भूख का हाल उसे सुनाया। सेठ को उसकी दशा देख कर दया आ गई। उसने उसको पाँच रुपये दे दिए। वह धीवरी रुपए लेकर अपने घर आई उसने वे रुपये अपने पति को लाकर दे दिये। उसके पति ने उन रुपयों से एक मछली पकड़ने का जाल खरीद लिया और प्रतिदिन उस जाल के द्वारा मछलियाँ पकड़ कर खाने लगा तथा बेचने लगा।

उस दानी सेठ के घर उसी दिन से घाटा होने लगा। सेठ को आश्चर्य हुआ कि दान पूजा सदाचार आदि करते हुए भी मुझे घाटा क्यों हो रहा है, दान देने से तो धन में वृद्धि होती है, हानि होने का कारण क्या है? उसने एक दिव्यज्ञानी साधु से जाकर अपने घाटे का कारण पूछा, साधु ने उत्तर दिया कि तूने धीवरी को जो पांच रुपये दिए थे, उन रुपयों के द्वारा जाल खरीदा गया है जिस से कि मछलियों को पकड़ा जाता है इस कारण तुझे घाटा हो रहा है।

अत: दान देते समय रुपया पैसा आदि जहाँ तक हो सके किसी को न देना चाहिए आज कल बहुत से भिखारी पैसा पैसा माँगकर रकम इकट्ठी कर लेते हैं और उस रकम से मांस खाते हैं, शराब पीते हैं तथा और भी अनेक कुकृत्य करते हैं, इस तरह दान किया हुआ पैसा बुरे कामों में खर्च होता है। बहुत से भिखारी तो सैंकड़ों हजारों रुपए जोड़ लेते है। इस कारण भोजन, वस्त्र आदि ऐसी चीजों का दान करना चाहिए जो कि भिक्षुक की किसी आवश्यकता को तो पूरी करे, बुरे कार्यों में प्रयुक्त न हो सके।

द्रव्य

दान में दी जाने वाली वस्तु न्याय-उपार्जित द्रव्य की होनी चाहिए. चोरी, बेईमानी, लूट खसोट का माल दान में नहीं देना चाहिये, इसके सिवाय जो वस्तु दान की जावे वह दान ग्रहण करने वाले के योग्य हो तथा उसे लाभदायक हो। भूखे को भोजन और नगे को कपडा मिलना चाहिए। ग्रीष्मऋतु में शीतल भोजन और शीत ऋतु में उष्णता देने वाला भोजन देना चाहिए। प्रकृति विरुद्ध भोजन न होना चाहिए। मुनि को वस्त्र देना और भिखारी को पीछी कमण्डलु देना अयोग्य एवं व्यर्थ है। श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है—

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्याय वृद्धिकरम् ॥१७०॥

यानी—जिस भोजन आदि वस्तु से दान ग्रहण करने वाले मुनि त्यागी आदि भिक्षुक आदि को राग, द्वेष, असंयम, नशा, दु.ख, भय आदि उत्पन्न न हो और जो तप, स्वाध्याय, शान्ति आदि की वृद्धि करने वाली हो, वही वस्तु दान करनी चाहिये।

विधि

दान जिस पात्र को जिस विधि से देना उचित है उसी विधि के अनुसार दान देना चाहिए। मुनियों का प्रतिग्रह, उच्च स्थान, चरणप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, त्रियोग शुद्धि तथा भोज्य शुद्धि। इन ६ प्रकार की भक्तियों के साथ आहार देना चाहिए, क्षुल्लक ब्रह्मचारी आदि को उनके योग्य सन्मान के साथ भोजन कराना चाहिए। दयापात्र दीन दु.खी जीवों को दया भाव से दान करना चाहिए।

अच्छे पात्र को विधिपूर्वक आवश्यक थोड़ी वस्तु भी शुद्ध भावो से प्रदान की जावे तो उसका फल भी अच्छा होता है और यदि बहुत मूल्यवान वस्तु भी निन्द्य भावों से दी जावे तो उसका फल अच्छा नहीं होता।

भगवान ऋषभनाथ ने कर्मयुग की आदि में मुनि दीक्षा ग्रहण की थी उस समय उन्होंने स्वेच्छा से ६ मास का उपवास व्रत लेकर आत्मध्यान प्रारम्भ किया था। जब वे योग से उठकर आहार ग्रहण करने भोजन चर्या को निकले उस समय जनता मुनियों को विधि अनुसार शुद्ध भोजन देना न जानती थी, अत: उनको कोई सोना चाँदी रत्न भेंट करने सामने आता था, कोई हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी भेंट करने को तैयार होता था, कोई सुन्दर वस्त्र आभूषण देने को तत्पर होता था, यदि कोई स्वादिष्ट भोजन भी

देना चाहता था तो उसे भोजन कराने की नवधा भक्ति मालूम न थी, अतः भगवान् यथा समय प्रतिदिन भोजन चर्या को निकलते थे और यथानियम आहार न मिलने से बिना भोजन किये वन में तपस्या करने वापिस चले जाते थे। इस तरह भोजन में अन्तराय होते होते छह मास और हो गये।

तब एक वर्ष पीछे हस्तिनापुर में राजा श्रेयांस ने पूर्वभवके संस्कार से भगवान् को नवधाभक्ति से केवल तीन चुल्लू ईख का रस पिला कर पारणा कराई। समयोचित इस थोड़े दान के कारण भी राजा श्रेयास प्रमुख दानी माना गया क्योंकि उसने मुनियों के भोजन कराने का द्वार-उद्‌घाटन किया।

जिस प्रकार युग के प्रधान पुरुष, उत्तम पात्र, भरत क्षेत्र के प्रथम साधु भगवान् ऋषभनाथ को निर्दोष आहार कराने के कारण राजा श्रेयास प्रसिद्ध हुआ उसी तरह अभयदान के लिये प्राण तक समर्पण कर देने वाला एक शूकर भी प्राचीन इतिहास में प्रसिद्ध हुआ है। उसकी रोचक कथा यों है—

एक नाई और कुम्हार ने मिलकर व्यापार किया उससे उन्होंने अच्छा धन उपार्जन किया। तब उन्होंने मिलकर अपने गांव के बाहर एक धर्मशाला बनवाई। एक दिन एक दिगम्बर मुनि विचरण करते हुए उधर आ निकले, सूर्य अस्त होते देख गाव के बाहर ठहर गये। उसी समय वह कुम्हार संयोग से वहां आ गया। उसने मुनि महाराज को बडे विनय सन्मान से धर्मशाला में ठहरा दिया और अपने घर चला गया।

कुछ देर के पीछे वह नाई वहाँ पर आया उसने निर्ग्रन्थ नग्न साधु को अपनी धर्मशाला में आया हुआ देख कर बुरा माना, और शीत ऋतु में रात्रि के समय उन मुनि महाराज को धर्मशाला से बाहर निकाल दिया।

इसी बात पर नाई और कुम्हार परस्पर लड़ पड़े और लड़ते २ दोनों मर गये। क्लेशित भावों से मरने के कारण दोनों ने पशुओं का शरीर पाया। कुम्हार मर कर पर्वत पर शूकर हुआ और नाई ने सिंह की देह पाई।

उस पर्वत में एक गुफा थी, उसमें एक दिन एक मुनि महाराज ध्यान करने के लिये ठहर गये। संयोग से वह सूअर उधर आ निकला। मुनि महाराज को गुफा में देख कर उसको अपना पहला जन्म याद आ गया, उसके मन में मुनि महाराज के लिये श्रद्धा उमड़ आई। बुद्धिमान् जानवर था उसने मुनि महाराज को झुककर नमस्कार किया।

उधर वह सिंह भी भोजन की खोज मे घूमता घामता वहाँ आ गया। मनुष्य के शरीर की गन्ध पाकर उसने जान लिया कि गुफा में कोई जीव है, अतः आत्मध्यान में लीन मुनि महाराज को खाने के लिये गुफा की ओर झपटा। सूअर गुफा के द्वार पर ही था उसने शेर का अभिप्राय समझ लिया। तब उसने सिंह को गुफा में घुसने से रोका, क्यों कि वह उन साधु का भक्त बन गया था, अतः उनकी रक्षा करना चाहता था।

सूअर ने जब सिंह को गुफा में घुसने से रोका तो शेर को बहुत क्रोध आया और वह उस शूकर से ही भिड़ पड़ा। शूकर भी वन में स्वच्छन्द विचरने वाला बलवान जन्तु था, उसने भी जीवित रहते

हुए शेर को गुफा से बाहर रखने का निश्चय किया और उसी पवित्र भावना से वह भी शेर के सामने निर्भय होकर डट गया। सिंह अपने पजों से सूअर का शरीर घायल करने लगा और शूकर ने अपने बाहर निकले हुए दाँतों से शेर का शरीर घायल कर दिया। इस तरह शेर मुनि महाराज पर झपटने की भावना से और सूअर मुनि की रक्षा के इरादे से लड़ता रहा। यों लड़ते लड़ते दोनों वहीं पर मर गए। शेर मर कर अपनी हिंसक भावना के परिणाम-स्वरूप नरक में दुःख भोगने गया और सूअर अपनी अच्छी भावना के कारण देव हुआ।

प्रवचन नं० ४१

स्थान —
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथिः—
श्रावण कृष्णा १२ शनिवार, १६ जुलाई १६५५

आत्मा से परमात्मा तक

मनुष्य ने जिसे भोग उपभोग करने, खेलने-कूदने, सैर सपाटे करने का क्षेत्र समझ रक्खा है, वह संसार वास्तव में कर्म-क्षेत्र है, अपनी शक्ति और कर्मण्यता प्रदर्शन करने का अखाड़ा है। ससार यदि किसी दृष्टि से असार नि सार दु खदाता है तो दूसरी से वह अच्छा सारभूत प्रगति करने का स्थान भी है, ऐसा सुविधाजनक स्थान है कि यहां पर अपने पराक्रम को यदि गलत ढग से काम मे ले तो निगोद भी पा सकता है जहाँ पर कि अक्षर ज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण निरावरण नित्य-उद्‌घाटित ज्ञान रह जाता है। स्वस्थ मनुष्य के एक श्वास लेने जैसे छोटे से समय में १८ वार जन्म मरण करने का महान् दुःख लगातार बहुत समय तक सहना पड़ता है। सासारिक जेल महा वेदना देने वाला सप्तम नरक भी जीव अपने ही परिणामों से पाया करता है और यदि सही तौर से अपनी प्रगति करे तो वह संसार का सब से ऊँचा पद, जहां कि ससार का उत्कृष्ट सुख मिला करता है, और जहां पहुच कर ससार के पार होने की गारन्टी मिल जाती है, संसारी जीव के लिये जो सबसे ऊंचा स्थान है, सर्वार्थसिद्धि भी पा सकता है।

सारांश यह है कि जीव में अपने पतन और उत्थान की सभी शक्तियां मौजूद है वह उनमें से जिस शक्ति से काम लेता है वैसा ही परिणाम उसके सामने आ जाता है। हां इतना अवश्य है कि पतन करने (गिरने) के लिये कुछ विशेष बुद्धिमानी की आवश्यकता नहीं हुआ करती जब कि उत्थान (ऊचा उठने) के लिये बुद्धिमानी से कार्य करने की आवश्यकता है। जो शक्तिया ऊँचा चढ़ने की कर्म के पर्दे में छिपी हुई है उन्हे अपने ज्ञान के द्वारा बाहर लाने की आवश्यकता है।

एक बुढ़िया चरखा चला कर सूत काता करती थी, उसी से वह अपना जीवन निर्वाह करती रहती थी। एक दिन चरखे के तकुए में बल पड़ गया, अब वह तकुआ चरखा चलाते समय भांय भांय करने लगा उसके द्वारा ठीक और जल्दी सूत कातने में बुढ़िया को बाधा आ खड़ी हुई, बुढ़िया का हाथ रुक गया।

तब बुढिया उस तकुए को लेकर एक लुहार के पास पहुंची, वहां पर उसने उस लुहार से कहा कि

मेरे तकुए में बल पड़ गया है, इस बल को निकाल दो, लुहार ने कहा बल (टेढ़ापन) निकालने के चार पैसे लूंगा ? बुढ़िया ने चार पैसे देना स्वीकार किया। लुहार ने तकुए को अग्नि में गर्म करके ठोंक पीट कर उसका बल निकाल दिया और तकुआ उस बुढ़िया के हाथ में देकर अपने परिश्रम के चार पैसे बुढ़िया से मांगे।

बुढ़िया बोली कि तकुए में से जो तू ने बल निकाला है उसे मुझ को दे दे, और अपनी मिहनत के पैसे मुझ से ले ले। लुहार ने झुंझलाकर उत्तर दिया कि माई ! बल तो तकुए में था और उसका सीधापन भी तकुए में छिपा था मैंने ठोंक पीटकर उस बल को ठीक करके सीधापन उसमें ला दिया है, बुढिया ने कहा जब सीधापन भी तकुए में ही था तब तूने क्या किया, तुझे पैसे किस बात के दूं ? तू मुझे तकुए का निकाला हुआ बल मुझे नहीं देता, तो मैं तुझे पैसे नहीं देती। यों कहती हुई वह बुढ़िया अपना तकुआ उठाकर घर चली आई। लुहार देखता रह गया।

कथा का अभिप्राय यहाँ पर यह लेना है कि जीव में अपनी उन्नति की मूल शक्ति विद्यमान है, वह उसे कहीं बाहर से नहीं लानी पड़ती, कुछ निमित्त मिलाकर प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है, बिना निमित्त मिलाए और प्रयत्न किये जीव की गुप्त शक्ति प्रगट नहीं हुआ करती।

एक सेठ के घर उत्तराधिकारी पुत्र नहीं था, वह एक अवधि ज्ञानी मुनि के पास गया और उनसे पूछा कि मेरे पुत्र होगा ? मुनि महाराज ने अवधिज्ञान से जानकर उसको उत्तर दिया कि हाँ, अवश्य होगा। सेठ बहुत प्रसन्न हुआ और उसने घर आकर सेठानी को सब समाचार कहा, सेठानी को भी बहुत हर्ष हुआ। सेठ उसी दिन व्यापार करने के लिये परदेश चला गया और पांच वर्ष पीछे घर लौटा।

घर आते ही उसने सेठानी से पूछा कि दिखाओ, हमारा पुत्र कितना बड़ा हो गया है ? सेठानी ने कहा कैसा पुत्र ? मेरे तो कुछ नहीं हुआ। तब सेठ को उन मुनि महाराज पर बहुत क्रोध आया कि उन्होंने पुत्र होने की असत्य बात मुझ से क्यों कही ? वह मुनि महाराज के पास पहुँचा और उनसे बोला कि महाराज ! पांच वर्ष हो गये मेरे तो पुत्र नहीं हुआ। मुनि महाराज ने पूछा कि पुत्र उत्पादन के लिए तूने कुछ प्रयत्न भी किया ? सेठ अकचका कर बोला महाराज ! मै तो उसी दिन परदेश चला गया था और आज वहाँ से लौटकर आया हूँ, मुझे तो प्रयत्न करने का अवसर भी नहीं मिला। तो मुनिराज बोले कि बिना प्रयत्न किये पुत्र कहाँ से आ जायगा ? फल तो परिश्रम का ही मिलता है। सेठ लज्जित होकर चुपचाप घर को चला गया।

तदनुसार आत्मा की छिपी हुई शक्तियों का विकास करने के लिए भी अच्छा प्रयास करने की आवश्यकता है बिना प्रयास किये तो उन शक्तियों का विकास हो नहीं सकता।

जिन जीवों को विचार करने की योग्यता नहीं है जिन के मन नहीं है वे जीव तो हेय (त्याग करने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) के भेदभाव की समझ ही नहीं रखते, उनको तो कर्म उदय से जैसी कुछ परिस्थिति मिलती है उसके अनुसार उनकी प्रवृत्ति हुआ करती है। कर्म भार उतारने के लिये आत्महितकारी कार्य करनेका भाव उनमें कभी होता ही नहीं। तेली के बैल की तरहवे तो कर्म

का भार ढोते रहते हैं। कर्मों का जैसा कुछ भी उनको फल मिलता है उसी को बिलाहीलोहुज्जत भोगते रहना उनका काम है।

ऐसे जीव एकेन्द्रिय से लेकर असञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय तक हुआ करते हैं, इनके कर्मफल चेतना होती है।

स्वयं परिणामों में कुछ शान्ति होने पर, मंदकषाय होने पर जब असंज्ञी जीव कुछ ऊँचे उठने योग्य कर्मों का बन्ध कर लेते हैं तब उनको मन वाले सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीवों का शरीर प्राप्त होता है, उस समय उन जीवों में हित अहित का विचार करने की शक्ति प्रगट होती है, उस दशा में वे दु:खदायक कर्मों से बचने की तथा सुखकारी कार्य करने की चेष्टा किया करते हैं। यह बात तो दूसरी है कि नरक में जाने वाले यानी अपना और भी बुरा पतन करने वाले संज्ञी जीव ही होते हैं, असैनी जीव नहीं हुआ करते, परन्तु बुरा करना उलटी समझ तथा उलटी श्रद्धा पर आधारित है। यदि मन की प्रेरणा से सञ्ज्ञी जीव सन्मार्ग पर चलते हैं तो स्वग भी तो वे ही जाया करते हैं। इस तरह संज्ञी जीवों को कर्तव्य का बोध हो जाता है किन्तु आत्म श्रद्धा न होने से उनका सच्चा आत्महितकारी ज्ञान नहीं होता है, ऐसे सब जीव कर्मचेतना वाले होते है।

जब जीव को आत्म-श्रद्धान तथा तात्विक-श्रद्धान हो जाता है, तब आत्मा ससार मुक्त करने के मार्ग पर लग जाता है उसे सच्चा आत्मज्ञान प्रगट हो जाता है, तब से उसकी रुचि सासारिक विषय वासनाओं से हट जाती है, ऐसे जीव ज्ञानचेतना वाले कहलाते हैं।

इस तरह एक तो संसारी जीवों को कर्मफलचेतना, कर्म चेतना, और ज्ञानचेतना के रूप में तीन प्रकार से विभक्त किया जाता है।

दूसरी तरह से जीवों का विभाग बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के रूप में तीन प्रकार किया जाता है। जो ससारी आत्मा के अनुभव से शून्य हैं, शरीर को अपनी निजी वस्तु समझकर सांसारिक विषय भोगों में लीन रहते हैं, सदा जिनकी बाहरी दृष्टि रहती है, आत्म-श्रद्धा जिन्हें नहीं होती, ऐसे मिथ्यादृष्टी या बहिर्दृष्टी जीवों को बहिरात्मा कहते हैं।

जिन को आत्मा की अनुभूति होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, जिनकी दृष्टि बाहर से हटकर अन्तरंग की ओर हो गई है उन जीवों को अन्तरात्मा कहते हैं। अन्तरात्मा की तीन श्रेणियाँ हैं। जघन्य श्रेणी का अन्तरात्मा अहिंसादि व्रताचरण से रहित सम्यग्दृष्टी होता है। मध्यम अन्तरात्मा अणुव्रती श्रावक तथा शुद्धोपयोग से शून्य महाव्रती मुनि होते हैं। और तपस्वी आत्मध्यान में तन्मय, राग द्वेष, भावना से रहित शुद्ध उपयोग वाले मुनि उत्तम अन्तरात्मा होते हैं।

कर्ममल से रहित, जन्म मरण से अतीत, पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण सुखी, शुद्ध-बुद्ध निरजन निर्विकार आत्मा परमात्मा कहलाता है। उस परमात्मा की दो श्रेणी हैं—१. चारघाति कर्म रहित, अनन्त चतुष्टय-धारक जीवन्मुक्त अर्हन्त परमात्मा। २. समस्त (आठों) कर्मों से रहित, अशरीर, लोकाग्र निवासी सिद्ध परमात्मा।

इस तरह सब साधारण संसारी जीव बहिरात्मा होते हैं, उनमें से जो आत्मोन्मुख होकर आत्म-शुद्धि करने में प्रयत्नशील होते हैं वे अन्तरात्मा कहे जाते है और जो पूर्ण आत्मशुद्धि करके जन्म-मरण से सदा के लिये छूट जाते हैं वे परमात्मा कहलाते हैं। अतः जो मनुष्य साधारण आत्मा मे परमात्मा बनना चाहता है उसको अपने आत्मा को क्रमशः पहले आत्म-श्रद्धालु बनाना चाहिये फिर मध्यम अन्त-रात्मा बनाकर उत्तम अन्तरात्मा बनने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि इस प्रयत्न में सफलता मिल जावे तो फिर परमात्मा का पद मिलना सरल हो जाता है। इस तरह परमात्मा बनने का आदर्श अपने सामने रखकर बहिरात्मापन से छुटकारा प्राप्त करना चाहिये और अन्तरात्मा बनकर प्रगति करते जाना चाहिये। आत्मा को उन्नत, उन्नततर और उन्नततम बनाने का यह मार्ग है।

उत्थान की विधि

मनुष्य अपने आत्मा को परमसुखी, परमज्ञानी बनाने के लिये सबसे पहले शुद्ध बुद्ध परमात्मा का भक्त बनता है। परमात्मा को अपना आदर्श मान कर उनकी हृदय से श्रद्धा करता है, वन्दना नमस्कार, विनय, पूजा करके अपनी पुनीत भावना बनाता है कि हे भगवन्! दासोऽहम्—यानी—मैं आपका चरण सेवक दास हूँ, आपके समान शुद्ध बुद्ध परमात्मा बनने की मेरी भावना है। । मैं आपका श्रद्धालु भक्त हूँ और आप मेरे पूज्य भगवान् हैं। आत्म-उन्नति की यह प्रारम्भिक विधि है।

इसके अनन्तर वह भक्त भगवान् के चरण चिन्हों पर चलकर और ऊंचा उठता है, तब वह अपनी दृष्टि बाहर से हटा कर अन्तरग की ओर कर लेता है और समस्त कार्य छोड़कर आत्मध्यान में निमग्न हो जाता है। उस समय उसकी भावना दासोऽहम् (भगवन् मैं तेरा भक्त दास हूँ) से हटकर 'सोऽहम्' (यानी—मैं वैसा ही परमात्मा स्वरूप हूँ) रूप में हो जाती है। उस समय बिना किसी अन्य पदार्थ की सहायता लिये स्वयं शुद्ध बनने में लग जाता है।

आत्मध्यान में निरन्तर उन्नति करता हुआ जब वह अपने आत्म शत्रुओं को पछाड़ करके उनसे अपना पीछा छुड़ा लेता है तब स्वयं परमात्मा बन जाता है। उस समय वह 'सोऽहम्' से 'अहम्' (मैं परमात्मा हूं) का शुद्ध अनुभव करता है।

इस तरह 'दासोऽहम्' की भावना रखने वाला भगवान् का भक्त 'दासोऽहम्' का आधा अक्षर 'दा' हटा कर आत्मध्यान के समय 'सोऽहम्' रूप प्राप्त करता है। सोऽहम ध्यान में प्रगति करता हुआ दूसरे अक्षर 'स' को भी हटा करके केवल 'अहम्' रूप में पहुंच जाता है। यानी भक्त आत्मा आत्म ध्यान के द्वारा पहले महात्मा बनता है फिर महात्मा से परमात्मा बन जाता है। दासोऽहम् की अवस्था में कर्ममल से बहुत मलिन होता है, 'सोऽहम्' की अवस्था में कर्मभार बहुत हलका कर बहुत कुछ शुद्ध हो जाता है और 'अहम्' भावना में वह पूर्ण शुद्ध हो जाता है इस तरह ये तीनों रूप एक ही आत्मा के हैं।

जिस वर्षाती नदी या तालाब का पानी बहुत मैला होता है, वह न तो पीने योग्य होता है और न वस्त्र धोने योग्य है, यहाँ तक कि उससे स्नान करने को भी जी नहीं चाहता, उसमें नहाने धोने से शरीर और कपड़े मैले हो जाते हैं। वही पानी क्रम-क्रम से स्वच्छ होता हुआ ग्रीष्म ऋतु में खूब निर्मल हो जाता है उस समय उसमें कपड़े धोने से कपड़ों का मैल दूर हो जाता है और स्नान करने से शरीर

स्वच्छ हो जाता है, परन्तु कच्चा होने से वह पीने योग्य फिर भी नहीं हो पाता। उसी पानी को जब उबाल कर पक्का बना लेते हैं तब वह सर्वदोष शून्य पीने योग्य हो जाता है। तीनों दशा में वही पानी होता है। इसी तरह साधारण संसारी आत्मा, महात्मा और परमात्मा तीनों दशाएं एक ही आत्मा की हैं।

प्रवचन नं० ४२

स्थानः—	तिथिः—
श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली	श्रावण कृष्णा १३ रविवार, १७ जुलाइ १६५५

प्राचीन इतिहास

जिस दिगम्बर जैन लाल मन्दिर में हम बैठे हुए है इस का इतिहास अच्छा चमत्कार पूर्ण प्रभावशाली है।

हम लोग आज कल जहाँ तक पहुंच सकते हैं उतना एशिया, यूरोप, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और अमेरिका महाद्वीपों रूप मनुष्य क्षेत्र भरत क्षेत्र का आर्यखण्ड है। इन महाद्वीपों में अनेक देश अपनी विभिन्न विशेषताओं से प्रसिद्ध हैं। परन्तु भारतवर्ष का इतिहास बहुत पुरातन समय से गौरव पूर्ण रहा है। भारत को उच्च प्राचीन सभ्यता को छिपाने के लिये पश्चिमी इतिहासकारों ने पाषाणयुग (जिस जमाने में मनुष्य अपने समस्त कार्य पत्थरों के द्वारा ही किया करता था, लोहा आदि धातुओं का प्रयोग करना जानता भी न था, अतएव युद्ध करने के अस्त्र शस्त्र तथा व्यवहार के कुल्हाड़ी, बसूला आदि पत्थर की ही बना काम चलाया जाता था), धातु युग (पाषाण युग से कुछ उन्नति करके जिस युग में मनुष्य ने लोहे पीतल आदि धातुओं की विशेषता जान कर अस्त्र शस्त्र, अपने खाने पीने के बर्तन, चाकू, कुल्हाड़ी आदि चीजें लोहे, पीतल, ताम्बे आदि धातुओं की बनानी आरम्भ कीं), विज्ञान युग आदि की कल्पना भारतदेश के लिये भी कर डाली है, उनके लिखे अनुसार लगभग ढाई तीन हजार वर्ष पहले मध्य एशिया से आर्य लोग भारत में आये और उन्होंने अपने पराक्रम से भारत आदिवासियों को जीत कर यहाँ पर सभ्यता फैलाई। ये सब बातें भारत के प्राचीन महत्वशाली गौरव को गिराने के लिये अन्य देश के विद्वानों ने कपोल-कल्पित कर डाली हैं।

भारत देश में जङ्गली लोगों (भील आदि) को छोड़ कर शेष सभी नगर निवासी लोग हजारों लाखों वर्ष पहले से बहुत सभ्य, शिक्षित तथा सुवर्ण चांदी, रत्न, तांबा, लोहा आदि धातुओं के अच्छे निपुण जानकार थे और उन धातुओं का मौलिक सुन्दर व्यवहार जानते थे। रत्न जड़ित सुवर्ण भूषण बनाने पहनने की पद्धति तथा सुवर्ण चांदी तांबे के बर्तन बनाने की प्रणाली एवं लोहे के अस्त्र शस्त्र आदि बनाने की प्रथा और सुन्दर भवन, सड़क, मूर्तियाँ आदि बनाने की स्थापत्य कला भारत में तब से प्रचलित हैं जहाँ तक कि आज का इतिहास भी नहीं पहुच पाता है। इतिहास ने मुहनजेदारो की खुदाई से प्राप्त हुए पदार्थों की पडताल करके लगभग साढ़े पाँच हजार वर्ष पहले ऐतिहासिक विवरण एकत्रित किये हैं। वे विवरण भी इतिहास विशेषज्ञों को इसी परिणाम पर पहुंचाते हैं कि भारतवर्ष में पॉच हजार वर्ष पहले भी सुन्दर भवन बनाने की प्रणाली प्रचलित थी। वहां से प्राप्त अनेक सीलों (मुहरों)

के आधार से निश्चित होता है कि उस समय सिन्ध के प्रान्त में भी जैनधर्म का प्रचार था और भगवान् ऋषभनाथ की नग्न मूर्ति पूजी जाती थी।

अब विदेशी इतिहासकार स्वयं असमञ्जस में है कि ढाई हजार वर्ष पहले मध्य एशिया-वासी आर्यों द्वारा भारत में सभ्यता फैलाने की कल्पना को संसार के सामने किस तरह से सत्य प्रमाणित किया जावे ?

कुतुब मीनार के पास गड़े हुए विशाल लोह स्तम्भ को देखकर यूरोप के विद्वान् चकित रह जाते हैं कि भारतवर्ष में ऐसा अच्छा फौलादी लोहा (इस्पात) तैयार करने की विधि बहुत पहले समय से प्रचलित थी और इतने बड़े खम्भों को ढालने की सुन्दर प्रक्रिया भी भारतीय कारीगरों को ज्ञात थी।

खेद इस बात का है कि गत ८०० वर्ष की परतन्त्रता ने भारतीय विद्वानों के मस्तिष्क को भी परतन्त्र बना दिया है अतः वे भी विदेशी ईर्ष्यालु इतिहासकारो की कल्पित कल्पना की प्रचण्ड धारा में बह कर भारत के प्राचीन गौरव से अनभिज्ञ बन गये हैं। भारत अब स्वतन्त्र है अब भारतीय विद्वानों को स्वतन्त्र स्वच्छ मस्तिष्क से भारत के प्राचीन गौरव की खोज भारत के प्राचीन इतिहास ग्रन्थों के आधार से करनी चाहिये।

भारत में करोड़ों वर्ष पहले भगवान् ऋषभनाथ हुए हैं, उन्होंने अपने दिव्य ज्ञान से अपनी समकालीन जनता को विविध कला कौशल सिखलाये थे जिसमें राजनीति, मल्ल विद्या, युद्ध कला, खेती बाड़ी, व्यापार, अक्षर विद्या, अंक विद्या, नाट्यकला आदि गर्भित हैं। उन्होंने अपनी ब्राह्मी पुत्री को 'अकरन' आदि स्वर व्यञ्जन रूप लिपि विद्या का परिज्ञान कराया, उसी ब्राह्मी के नाम पर प्राचीन लिपि का नाम 'ब्राह्मी लिपि' था। अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को अपने बाएँ हाथ से १-२-३-४-५ आदि अंक लिखकर अंकविद्या सिखलाई थी, दाईं ओर गोद में बैठी हुई सुन्दरी को अपने बाएँ हाथ से अंक लिखकर गणित शास्त्र का परिज्ञान कराया था इसी कारण अंकों को अक्षर लिखने की प्रणाली से भिन्न बाईं ओर से लिखे जाने की पद्धति प्रचलित है।

भगवान ऋषभनाथ ने अपने बड़े पुत्र भरत को नाट्यकला सिखाई थी, आज भी नाट्यकला का आद्यसूत्रधार भरत को माना जाता है। वह पहला चक्रवर्ती राजा हुआ उसी के नाम पर भरतक्षेत्र तथा 'भारत' नाम देश का प्रचार हुआ, उन्होंने अपने पुत्र बाहुबली को मल्लविद्या सिखाई थी, वह बड़ा पहलवान था, उसने अखाड़े में उतर कर बड़े भाई भरत चक्रवर्ती को भी कुश्ती में हरा दिया था। जब वह संसार से विरक्त होकर कठोर साधु बना तब एक वर्ष तक एक आसन से खड़े होकर उसने निराहार रह कर कठोर तपस्या की। इतना बड़ा तपस्वी आज तक इतिहास में कोई नहीं मिलता। वह कैसा वीर तपस्वी था इसकी आकृति श्रवणबेलगोला की ५७ फुट ऊंची मूर्ति से आंकी जा सकती है जिसे कि गोम्मटेश्वर कहते हैं। भगवान् ऋषभनाथ की ८६ फुट ऊंची एक प्रतिमा बड़वानी में पर्वत के ऊपर है।

भगवान् ऋषभनाथ के पीछे अजितनाथ, संभवनाथ आदि २३ तीर्थंकर हुए हैं। २० वें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथ हुए हैं उनके समय में राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र लक्ष्मण हुए हैं। राम की पत्नी सीता का अपहरण लंकापति रावण ने किया था इसी कारण राम लक्ष्मण का विश्व विख्यात युद्ध रावण

के साथ हुआ था।

२२ वें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ शोरीपुर के राजा समुद्रविजय के पुत्र और कृष्ण के चचेरे भाई थे, इनके समय में कौरव पांडवों का महायुद्ध हुआ था। युधिष्ठिर ने उन्हीं दिनों में एक नया नगर बसाया था जिसका नाम उस समय 'इन्द्रप्रस्थ' था वह 'इन्द्रप्रस्थ' यही दिल्ली नगर है। यहाँ पर प्राचीन ऐतिहासिक बहुत सी इमारतें पाई जाती हैं उनमें से एक प्राचीन किले को पांडवो का किला कहा जाता है।

भगवान नेमिनाथ के बाद भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर क्रमश. २३वें २४वें तीर्थंकर हुए हैं जिनका कि समर्थन आधुनिक इतिहास भी करता है।

अयोध्या, काशी, उज्जैन, हस्तिनापुर आदि नगर बहुत प्राचीन समय से बनते बिगडते चले आ रहे हैं। पांचाल (पजाब), बंग (बंगाल), कलिंग, सौराष्ट्र आदि प्रान्त भी भारत में प्राचीन समय से हैं, इस तरह भारतीय सभ्यता की जड़े बहुत प्राचीन हैं। अतः हमको विदेशी इतिहासकारों की भ्रामक बातों में आकर भारत की संस्कृति कुछ थोड़े समय से ही न समझ बैठना चाहिए।

हां तो यह दिल्ली नगर भी बहुत प्राचीन है, पुराना नाम इसका बदल गया है किन्तु स्थान वही है। दिल्ली पहले से ही राजधानी के रूप में रही आयी है। वीर पृथ्वीराज चौहान का राजसिंहासन दिल्ली में ही था, मुगलबादशाहों ने भी दिल्ली को ही राजधानी बनाया था। अंग्रेजी शासन की गद्दी भी दिल्ली में रही और अब स्वतन्त्र भारत की राजधानी भी दिल्ली ही है। इस तरह दिल्ली में अनेक सिंहासन जमे और अनेक उखड़े। सात बार दिल्ली उजड़ी और सात बार बसी।

जब शाहजहाँ बादशाह राज्य करता था तब उस ने यहा पर लालकिला और जुम्मा मसजिद बनवाई, उसी समय एक धार्मिक जैन सरकारी अधिकारी ने लालकिले के सामने यह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक लाल मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर के द्वार पर प्रतिदिन प्रात: शाम को नगाडा (नौबत) बजा करता था। बादशाह ने नगाडा न बजाने की आज्ञा दी। बादशाही हुक्म को न मानकर नगाड़ा बजाने वाले मनुष्य को मना कर दिया गया, परन्तु आश्चर्य के साथ सबने दूसरे दिन देखा कि मन्दिर के द्वार पर नगाडा बिना किसी मनुष्य के बजाए अपने आप बजने लगा। यह चमत्कार स्वय बादशाह ने भी देखा और कानों से नगाड़े की ध्वनि सुनी। तब उसने नगाडे बजाने की आज्ञा दे दी। इस तरह यह लालमन्दिर प्रारम्भ से ही महत्वशाली रहा है। राज-क्रान्तिया में यह मन्दिर अक्षुण्ण रह आया। इस समय भी यह मन्दिर अन्य मन्दिरों की अपेक्षा अधिक धर्मसाधन का स्थान बना हुआ है।

दिल्ली नगर जैन संस्कृति का केन्द्र रहता आया है। आप को ज्ञात होगा कि विक्रम सवत की १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिल्ली में एक प्रभावशाली दिगम्बर मुनिवर महासेन पधारे, समस्त जैन जैनेतर जनता उनके दर्शन के लिये उमड पड़ी, वे अच्छे महात्मा थे, बड़े तेजस्वी थे, महान् विद्वान् थे, समस्त जनता उन पर मुग्ध थी। उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई।

भारत में मुसलमानी राज्य जम चुका था। उस समय के बादशाह ने भी मुनि महासेन की प्रशंसा सुनी, उनके महत्व से आकर्षित हो कर वह मुनि महाराज के दर्शनार्थ आया और मुनि महाराज के दर्शन करके बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न हुआ।

बादशाह की बेगमों ने जब मुनि महाराज की प्रशंसा सुनी तो उनको भी मुनि महाराज के दर्शन करने की उत्कण्ठा हुई। बादशाह ने मुनि महाराज से निवेदन किया कि 'महाराज! हमारी बेगमें आप के दर्शन करना चाहती हैं आप थोड़ी देर के लिये थोड़ा सा कपड़ा पहन लीजिये।' मुनि महाराज ने ऐसा करना स्वीकार न किया। तब बादशाह ने कहा कि महाराज अब नग्न घूमने का जमाना नहीं रहा है, न किसी को नंगा घूमने दिया जायगा।

बादशाह कह कर चला गया। मुनि महाराज ने विचार किया कि इस जमाने में दिगम्बर मुनि चर्या असंभव है, अतः उन्होंने जैनसंघ की रक्षा के लिये अपने शिष्य को कपड़े पहन कर जैन गुरु बनने का आदेश दिया और आप तपस्या करने निर्जन बन में चले गये।

इस तरह महासेन के शिष्य ने समय का भयानक रूप देखकर वस्त्र पहने और वह पहला भट्टारक बना। इस प्रकार भट्टारक की गद्दी सब से प्रथम दिल्ली में स्थापित हुई थी।

भट्टारक पहले अच्छे विद्वान्, मन्त्रवादी और बाल ब्रह्मचारी होते थे। अनेक प्रकार के चमत्कार दिखलाकर जैनधर्म की सुरक्षा और प्रभावना किया करते थे।

श्री बा० वृन्दावनदास जी ने ऐतिहासिक घटना के आधार पर गुरु-अष्टकमें एक पद्य लिखा है—

श्रीमत् अभयनन्दि गुरु सों जब दिल्लीपति इमि कही पुकार,
कै तुम मोहि दिखावहु अतिशय कै पकरौ मेरो मत सार।
तब गुरु प्रगटि अलौकिक अतिशय तुरत हरौ ताकौ मद भार,
सो गुरुदेव बसौ उर मेरे विघन हरन मंगल करतार॥

यानी—दिल्ली के बादशाह ने श्री अभयनन्दि मुनि से हठ के साथ यह बात कही 'या तो आप मुझ को बड़ा भारी चमत्कार दिखलावें अन्यथा आपको मुसलमान बनना पड़ेगा। तब अभयनन्दि महाराज ने उस बादशाह को अनेक चमत्कार दिखलाये और बादशाह को लज्जित किया।

इससे ज्ञात होता है कि श्री अभयनन्दि मुनि ने भी बादशाही जमाने में जैनधर्म की सुरक्षा और प्रभावना की है।

यहां का नया मंदिर स्व० राजा सुगनचन्द जी ने बनवाया है कितनी उदारता के साथ उस मन्दिर का कलापूर्ण निर्माण हुआ है यह वेदी की सूक्ष्म पच्चीकारी से जाना जा सकता है। वेदी की गन्ध-कुटी के नीचे बने सिंहों की मूंछ के काले बालों जैसी बारीक महत्वपूर्ण पच्चीकारी तो ताजमहल में भी नहीं पाई जाती। इन्होंने एक लाख रुपये की लागत का विशाल मन्दिर हस्तिनापुर में भी बनवाया। यहां के पंचायती मन्दिर के शास्त्र भडार में अनेक- महत्वपूर्ण ग्रन्थ विद्यमान हैं इस तरह दिल्ली नगर जैन संस्कृति के लिये प्राचीन समय से महत्वपूर्ण रहा है।

प्रवचन नं० ४३

स्थान.— तिथि:—

श्री दिगम्बर जैन नयामन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली। श्रावण कृष्णा १४ सोमवार, १८ जुलाई १६५५

उद्योग का महत्त्व

यह ठीक है भवितव्य घटना होकर रहती है उसको किसी तरह टाला नहीं जा सकता। राम और सीता का विवाह कितना अच्छा योग देखकर किया। राम जैसे पराक्रमी, नीति निपुण वर और गुणवती सती सुन्दरी सीता जैसी कन्या का योग सुवर्ण की अंगूठी में हीरे का जड़ना जैसा अनुपम सुन्दर सयोग था। दोनों (वर कन्या) पक्ष के विचक्षण गणितज्ञ ज्योतिषी विद्वानों ने वर कन्या की जन्म कुण्डली देखकर विवाह का शुभमुहूर्त निकला, बडे आनन्द और धूम धाम से विवाह सम्पन्न हुआ किन्तु दुर्दैव की काली रेखा को कोई भी ज्योतिषी न देख सका। राम और सीता का जीवन शारीरिक मानसिक विपत्तियों से जर्जरित होता रहा, कुछ देर उन्हें कुछ सुख मिला तो कुछ देर बाद उन पर कोई विपत्ति आई, उस विपत्ति को जैसे तैसे पार करके सुख की निद्रा लेनी चाही, तो दूसरी विपत्ति ने उनको व्याकुल कर दिया।

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार राम के राज्याभिषेक का शुभ समय छांटा गया कि वह समय इतना अशुभ निकला कि अनिच्छा और विवशता (लाचारी) की दशा में राजा दशरथ द्वारा उन्हें १०-५ दिन या मास के लिये नहीं किन्तु १४ वर्ष के लिये वनवास की आज्ञा हुई। आज्ञानुसार राज सुखों में पले हुए राम, जिन्होंने कभी जमीन पर पैर न रक्खे थे, आश्रयहीन और सुख सुविधा विहीन जगलों में अपने यौवन के अमूल्य क्षण वनवासी भीलों के समान बिताने चल दिये। कोमलाङ्गी, असूर्यम्पश्या (जिस ने कभी सूर्य भी नहीं देखा—यानी निरन्तर सुख में पली) नवयुवती सीता भी कंकरीली कंटीली ऊबड खाबड़ वन पर्वतों की भूमि में शरीर की छाया की तरह अपने राम के साथ चली। पति पत्नी के पारस्परिक प्रेम का कितना सुन्दर नमूना है।

वहाँ वन में भी अभाग्य ने उन्हें चैन न लेने दी, लंकापति राक्षस कुलपति धर्मात्मा रावण ही सीता पर आसक्त होकर अन्यायी अधर्मात्मा बन गया और छल बल से सीता का अपहरण करके ले गया। सीता और राम दोनों एक नई आपत्ति में पड़ गए। बड़े प्रयास के साथ महान् युद्ध करने के उपरान्त सीता राम को प्राप्त हुई उधर बनवास की दीर्घ अवधि समाप्त हुई। अयोध्या में पति पत्नी उत्साह से आये, उत्साह व आनन्द के वातावरण में राज्याभिषेक-पूर्वक राजा रानी बने किन्तु अशुभ कर्म यह भी न देख सका। दुष्ट मूर्ख लोगों ने काना फूंसी प्रारम्भ कर दी कि रावण के घर में बहुत दिन रहकर सीता का सतीत्व कैसे रहा होगा, रावण ने उस अपमानित करके या सीता की इच्छा से उसका सतीत्व भंग अवश्य किया होगा, ऐसी परगृहवासिनी स्त्री को पुनः अपने घर में रखना राम राजा के लिये उचित नहीं, इस तरह तो उनका उदाहरण लेकर प्रजा में व्यभिचार फैल जायगा।

प्रजाजनों की अनुचित कानाफूंसी सुनकर धीर वीर राम का मन फिर दहल गया और अपने कारण फैलने वाले अनाचार तथा अपवाद को रोकने के लिये निर्दोष, पतिपरायणा, प्राणप्रिया गर्भिणी सती सीता को तीर्थयात्रा का झूठा बहाना बनाकर निराश्रय निर्जन भयानक बन में छुडवा दिया, जहाँ

सीता का करुणक्रन्दन सुनकर पशु पत्ती भी रोने लगे। प्रिय पत्नी के वियोग से राम का हृदय भी जर्जरित हो गया। कुछ समय बाद सीता की ऐसी अग्नि परीक्षा हुई जैसी अभी तक किसी की न हुई, जिस मे सीता उत्तीर्ण हुई। इस अन्तिम विपत्ति से सीता का मन संसार से इतना विरक्त हुआ कि वह फिर अनेक आग्रह, अनुनय विनय करने पर भी घर मे गई ही नहीं। पुत्रों, पति, देवर, सासु आदि से, विषय भोगों से मोह ममता का नाता तोड़ कर साध्वी हो गई और कठोर तपस्या करके अच्युत स्वर्ग की प्रतीन्द्र बन गई।

तरुण प्रिय भ्राता लक्ष्मण के असमय मरण का असह्य दुःख राम पर फिर चोट कर गया। इस तरह राम और सीता के विपत्तिमय जीवन से दैव की अटल शक्ति का परिचय मिल जाता है।

राजकुमारी अंजना को विवाह होते ही पति के रुष्ट होने से २२ वर्ष पति का प्रेम प्राप्त न हो सका, विधवा की तरह दुःख भोगना पड़ा, जब उसे क्षणिक पति-संयोग हुआ तो व्यभिचार की आशंका से सास ससुर ने घर से बाहर निकाल दिया। बेचारी रोती तड़फती पिता के घर पर आश्रय लेने गई तो दुर्भाग्य से माता पिता भी अपनी निर्दोष सती पुत्री के लिये निर्दय बन गये और उन्होंने भी आश्रय न दिया। अन्त में उस सुकुमारी राजकुमारी और युवराज पत्नी को बन पर्वतों ने ठहरने का स्थान दिया। यह घटना उस समय की है जब कि तद्भवमोक्षगामी महान् पराक्रमी हनुमान उसके गर्भ में थे। बेचारी ने अनेक चिन्ताओं और प्रसव वेदना से मूर्छित होकर निर्जन गुफा में हनुमान को जन्म दिया।

भगवान् ऋषभनाथ का गर्भोत्सव छह महीने पहले से देवों ने आकर मनाया, जन्म उत्सव और दीक्षा-उत्सव भी बड़ी धूमधाम से समस्त देवों ने अनुपम समारोह से मनाया। किन्तु जब ये भोजन चर्या के लिये निकले तब उन्हे लगातार छह मास तक अन्तराय होता रहा उस समय कोई भी देव उनकी सहायता करने न आया। भगवान् पार्श्वनाथ के आत्म ध्यान करते समय कमठ बहुत देर तक महान् उपद्रव करता रहा, उसको किसी व्यक्ति ने आकर दूर न किया। धरणीन्द्र पद्मावती बहुत देर पीछे आये।

नारायण महाबली कृष्ण का जन्म बन्दीघर (कैदखाने) में हुआ, उस समय किसी ने भी मंगल गीत न गाये बल्कि उनको छिपा कर रात्रि में ही गोकुल पहुंचाया गया। जब द्वीपायन मुनि ने द्वारिका भस्म की तब बलभद्र और नारायण कृष्ण उस अग्नि को न बुझा सके अपने वृद्ध माता पिता का भी उस अग्नि से उद्धार न कर सके। अन्त में जब क्लान्त परिश्रान्त हो कर बन में पहुंचे तब अपने ही भाई जरत्कुमार के बाण से उनकी प्यासी दशा में मृत्यु हो गई, दो घूंट पानी भी न पी सके। त्रिखण्ड स्वामी का मृत्यु शोक मनाने वाला उन के वियोग में दो आंसू बहाने वाला भी बलभद्र के सिवाय और कोई न रहा।

महान् पराक्रमी भीम अर्जुन के सामने द्रोपदी का इतिहास प्रसिद्ध अपमान हुआ, उन्हें अज्ञात-वास में नौकर चाकर बनकर रहना पड़ा। जब संसार से विरक्त होकर उन्होंने आत्मध्यान के लिए समाधि लगाई तो उन के शत्रु ने लोहे के आभूषण अग्नि में लाल करके उनको पहना दिये जिससे उन के शरीर का चर्म, मांस, हड्डियाँ लकड़ी की तरह जल गईं। यह बात दूसरी है कि इस प्राणघातक उपसर्ग को सहन करके तीन भाइयों ने मुक्ति और दो भाइयों ने संसार का उच्च स्थान प्राप्त किया।

इस तरह की घटनायें संकेत करती हैं कि दैव (भाग्य-दुर्भाग्य) के सामने मनुष्य का बल वीर्य पराक्रम, पुरुषार्थ और बुद्धि व्यर्थ हो जाती है। उसे स्वप्न में भी जिन बातों का ख्याल नहीं होता वे सम्पत्ति और विपत्ति उसे स्वय अनायास अचानक आ खड़ी होती हैं। इसी सिद्धान्त को लेकर कवियों ने कवितायें बना डालीं कि—

जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी नहीं होय सयाने, काहे होत अधीरा रे॥

तथा—

विधि कर्म लिखो सो ही होय, मिटत नहीं मेटे से।

एवं च—

अजगर करै न चाकरी, करै सिह नहीं काम।
दास मलूका कह गये, सब के दाताराम॥

यानी—पुरुषार्थ करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं, भाग्य में जैसा कुछ होगा वैसा स्वय मिल जायगा। जिस के भाग्य में धन सम्पत्ति होती है उसको बिना कुछ परिश्रम किये छप्पर फाड़कर धन स्वयं प्राप्त हो जाता है और जिस के भाग्य में लक्ष्मी नहीं होती उसको जन्म भर कड़ी मिहनत करते रहने पर भी कुछ नहीं मिल पाता।

इस विषय में जैनधर्म का सिद्धान्त यह है कि यद्यपि सुख दु.ख, सम्पत्ति विपत्ति, धनिकता निर्धनता में मनुष्य का सौभाग्य दुर्भाग्य अन्तरग कारण है परन्तु इसके साथ ही उद्योग भी अवश्य होना चाहिए, उद्योग न होने पर सौभाग्य भी कभी कभी व्यर्थ चला जाता है।

यदि किसी मनुष्य को पुत्र उत्पन्न होना भाग्य में है तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पुत्र बिना कुछ उद्योग किये स्वय आजायगा। यदि भाग्य से भोजन मिलना है तो इसका यह अर्थ नहीं कि बिना हाथ पैर हिलाए, बिना मुँह चलाए अपने आप भूख मिट जायगी।

न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।

यानी—सोते हुए सिंह के मुख में मृग स्वयं नहीं चले जाते हैं, मृगों को पकड़ने के लिए सिंह को कुछ उद्यम करना पड़ता है।

जिस को हम भाग्य कहते हैं उसको भी तो उद्योग के द्वारा ही बनाया जाता है। हमने पूर्वभव में यदि शुभ कार्य किए थे, स्व-पर-उपकारी उद्योग किया था तो उस शुभ उद्योग के द्वारा हमने अपना सौभाग्य बनाया जिस ने कि वर्तमान भव में हमको सुख सम्पत्ति की सामग्री प्रदान की। इस भव में दुर्भाग्य जिन को दु:ख दे रहा है उन्होंने पूर्व भव में स्व-पर-दुःखदायक अशुभ कार्य करके यानी बुरा उद्योग करके दुर्भाग्य का निर्माण किया था। इस तरह सौभाग्य और दुर्भाग्य प्रत्येक जीव के अपनी ही पूर्व उद्योग का फल समझना चाहिए।

भगवान् ऋषभनाथ प्रथम तीर्थंकर थे, उसी भव से उनको मुक्ति अवश्य प्राप्त होनी थी, परन्तु वह मुक्ति उनको तब तक न मिल सकी जब तक कि उन्होंने समस्त गृह परिवार छोड़कर दीक्षा न ली। दीक्षा लेकर जब तक उन्होंने एक हज़ार वर्ष तक कठोर तपस्या करने का उद्यम न किया तब तक उनको केवलज्ञान नहीं हुआ।

भरत के परिणाम बहुत निर्मल थे इसी कारण वे गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी विरागी कहे जाते थे परन्तु उन्हें भी केवलज्ञान पाने के लिये उद्योग करना पड़ा, दीक्षा लेकर अन्तर्मुहूर्त तक आत्मध्यान करना पड़ा।

राम लक्ष्मण यदि भाग्य पर विश्वास किये बैठे रहते तो क्या उन्हें सीता मिल जाती? उन्होंने महान् यत्न करके महान् युद्ध किया तब लंका का अजेय दुर्ग तोड़ कर महाबली रावण का गर्व खर्व हुआ और सती सीता की प्राप्ति हुई।

कवि का कहना है—

उद्योगिनंपुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मी,
दैवेन देयमितिका पुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥

यानी—उद्योग करने वाले पुरुष सिंह को ही सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। 'भाग्य से सब कुछ मिलेगा।' यह बात निकम्मे मनुष्य कहा करते हैं। इस कारण भाग्य का भरोसा छोड़कर यथाशक्ति पुरुषार्थ करो। यदि पुरुषार्थ करने पर भी कार्य सिद्धि न हो तो फिर इसमें किस का दोष है? अर्थात्—किसी का नहीं।

आत्मा के ज्ञान, दर्शन, बल, वीर्य आदि गुणों का विकास भाग्य से कदापि नहीं, आत्मशुद्धि के लिये सदा उद्योग करना पड़ता है। भव्य जीव जब तक उद्यम न करे, तपस्या करके कर्म क्षय न करे तब तक आत्मा संसार सागर से पार नहीं हो पाता।

सांसारिक कार्य भी बिना उद्यम किये सिद्ध नहीं हुआ करते, लाभान्तराय के क्षयोपशम से लाभ भी तभी होता है जब तक कि व्यापार आदि उद्यम किया जावे, पढ़ने में बिना परिश्रम किये परीक्षा में सफलता नहीं मिलती।

कितनी सुन्दर शिक्षा है—

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थं न क्लीबा न च मायिनः।
न लोकापवाद्भीता न शश्वन्प्रतीक्षिणः॥

अर्थात्—आलसी लोग, नपुन्सक (पुरुषार्थ हीन, निकम्मे), मायाचारी, लोकापवाद से डरने वाले तथा सदा अवसर की प्रतीक्षा करने वाले मनुष्यों को सफलता प्राप्त नहीं होती।

अतः प्रत्येक मनुष्य को सदा उद्योगी बनना चाहिये, उद्योग कुछ अंश में सफल न हो तो हानि नहीं, कुछ न कुछ अंश में तो सफलता अवश्य मिलती है। भाग्य भी उद्योगी पुरुष की ही सहायता करता है।

प्रवचन नं० ४४

स्थानः— श्री दिगम्बर जैन नया मन्दिर धर्मपुरा, दिल्ली।

तिथिः— श्रावण कृष्णा १५ मंगलवार, १६ जुलाई १६५५

निर्विचिकित्सा

यह जगत् जड़ तथा चेतन पदार्थों का समुदाय रूप है। पदार्थों की सत्ता अनादिकाल से है तदनुसार जगत् भी अनादिकालीन है। सत्ताभूत पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता अतः सभी पदार्थ अविनाशी हैं यानी—अनन्तकाल तक रहेंगे। अर्थात् अनादि अनन्त है, न किसी खास समय में किसी के द्वारा इसका निर्माण हुआ है, न कोई इसका किसी समय समूल नाश कर सकता है।

जड़ पदार्थ ५ तरह के हैं १ पुद्गल (भौतिक पदार्थ Metter), २. धर्म (गतिशील जीव पुद्गलों को गमन करते समय उदासीन सहायक), ३ अधर्म (ठहरे हुए पदार्थों को ठहरने में उदासीन सहायक), ४. आकाश (सब पदार्थों को रहने के लिए स्थान देने वाला) और ५. काल (पदार्थों की दशा बदलने में उदासीन कारण)। इनमें से छूने, चखने, सूंघने, देखने तथा सुनने में आने वाला यानी इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ केवल पुद्गल है। पुद्गल में परमाणु (अखड सब से छोटा टुकड़ा) तथा बहुत से स्कन्ध (अनेक परमाणुओं के संयोग से बने हुये) तो इतने सूक्ष्म हैं कि वे किसी भी इन्द्रिय से नहीं जाने जाते। अनेक स्कन्ध ऐसे हैं जो किसी इन्द्रिय से ग्रहण होते हैं किन्तु अन्य इन्द्रियों से ग्रहण में नहीं आते।

शब्द सुनाई तो देता है किन्तु न दिखाई देता है, न सूंघने चखने में आता है। हवा छूने में आती है किन्तु देखने, सूंघने, चखने में नहीं आती। अनेक सुगन्धित दुर्गन्धित स्कन्ध सूंघने में आते हैं किन्तु दिखलाई नहीं पड़ते।

समस्त जीवों में पदार्थ की अपेक्षा यद्यपि समानता है यानी सभी जीवों में एक समान गुण विद्यमान हैं, परन्तु कर्म-आवरण के अनन्तानन्त जीवों में आत्मिक गुणों का विकास, छिपान अनन्तानन्त तरह का है। प्रायः एक जीव दूसरे से नहीं मिलता। स्वर्गवासी देव तथा नरक निवासी नारकियों के सिवाय संसारी जीव दो जातियों में विभक्त हैं, पशु और मनुष्य। इनमें से मनुष्य साधारणतया एक तरह के हैं, त्वचा (स्पर्शन-चमड़ा), जीभ, नाक, आँख, कान तथा मन सभी मनुष्यों के पाया जाता है, तदनुसार समझ बूझ आदि स्वभाव भी प्रायः उनमें एक समान देखने में आता है किन्तु विभिन्न देशों और जातियों की अपेक्षा उनके रहन सहन, खान पान, बोल चाल आदि बातों में बहुत अन्तर देखा जाता है, अफ्रीका के हब्शी, काश्मीर के काश्मीरी, आसाम के नागा और न्यूगिनी आदि वासियों में परस्पर रंग रूप, आकार प्रकार, स्वभाव, वेष भूषा आदि में महान् अन्तर पाया जाता है फिर भी वायुयान, जलयान, वायरलैस, रेडियो आदि अनेक आधुनिक नवीन साधन इतने विकसित हो गये हैं, तथा प्रत्येक देश के मूल निवासी असभ्य मनुष्यों को सभ्य शिक्षित बनाने के प्रयत्न हो रहे हैं, अन्य देशों की भाषा, लिपि, रीति-रिवाज सीखने आदि की योजना बढ़ती जा रही है, अतः ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ वर्षों में मनुष्यों का यह आपसी अन्तर बहुत कुछ दूर हो जायगा जैसे कि आजकल

भारतीय, अमेरिकन, अंग्रेज, चीनी आदि आपस में एक दूसरे के निकट आते जा रहे हैं, हिन्दी भाषा, संस्कृत भाषा, देवनागरी लिपि अन्य देशों में सिखाई जा रही है और अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं का अध्ययन भारत में हो रहा है। अपना जाना तो इतना सरल होता जा रहा है कि निकट भविष्य में एक मनुष्य भारत से इङ्गलैंड कुछ घंटों में ही पहुँच जाया करेगा। इन सब बातों से मनुष्यों की आपसी विभिन्नता, घृणा आदि में कमी होने की सम्भावना है।

पशुओं में तो परस्पर असख्य भेद हैं। कीड़े, मकोड़े, वृक्ष, चौपाये, दुपाये, पशु, पक्षी, जलचर, थलचर, नभचर, जगली, पालतू आदि तिर्यञ्चों में आपसी स्वभाव नेस्ती, आकार प्रकार आदि का महान् अन्तर है इसको मिटा कर एक पंक्ति पर ला सकना असंभव है। हाथी, सिंह, बकरी, बनमानुष, मगर, मछली, कबूतर, बिल्ली, चूहे, हिरण को एक स्वभाव में किस तरह लाया जा सकता है ? फिर भी मनुष्य खोज तथा परीक्षण में लगे हुए हैं कि अनेक उपयोगी पालतू पशुओं के स्वभाव में कुछ मेल जोल पैदा किया जाय। विदेशों में ऐसे खोजी मनुष्यों ने बिल्लियों को ऐसा सिखाया सधाया है कि वे चूहों के साथ खेलती हैं, उन्हें खाती नहीं हैं।

भारत के प्राचीन ऋषि मुनि तपस्वी इतने प्रभावशाली, अहिंसक होते थे कि बिना सिखाये, सधाये ही जन्म से परस्पर विरोधी जीव गाय, शेर, बिल्ली, चूहा, सर्प, न्यौला आदि जानवर उनके निकट आते ही अहिंसक हो जाते थे, उनके सामने आकर प्रेम और शान्ति से बैठ जाते थे। एक दूसरे को मारते नहीं थे।

वास्तव में देखा जावे तो सभी जीवों में आत्मा एक समान है तो उनमें स्वभाव की समता लाना या आना असम्भव भी नहीं है। यदि हम ऊपरी रंग रूप, भेष, कद, भाषा आदि बातों पर न जाकर अन्तरग आत्मा का ख्याल रखें तो आपसी घृणा भेदभाव बहुत कुछ दूर हो सकता है। खेद यह है कि अन्य प्राणियों से अधिक ज्ञानवान मनुष्य प्राणी भी आत्मा का परीक्षक निरीक्षक न होकर केवल शारीरिक रंगरूप का परीक्षक निरीक्षक रह गया है इसी कारण अन्य जीवों की बात दूर रहे, मनुष्य ही आपस में घृणा करने लग गया है।

आध्यात्मिक उपदेश देते हुए विश्वहितङ्कर तीर्थङ्करों ने तथा उनके चरण चिन्हों पर चलने वाले ऋषि आचार्यों ने उपदेश दिया है कि आत्मा के गुणों का आदर, करो, शरीर के रंग रूप पर ध्यान मत दो। गुणियों, धार्मिकों तथा सच्चरित्र मनुष्यों के पवित्र गुणों का सन्मान करोगे तो तुम्हारे भीतर गुणों का विकास और वृद्धि होगी, यदि तुम आत्मा के गुणों पर दृष्टि न दोगे, गुणों की परीक्षा न करोगे, अच्छे गुणों से प्रेम न करोगे केवल इस जड़ शरीर की सुन्दरता पर ध्यान देकर आकर्षित होगे, और असुन्दर शरीर देख कर उससे नाक भौं सिकोड़ोगे, तो तुम चर्मकार (चमार) की तरह केवल चर्म परीक्षक ही रहोगे, गुण परीक्षक न बन सकोगे।

इसी कारण सच्चे आत्म-श्रद्धालु को आचरणीय जो आठ गुण बतलाये गये हैं उन में तीसरा गुण निर्विचिकित्सा है। जिसका अभिप्राय यह है कि संसार में सब पदार्थ अपने स्वरूप से परिणमन कर रहे हैं। जीव का परिणमन अपने ढंग से होता है, जड़ पदार्थों का अपने स्वभाव के अनुसार होता है।

किसी पदार्थ का रूप, रस, गन्ध, स्पर्श किसी तरह का है, किसी का किसी तरह का है, अतः किसी वस्तु को देखकर उससे घृणा करना व्यर्थ है। कोई वस्तु किसी दृष्टि से अच्छी मान ली जाती है और किसी अपेक्षा से कोई वस्तु बुरी घृणित समझ ली जाती है पर वास्तव में वह चीज न अच्छी है, न बुरी है। जैसी है वैसी है, अतः किसी भी वस्तु से घृणा (नफरत) करना गलती है।

इसी तरह यह भौतिक शरीर आत्मा नहीं है यह तो जड़ पदार्थ है, जीव तो इसके भीतर रहने वाला चेतन पदार्थ है। इस कारण शरीर के रूप रंग पर दृष्टि न रखकर उस शरीर में रहने वाले आत्मा के गुणों का विचार करो। साधु मुनि आरम्भ के त्यागी होने के कारण तथा शरीर से निःस्पृह होने के कारण जल से स्नान करके अपने शरीर को स्वच्छ सुन्दर बनाने की चेष्टा नहीं करते। अतः उनका शरीर गृहस्थ मनुष्यों की अपेक्षा मैला होता है तो गुणग्राही सम्यग्दृष्टी पुरुष को साधु मुनिराज के आध्यात्मिक तत्त्व की ओर दृष्टि रखकर उनका सन्मान विनय करना चाहिये, शरीर का मैल देखकर घृणा न करनी चाहिये।

शरीर तो रज वीर्य जैसे मैल से उत्पन्न हुआ है और रक्त, पीप, हड्डी, चर्बी, मल मूत्र, कफ, थूक आदि जिन पदार्थों से घृणा की जाती है वे सब घृणित पदार्थ इस शरीर में भरे हुए हैं तो शरीर के ऊपरी मैल से ही घृणा करना व्यर्थ है। एक कल्पित कथा यों है कि—

एक बच्चे ने एक अच्छे स्थान पर टट्टी कर दी। उस बच्चे की माता उस टट्टी को वहाँ से उठाने लगी तो वह टट्टी उस स्त्री से बोली कि, 'सावधान अपने गन्दे हाथ मुझ से न लगाना।' टट्टी की बात सुनकर स्त्री मुस्कराई और टट्टी से बोली 'गन्दी मैं हूँ या तू।' टट्टी ने उस स्त्री को उत्तर दिया कि 'तू गन्दी है।' स्त्री ने पूछा कैसे?

तो टट्टी ने उत्तर दिया 'तुझे याद नहीं है?' कल मैं स्वच्छ सुन्दर सुगन्धित सफेद दूध के रूप में थी, तूने अपने बच्चे को मुझे (दूध को) पिला दिया, उस तेरे बच्चे के पेट में थोड़ी देर रहने से मेरी यह दुर्दशा हुई है। अब तू फिर मुझे हाथ लगाने आई है, पता नहीं अब तेरा दुबारा हाथ लगने से मेरी और कितनी बुरी हालत हो जायेगी।'

स्त्री अपने बच्चे की टट्टी की ठीक युक्ति पूर्ण बात सुनकर चुप रह गई।

साराश यह है कि बाहर सुन्दर दीखने वाला भी शरीर है तो वास्तव में मल मूत्र का भण्डार ही ऊपरी चमक दमक से शरीर का भीतरी मैल थोड़ा ही अच्छा दर्शनीय या स्पृहणीय हो सकता है, अतः धर्मात्मा के शरीर को क्या देखते हो, धर्मात्मा के सुन्दर अनुकरणीय गुणों की ओर देखो जिस से तुम्हारे भीतर भी वैसे गुणों के ग्रहण करने की भावना उत्पन्न हो। आत्मा का कल्याण शरीर की सुन्दरता देखकर प्रसन्न होने तथा शरीर को मैला देखकर घृणा करने से नहीं है, आत्मा का कल्याण तो आत्मा के गुणों का अनुकरण करने से है, अतः मुनियों से घृणा न करो।

श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने समय में सबसे अधिक सुन्दर मनुष्य थे, उनके सौन्दर्य की चर्चा इन्द्रसभा में भी हुई। तब सनत्कुमार की सुन्दरता देखने के लिए स्वर्ग से देव आये। उस समय सनत्कुमार अखाड़े में व्यायाम (कसरत) कर रहे थे, उनके शरीर से अखाड़े की धूल मिट्टी लगी हुई

थी, फिर भी उनके सुडोल शरीर की सुन्दरता चमक रही थी। दोनों देवों ने सनत्कुमार चक्री के उस धूलि धूसरित शरीर को देखकर दांतों तले उगली दबाई और मान लिया कि वास्तव में सनत्कुमार उतने ही सुन्दर है जितनी कि उनके सौन्दर्य की प्रशंसा लोक में फैल रही है।

मनुष्याकार देवों को देखकर सनत्कुमार ने पूछा कि भाई ! तुम कौन हो और यहाँ किस लिये आये हो ?

देवों ने उत्तर दिया कि हम देव हैं, आपके सौन्दर्य की प्रशसा सुनकर यहाँ पर आपकी सुन्दरता देखने आये हैं। यहाँ आपको देखकर आपकी सुन्दरता उसी प्रशंसा के अनुसार सत्य पाई है।

सनत्कुमार चक्रवर्ती को देवों की बात सुनकर अपनी सुन्दरता का अपने मन में बहुत अभिमान हुआ, उसने देवों से कहा कि मेरी सुन्दरता अभी क्या देखते हो कुछ देर पीछे जब मैं तुम को बुलाऊँ तब आकर देखना। इतना कहकर सनत्कुमार ने देवों को अतिथि भवन में ठहरा दिया, और स्वयं अखाड़े से बाहर आकर स्नान करने चला गया।

उस दिन सनत्कुमार अपने शरीर की खूबसूरती देवों को दिखाने के लिये खूब उबटन तेल से मल मल कर नहाया, अच्छे सुगन्धित तेल फुलेल लगाये, सुन्दर सुगन्धित लेप लगाये और सब से अच्छे चमकदार भड़कीले सुन्दर वस्त्र पहने, तदनन्तर रत्नमय हार, कुण्डल, मुकुट, अंगूठी आदि आभूषण पहन कर सिंहासन पर जा बैठा। तब उसने अपनी सुन्दरता दिखाने के लिये उन आगन्तुक देवों को अपने पास बुलाया।

देव बड़ी उत्कंठा से सनत्कुमार के शारीरिक सौन्दर्य देखने के लिये राजसभा में आये। उन्होंने जब अबकी बार सनत्कुमार को देखा तो उसमें पहले जैसी सुन्दरता न पाई तब वे मस्तक धुनने लगे। चक्रवर्ती ने आश्चर्य के साथ पूछा कि 'क्यों क्या हो गया, उदास क्यों हो गये।'

देवों ने उत्तर दिया कि जो सुन्दरता आपके शरीर में अखाड़े मे देखी थी वह सुन्दरता अब नहीं रही. उसमें कमी आ गई है। चक्रवर्ती ने कहा कि तुम्हारी बात ठीक नहीं मालूम होती. मेरी सुन्दरता तो पहले से अधिक होनी चाहिये। देवों ने पानी का लबालब भरा हुआ एक घड़ा मंगाकर चक्रवर्तीके सामने रख दिया और उसमें से क्रमश कुछ बूंद पानी निकाल कर चक्रवर्ती से पूछा कि बताओ घड़ा कुछ खाली हुआ है ? चक्रवर्ती ने कहा कि नहीं घड़े का जल तो उतना हो दोख रहा है। देवों ने कहा कि कुछ बूंदें पानी की घट जाने पर जैसे तुझे घड़े में जल को कमी ज्ञात नहीं होती उसी तरह अपनी सुन्दरता की थोड़ी कमी भी तुझे अनुभव नहीं होती।

शरीर के सौन्दर्य की यह अस्थिरता समझकर मुनि के मलिन शरीर को देखकर घृणा न करनी चाहिये। यह निर्विचिकित्सा गुण है।

प्रवचन नं० ४५

स्थान — तिथि:—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। श्रावण शुक्ला १ बुधवार, २० जुलाई १९५५

निष्काम सेवा

यह महान जगत् अनन्त पदार्थों के सहयोग से बना है, बिखरे हुए भी धूलिकण जब जल का संयोग पा जाते है तब मिट्टी का रूप धारण करके बडे बडे भवन बना देते है, प्यास बुझाने के लिए सुन्दर घडा बन जाते हैं, अन्न उत्पादन के लिए खेत की मिट्टी बन जाते हैं। आकाश से गिरने वाली एक एक बिन्दु मिलकर नदी, झील, समुद्र का रूप धारण कर लेते हैं। बिखरे हुए अणु मिलकर ऊँचे पर्वतों फैले हुए वनों और विस्तृत पृथ्वी का रूप धारण कर लेते हैं जो कि असख्य जीवों तथा जड़ पदार्थों के ठहरने का आधार बन जाती है।

मनुष्यों पशु पक्षियों तथा अन्य समस्त कीडों मकोड़ों यहाँ तक कि वृक्षों के लिए प्रतिक्षण श्वास द्वारा जीवन सुरक्षित रखने वाली वायु किसी से भी बिना कुछ मूल्य लेकर सब की सेवा करती है। यदि वायु एक घण्टे भर भी जीवों को न मिले तो कोई भी प्राणी जीवित न बचे, साँस घुटकर तुरन्त मर जावें। वायु यदि हजार रुपये तोले बिके तो भी मनुष्य को अवश्य लेनी पड़े किन्तु वह वायु बिना कुछ लिए समस्त प्राणियों की निष्काम (बिना कुछ बदला चाहे) सेवा करती है।

जल जो कि समस्त मनुष्यों, पशु पक्षियों, वृक्षों आदि का जीवन आधार है, बिना जल के न अन्न उत्पन्न हो सकता है, न वृक्ष फल फूल सकते हैं, न जगत् के अन्य अनेक आवश्यक कार्य हो सकते हैं, सब की प्यास और सन्ताप मिटाने वाला तो जल ही है, वह जल भी सब किसी की निष्काम सेवा करता है, किसी से कुछ नहीं लेता और जो भी पीने, नहाने, धोने, सींचने की सेवा लेना चाहो उससे इन्कार नहीं करता।

वृक्ष स्वयं धूप सहते हैं किन्तु अपने नीचे बैठने वाले को गर्मियों के दिन में शीतल छाया और सर्दियों में रात्रि समय गर्म छाया देते हैं। अपने मधुर फल, सुगन्धित पुष्प, कोमल पत्ते सब किसी को दे डालते है जिन से अनेक प्राणी अपनी भूख मिटाते है, अपना चर्म (छाल) देकर अनेक उपयोगी उपकार कर देते है, यहाँ तक कि अपना सारा शरीर (लकड़ी) जलाकर मनुष्य का भोजन बना देते हैं शर्दियों में ठंडक दूर कर देते हैं। उनके फल, फूल, पत्ते, छाल, लकड़ी आदि प्रत्येक अंश विविध औषधियों के रूप में मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के अनेक रोगों को अच्छा कर देते हैं। इन सेवाओं के बदले में वृक्ष मनुष्य से लेशमात्र भी बदला नहीं चाहते। इस तरह जीवन भर हरे भरे रहकर और सूखकर मर जाने पर भी जगत् की निष्काम सेवा करने वाले वृक्ष जगत् का आधार बने हुए हैं।

पृथ्वी को कोई रौंदता है, कोई कूटता है, कोई खोदता है, कोई उसपर मल मूत्र करता है, कोई उसका हृदय विदारण करके उसके अमूल्य खनिज पदार्थ निकाल लेता है, कोई उस पर ऊँचे ऊँचे भारी मकान बनाता है तो कोई उसपर सडक बनाता है, कोई उसपर आग जलाता है, परन्तु पृथ्वी किसी को कुछ नहीं कहती, समस्त कष्ट सहकर भी किसी का कुछ अहित नहीं करती समस्त जीवों को

तथा जड़ पदार्थों को अपने ऊपर ठहराये हुए है। इसके बदले में पृथ्वी ने न किसी से कुछ माँगा और न किसी ने उस को कुछ दिया। वह सब की निष्काम सेवा करती है।

अग्नि भी मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के जीव का सहारा है। यदि अग्नि न हो तो समस्त प्राणी ठंडक से सिकुड कर या अकड कर मौत के मुख में चले जावें, गर्मी भी जीवन के लिये अति उपयोगी है। शरीर की गर्मी समाप्त होते ही शरीर की जीवन शक्ति विदा हो जाती है, रेल तथा कारखानों के चलाने में, भोजन पकाने में, धातुओं को गलाने में, कूडा कर्कट जलाने में अग्नि ही काम आती है। वह अग्नि भी बिना कुछ मूल्य लिये सब की सेवा करती है।

सूर्य चन्द्र का प्रकाश, धूप, चाँदनी भी प्राणियों के जीवन का आधार है, धूप फलों अनाजों को पकाती है, सीलन को सुखाती है, अनेक रोगों को उत्पन्न होने से रोकती है, जगत् को प्रकाश और गर्मी प्रदान करती है। चान्दनी रात्रि को प्रकाश करती है, औषधियों में रस की वृद्धि करती है, रात्रि में सूर्य के अभाव की पूर्ति करती है। ये प्रकाश, धूप, चाँदनी की अमूल्य सेवायें भी हमको बिना कुछ दिये लिये बिना मूल्य प्राप्त होती हैं।

इस जीवन के लिये अनिवार्य आधारभूत वायु, जल, भोजन, गर्मी और प्रकाश ये पाँचों चीजें मनुष्य को प्रकृति स्वयं बिना मूल्य प्रदान करती है।

माता अपने पुत्र की कितनी सेवा करती है, कदाचित् स्वय भूखी रह जावे परन्तु अपने पुत्र को अपना दूध पिला कर उसे भूखा नहीं रहने देती। रात को बिछौनों पर जब उसका पुत्र पेशाब करके बिछौने गीले कर देता है तब वह उसे सूखे बिछौने पर सुला देती है आप स्वयं गीले पर लेट जाती है। बच्चे को जरा सा कोई रोग या कष्ट होता है तो वह रात भर जागती रहती है। माता पुत्र की कितनी सेवा करती है। इसका अनुमान आप निम्नलिखित पद्य से लगा सकते है—

एक हिरणी को जाल बिछा कर एक शिकारी ने पकड़ लिया तब वह हिरणी शिकारी से कहती है कि—

आदाय मांममखिलं स्तनवर्जमङ्गात्,
मां मुञ्च वागुरिक यामि कुरु प्रसादम्।
अद्यापि शस्यकवलग्रहणानभिज्ञाः,
मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः॥

भावार्थ:—हे शिकारी! तू मेरे दूध भरे स्तनों को छोड़ कर शेष सब मेरे शरीर का मांस ले ले और कृपा करके मुझे जाने दे, मेरे दुधमुहे मेरे आने की प्रतीक्षा कर रहे होंगे, क्योंकि वे अभी तक घास खाना नहीं जानते। मैं उन्हें जाकर दूध पिलाऊँगी।

अपनी सन्तान के लिये माता की अनुपम निष्काम सेवा कवि ने उक्त श्लोक में हिरणी के वचन द्वारा रख दी है। इसी कारण नीतिकार ने कहा है—

मातृपितृसमं तीर्थं विद्यते न जगत्त्रये।
यतः प्राप्नोति सुलभो नृभवः शिवशर्मदः ॥

यानी—माता पिता के समान मनुष्य के लिये दूसरा कोई तीर्थ नहीं है। क्योंकि माता पिता से मुक्ति सुख तक देने वाला मानव शरीर प्राप्त होता है।

विश्व-उद्धारक तीर्थङ्कर भगवान् का जगत् हितकारी दिव्य-उपदेश बिना किसी के आग्रह, अनुरोध तथा अनुनय विनय के स्वयं होता है। उनकी इतनी इच्छा भी नहीं होती कि जनता हमको वन्दना नमस्कार करे, हमारा यश-विस्तार करे।

तीर्थङ्करों के अनुयायी गणधर, श्रुतकेवली आचार्य, मुनि आदि भी तीर्थंकर देव का अनुकरण करके समस्त संसार में बिना किसी लालसा इच्छा के धर्म प्रचार करते रहते हैं। थोड़ा-सा रूखा सूखा भोजन वह भी दिन में एक बार और वह भी कभी कभी लेकर अपना समस्त समय जनता के कल्याण में लगाते रहते हैं।

उनके इसी महान् उपकार से आभारी होकर समस्त संसार उनके चरणों में शिर झुकाता है और उनकी बिना इच्छा तथा सकेत के उनका निर्मल यश विश्वव्यापक बना देता है।

इस तरह प्रकृति के जड़ पदार्थ तथा उच्चकोटि की परम महान् आत्माए हमको निष्काम सेवा करने का सुन्दर पाठ पढ़ाते हैं। यदि हम उस पाठ को हृदय पर अंकित करके उसका आचरण करें तो हम भी संसार में महान् व्यक्ति बन सकते हैं और संसार का तथा अपना बहुत कुछ उद्धार कर सकते हैं।

सबसे प्रथम अपने विश्वकल्याणकारी जैनधर्म की सेवा करनी चाहिये। जैनधर्म ही प्राणीमात्र की रक्षा करने का उपदेश देता है और आत्मा को परमात्मा बनाने की विधि बताता है, अत. निर्दोष रूप से अपनी शक्ति अनुसार धर्म का स्वय आचरण करना धर्म की मुख्य सेवा है क्योंकि स्वय आचरण किये बिना धर्म का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर नहीं डाला जा सकता, अतः स्वयं धर्माचरण करके ऐसे शुभ कार्य करने चाहियें जिससे तुमको देखकर दूसरे व्यक्ति भी जैनधर्म की ओर स्वयं आकर्षित हों, जैनधर्म की प्रशंसा करें। इसके सिवाय जैनधर्म के सत्य सिद्धान्त सरल भाषा में प्रकाशित करके जनता में उन्हें वितरण करें, जैन साहित्य जैनेतर विद्वानों को भेंट करें। जैनेतर भद्र पुरुषों के साथ सम्पर्क जोड़कर, उनके साथ प्रेम स्थापित करके उनको मोक्षमार्गप्रकाशक आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करावें, जैनधर्म आचरण करने की प्रेरणा करते रहें। जैनेतर सभाओं में जैनधर्म के महत्व को प्रगट करने वाले भाषण दें। जो अपने जैन बन्धु धर्म से विचलित या शिथिल हो रहे हों उनको समझा बुझाकर धर्म में दृढ़ करें।

समाज सेवा

अपने समाज की निष्काम सेवा करना भी मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। व्यक्ति की उन्नति तभी होती है जब कि समाज की उन्नति होती है। यदि अपने समाज में अविद्या, दुराचार, ईर्ष्या, द्वेष फैला हुआ होगा, दरिद्रता फैली हुई होगी तो उसका प्रभाव उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर थोड़ा बहुत अवश्य पड़ेगा। समाज में अनेक अपने प्रेमी और सम्बन्धी होते हैं, उन पर आये कष्ट में अवश्य

थोड़ा बहुत भाग लेना ही पड़ता है। इस कारण मनुष्य को अपना स्वार्थ गौण करके समाज के हित को प्रधानता देनी चाहिये, इसके लिये समाज में शिक्षा का प्रचार करना चाहिये, समाज में फैली हुई कुरीतियों को दूर करना चाहिये। अपने समाज के अनाथ बच्चों, महिलाओं के शिक्षण, आजीविका आदि का प्रबन्ध कर देना चाहिये जिस से अपने समाज में कोई दुःखी न रहे। समाज में ऐसे नियमों का प्रचार करना चाहिए जिन के द्वारा निर्धन व्यक्ति भी अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह सम्बन्ध आदि सामाजिक कार्य सरलता से कर सकें। सारांश यह है कि समाज को हम अपना बड़ा परिवार समझ कर उसके प्रत्येक बच्चे को अपना बच्चा, उस की प्रत्येक स्त्री को अपनी बहिन पुत्री और प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई समझना चाहिये।

दीन दुःखी सेवा

मनुष्य का सब से बड़ा धर्म दीन दुःखी स्त्री पुरुषों की सेवा करना है। धर्म का चिह्न दयाभाव है जिस का चित्त दीन दुःखी जीवों को देख कर नहीं पसीजता, उसके हृदय में लेशमात्र भी धर्मवासना नहीं। ऐसे मनुष्य का जप तप संयम केवली बाहरी ढोंग है। दीन दुःखियों के दुःख दूर करके जो मनुष्य उनका शुभ आशीर्वाद लेता है वह कभी दुःखी नहीं होता। अतः दुःखी स्त्री पुरुषों के साथ मीठे नम्र शब्दों में बातचीत करो, यदि वे भूखे हों तो उनको रोटी खिलाओ, प्यासे हों तो पानी पिलाओ, नंगे हों तो उनको वस्त्र दो, यदि रोगी हों तो उनको औषधि दो। स्वयं जितना कर सकते हो उतना स्वयं करो, जितना तुम से न हो सके उतना दूसरों से उनका भला कराने का यत्न करो. इतना भी न हो सके तो अपने मन में तो उनके लिये सहानुभूति रक्खो। तन मन धन यदि दीन दुःखियों की सेवा में लग जावे तो इससे अधिक और अच्छा इनका उपयोग क्या होगा ?

साधु सेवा

जगत् में सदाचार फैलाने वाले तथा स्वयं सच्चरित्र मुनि तपस्वियों व्रतियों महात्माओं की सेवा करने से अपने हृदय में उनके सद्‌गुण अनायास आ जाते हैं, ज्ञान का विकाश होता है, सदाचार स्वयं प्रगट होता है, धर्म में श्रद्धा होती है, दुर्विचार दूर हो जाते हैं। इस कारण मुनि आदि व्रती त्यागी महात्माओं की सेवा करने में कभी प्रमाद न करो।

अपने माता-पिता, पुत्र-पुत्री, बहिन भाई आदि की सेवा उनके योग्य हो सो करो, जो पुरुष अपने परिवार के साथ अपना उचित कर्तव्य पालन नहीं कर सकता वह अपने समाज देश, जाति की सेवा भी नहीं कर सकता। परिवार का कोई भी व्यक्ति दुःखी न हो, तथा कोई भी कुमार्ग पर न लगे, सभी प्रसन्न कर्तव्यपरायण और सन्मार्ग पर चलें ऐसा यत्न करना चाहिये।

सेवा करके उसका बदला चाहने वाले व्यक्ति तो नौकर हुआ करते हैं जिन व्यक्तियों के हृदय में उपकार करने की भावना होती है, वे कभी अपने सेवा का फल नहीं चाहते निष्काम सेवा करते है, परन्तु बिना चाहे भी उनको फल अवश्य मिलता है और उससे अधिक मिलता है जितना कि वे चाहते। निष्काम सेवा व्यर्थ कभी नहीं जाती।

प्रवचन नं० ४६

स्थान:— तिथि:—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ दिल्ली श्रावण शुक्ला २ गुरुवार, २१ जुलाई १९५५

अमूढ दृष्टि

इस जगत में अनन्तानन्त पदार्थ हैं, वे सब एक दूसरे से विलक्षण स्वभाव वाले हैं, एक दूसरे से पूर्ण मेल नहीं खाते। परन्तु कुछ सामान्य बातें उनमें ऐसी भी मिलती हैं जिन के कारण उनको एक श्रेणी में रक्खा जा सकता है। तदनुसार संसार के अनन्तानन्त पदार्थ दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं— १. चेतन, २. जड। जिन पदार्थों में ज्ञान पाया जाता है वे चेतन पदार्थ हैं, जिनमें ज्ञान की मात्रा लेशमात्र भी नहीं होती वे सब जड पदार्थ हैं।

जिस भौतिक शरीर में जीव रहता है वह शरीर जीव के होते हुए ही ठीक निर्दिष्ट स्थान पर आता जाता है, देखता, सुनता, खाता, पीता, सूंघता है, उसके नेत्र, कान, जीभ, नाक, हाथ, पैर आदि अग ठीक काम करते हैं किन्तु जिस समय जीव शरीर से विदा हो जाता है उस समय शरीर न चलता फिरता है, न देखता भालता है न खाता पीता है, न सुनता और न प्रश्नोत्तर करता है आदि सब क्रियाएं बन्द हो जाती हैं, जीवित दशा में जरा सी अग्नि छू जाने से चीखता है वही मृतक शरीर अग्नि चिता में रख दिया जाता है तो चुपचाप भस्म हो जाता है।

इससे ज्ञात होता है कि यह भौतिक शरीर न देखता भालता है, न बोलता चालता है, न इसे सुख दुख का अनुभव होता है। जीवित शरीर में रहने वाला जीव ही जीभ के द्वारा बोलता है, रस चखता है, नाक द्वारा सूंघता है, नेत्रों द्वारा देखता है, कानों द्वारा सुनता है और हाथों पैरों द्वारा कार्य करता है चलता फिरता है। जीव के रहने के कारण ही शरीर जीवित है और जीव न रहने से ही शरीर मृतक है। इसी कारण शराब, भंग आदि का नशा जीवित शरीर में ही दीख पडता है, मृतक शरीर अथवा बोतल आदि जड पदार्थों पर वह नशा नहीं आया करता।

किन्तु समस्त जीवों में ज्ञान की मात्रा एक समान नहीं पाई जाती। संसारी जीवों का ज्ञान ज्ञानावरण कर्म द्वारा आच्छादित (ढका हुआ) है, अतएव संसार दशा में पूर्ण विकसित ज्ञान किसी को नहीं होता जिस जीव के ज्ञानावरण कर्म जितना कम हो जाता है उस जीव में ज्ञान का विकास उतना ही हो जाता है। साधारण तौर से मनुष्यों में ज्ञान पशुओं की अपेक्षा अधिक होता है। हाथी, घोडा, बन्दर आदि अधिक बुद्धिमान् पशुओं में भी माता, बहिन, पुत्री आदि का विवेक नहीं होता, ये पशु मनुष्य से अधिक बलवान होते हुए भी मनुष्य के पालतू चाकर बन जाते हैं, स्वतत्र नहीं रह सकते।

वैसे सभी देवों तथा नारकी जीवों में जन्म से ही अवधि ज्ञान होता है जिसके द्वारा वे साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक जानते हैं, परन्तु फिर भी मनुष्य यदि प्रयत्न करे तो उन देव नारकियों से भी अधिक विशेष ज्ञान वह प्राप्त कर सकता है, इसी कारण परमावधि सर्वावधि ज्ञान मनुष्यों को ही होता है

जो कि देवों के अवधिज्ञान से अधिक जानता है। अवधिज्ञान से भी उच्च श्रेणी के ज्ञान मन: पर्यय तथा केवलज्ञान मनुष्य के ही प्रगट होते है, किसी भी देव को नहीं होते। इसी कारण मुक्ति भी मनुष्य देहधारी को ही मिला करती है किसी देव को नहीं।

अत: मनुष्य भव पाकर हित अहित विवेक (भेदज्ञान) अवश्य होनी चाहिये जिस मनुष्य को विवेक नहीं होता उसका जीवन पशुओं के समान बीतता है।

हित-अहित

संसार में बहुत से मनुष्य ऐसे पाये जाते है जिनकी भद्र प्रकृति होती है, अत: वे सब के साथ सीधा सरल व्यवहार करते हैं, असत्य बोलने का जिनका अभ्यास नहीं होता, न तो वे किसी को धोखा देते हैं और न किसी से विश्वासघात करते हैं। इन भद्र पुरुषों से विपरीत अभद्र प्रकृति के मनुष्य होते है जो असत्य बोलने के अच्छे अभ्यासी होते हैं, दूसरो को छल फरेब झूठ कपट से धोखा देना, विश्वासघात करना, मीठे वचन बोलकर दूसरों को हानि पहुँचाने में जो अच्छे प्रवीण होते है।

संसार में भद्र प्रकृति के भोले मनुष्यों को जनता मूर्ख समझती है और जो अभद्र प्रकृति के मनुष्य हैं उनको नीतिनिपुण, व्यवहार कुशल चतुर समझा जाता है। वास्तव में देखा जावे तो जो भद्रप्रकृति के मनुष्य हैं उन पर सब किसी को विश्वास होता है उनको सब लोग सच्चा समझते हैं अत: उनके साथ व्यवहार व्यापार करते किसी को हिचकिचाहट नहीं होती और अपनी भद्र प्रकृति के कारण वे भविष्य के लिये भी शुभ कर्म बन्ध किया करते है। तथा अभद्र पुरुषों को चतुर भले ही कोई कह दे परन्तु उनके स्वभाव के जानकार मनुष्य उनकी किसी भी बात का विश्वास नहीं करते, इसी कारण वे किसी अपरिचित नये व्यक्ति को तो धोखा देकर अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं परन्तु परिचित मनुष्यों के सामने उनकी दाल नहीं गलती, इसी कारण ऐसे मनुष्यों के साथ कोई व्यापार व्यवहार करने के लिये सहसा तैयार नहीं होता। ऐसे मनुष्य सदा अपने कुविचारों के कारण पापकर्म उपार्जन करते रहते है।

इसके सिवाय अधिकतर स्त्री पुरुष सांसारिक कार्यों में बहुत निपुण होते हैं, अनेक तरह की लौकिक कलाएँ उन्हें मालूम होती हैं, अनेक भाषाओं को बोलते तथा समझते हैं। विविध प्रकार के व्यापार व्यवहार में वे दक्ष होते हैं, दूसरों को प्रसन्न करके धन उपार्जन करने के उनका अनेक ढंग आते हैं। इत्यादि व्यापारिक, सामाजिक, व्यावहारिक ज्ञान में वे अच्छे निपुण होते हैं परन्तु आत्मा को उन्नत और पवित्र करने की विद्या में वे कोरे होते हैं। जिस आध्यात्मिक ज्ञान को सब से प्रथम प्राप्त करना चाहिये अधिकांश मनुष्य अपने जीवन में उसे प्राप्त करने का जरा भी प्रयास नहीं करते।

जिस तरह व्यापार का अच्छा ज्ञान और अनुभव न होने पर व्यापार में लाभ नहीं उठाया जा सकता उसी तरह जब तक आत्मा के विषय में ज्ञान न हो तब तक आत्मा का हित सम्पादन नहीं किया जा सकता। आत्मा को किस मार्ग पर चलने से हानि होगी, अहित होगा और कैसे कार्य करने से आत्मा का हित होगा, आत्मा की उन्नति होगी, आत्मा का क्या स्वभाव है ? ये बातें आत्मा के उत्थान के लिये जाननी आवश्यक हैं।

इसी कारण नीतिकार का कहना है—

अज्ञानेनावृता जीवा न जानन्ति हिताहितम् ।
धत्तूरिता जनाः किं न पश्यन्ति कनकं जगत् ॥

अर्थात्—संसारी जीव अज्ञान से ढके हुए हैं इसी कारण आत्मा के हित, अहित को नहीं समझते । जिस तरह धतूरा खाने वाले मनुष्यों को सारा जगत सोने-सा पीला दिखाई देता है ।

इस कारण सांसारिक विषयों के ज्ञान की तरह आध्यात्मिक ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये जिसने आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया वह वास्तव में मूर्ख है क्योंकि आत्मज्ञान न होने से वह भक्ष्य अभक्ष्य, खाने पीने, इन्द्रियों के यथेच्छ विषय भोगों में लगे रहने, ससार की वस्तुओं तथा अपने शरीर एवं परिवार मित्र आदि से मोह ममता करके अपने कर्म बन्धन को और दृढ़ करता है, संसार भ्रमण को बढ़ाता है यानी ऐसे कार्य करता है जिससे आत्मा का अहित होता है, आत्मा का पतन होता है ।

जिन कुगुरु कुदेवों को उपासना से आत्मा में क्रोध, मोह, काम-वासना आदि दुर्भाव जाग्रत होते हैं उन कुगुरु कुदेवों की पूजा भी मनुष्य इसी कारण करते हैं कि उनको आत्मा परमात्मा का स्वरूप मालूम नहीं, आत्मा किन भावनाओं मे संसार में चक्कर लगा रहा है और किन भावनाओं से वह इस चक्कर से छूट सकना है ? उनको अपना लक्ष्य किस देव की आराधना से प्राप्त हो सकता है ? कौन गुरु उसे संसार से पार कर सकता है ? कौन सा धर्म आत्मा की शुद्धि कर सकता है ? इन मोटी मोटी बातों का भी जब तक मनुष्य को ज्ञान न हो तब तक वह सद्देव, सद्गुरु, सत्धर्म की श्रद्धा अपने हृदय में कैसे उत्पन्न कर सकता है ।

इसी तरह यह आत्मा क्या पदार्थ है ? कहां से आया है, कहाँ जायगा, यह शरीर इसको क्यों मिला, यह आवागमन में क्यों पडा है ? आवागमन से आत्मा किस तरह छूट सकता है ? संसार क्या है ? मुक्ति क्या है ? ससार के कारण क्या हैं, मुक्ति के क्या कारण हैं ? आत्मा और परमात्मा में क्या अंतर है ? द्रव्य कितने हैं ? तत्व कौन से हैं ? जीव कितनी तरह के है ? किन किन कार्यों के करने से जीव किस योनि में जाता है ? देव शास्त्र गुरु कैसा उपासना योग्य है ? इत्यादि आत्म उपयोगी बातों का ज्ञान प्राप्त करना धर्मात्मा व्यक्ति को तथा धर्म जिज्ञासु को अति आवश्यक है, जिन मनुष्यों को इन बातों का ज्ञान नहीं होता वे व्यक्ति धार्मिक दृष्टि से मूढ (मूर्ख) कहलाते हैं ।

आत्म श्रद्धालु सम्यग्दृष्टी पुरुष आध्यात्मिक विषय में मूढता नहीं रखता । वह अन्ध श्रद्धा से किसी धार्मिक विषय को नहीं मानता, वह तो परीक्षा करके ही देव शास्त्र गुरु को, तात्विक बातों को तथा धर्माचरण को मान्य करता है । आत्मा को शुद्ध बनाने के आदर्शभूतदेव (वीतराग भगवान) की संसार मोह माया से दूर निर्ग्रन्थ गुरु की उपासना करता है तथा वीतराग सर्वज्ञ के उपदेश के अनुसार अन्य सूक्ष्म (युक्ति-अगम्य) विषयो की श्रद्धा करता है ।

वैशाली गणतन्त्र के प्रमुख वैशाली नरेश राजा चेटक की बुद्धिमती सुपुत्री और राजगृही नरेश राजा श्रेणिक की पत्नी रानी चेलना जिनेन्द्रदेव तथा निर्ग्रन्थ जैन मुनियों की उपासिका थी किन्तु उसका पति महात्मा बुद्ध का भक्त था, अतः वह बौद्ध साधुओं का श्रद्धालु शिष्य था ।

श्रेणिक ने चेलना को बौद्धधर्म की अनुयायिनी बनाने के लिये अनेक उपाय किये, परन्तु चेलना ने अन्ध श्रद्धा से बौद्ध धर्म स्वीकार न किया। उसने राजा श्रेणिक से नम्रता पूर्वक कह दिया कि आप बौद्ध धर्म की सचाई की परीक्षा करा दें, बौद्ध धर्म को मैं तभी स्वीकार कर सकती हूँ। राजा श्रेणिक ने कहा अच्छा ऐसा ही करूँगा।

श्रेणिक ने बौद्धसाधुओं के विषय में चेलना से कहा कि वे बहुत ज्ञानी होते हैं दूसरों के हृदय की भी बातें जान लेते हैं, उन को और भी सभी बातों का ज्ञान होता है, चेलना ने कहा—किसी दिन दर्शन कराइये। राजा श्रेणिक ने एक दिन साधुओं को अपने घर भोजन के लिये निमन्त्रण दिया। चेलना ने उन के दिव्यज्ञान की परीक्षा लेने के लिये उन के एक पैर के जूते अपनी दासी से मंगवा कर उनके चर्म के छोटे २ छोटे टुकड़े करके उन्हे कुटवाया और दही में स्वादिष्ट मसालों के साथ उन साधुओं को ही परोस दिया। स्वाद में आकर साधु उन चर्म टुकड़ो को खा गये।

भोजन करके जब ये चलने लगे तब उनके एक पैर की जूती वहा न मिली तब चेलना ने नम्रता से कहा कि आप तो दिव्य ज्ञानी हैं, आप को तो मालूम हो गया होगा कि आप की जूती कहां है ? साधुओ ने कहा कि हम को पता नहीं कि जूती कहाँ है ? तब चेलना ने कहा कि महाराज ! वह तो आप के पेट में है। साधुओं ने जब वमन (कय) किया तो सचमुच चर्म के टुकड़े उन के पेट में से निकले। वे साधु अपने अपमान पर बहुत क्रोधित तथा लज्जित हुए। श्रेणिक राजा को बहुत बुरा लगा किन्तु चेलना ने कहा कि आपके कहे अनुसार ये साधु तो अपने पेट की भी बात नहीं जानते, मैंने तो इनके ज्ञान की परीक्षा ली थी। राजा चुप रह गया।

एक दिन राजा श्रेणिक ने एक बड़े मण्डप में बौद्ध साधुओं को लाकर ठहराया वे ध्यान करने के लिये जब बैठ गये तब राजा श्रेणिक ने चेलना से कहा कि इन साधुओं का आत्मा इस समय ध्यान के बल में सिद्धालय में पहुंच गया है। तब चेलना ने उनके ध्यान की परीक्षा लेने के लिये उस मण्डप में आग लगा दी। आग को अपनी ओर आते देख वह साधु अपनी जान बचाने के लिये वहां से ध्यान छोड़ कर भागे। चेलना ने श्रेणिक से कहा कि सिद्धालय में पहुँची हुई आत्मा अग्नि से डर कर क्यों भागने लगी ? श्रेणिक चुप रह गया इस तरह अनेक तरह से धर्म की परीक्षा कराकर चेलना रानी ने राजा श्रेणिक को भगवान् महावीर का भक्त बना दिया।

सभी लोगों को धर्मतत्वों को जान कर धर्म परीक्षक बनना चाहिए।

प्रवचन नं० ४७

स्थानः— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली

तिथिः— श्रावण शुक्ला ३ शुक्रवार, २२ जुलाई १९५५

उपगूहन

स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥

अर्थात्—आत्मा को शुद्ध करने वाला धर्ममार्ग (जैनधर्म) स्वयं पवित्र है। यदि उस धर्म मार्ग पर चलने वाले किसी व्यक्ति से अज्ञानतावश अथवा निर्बलतावश कोई निन्दनीय त्रुटि (गलती) हो जावे, तो उस त्रुटि को जनता में न फैलाकर, उस व्यक्ति को समझा बुझाकर उससे वह त्रुटि दूर करा देना 'उपगूहन' है।

हमारे ये नेत्र संसार की दिखाई देने वाली सभी छोटी बड़ी वस्तुओं को देखते हैं किन्तु स्वय अपने आप को नहीं देखते, यहाँ तक कि आँखों में लगाये गये काजल या अंजन को भी आँखें नहीं देख पातीं। यदि आँखें अपने आपको भी देख लेतीं तो उनमें कोई दोष पैदा न हो पाता।

प्राय प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में अनेक तरह की गलतियाँ कर बैठता है क्योंकि एक तो अपूर्ण ज्ञानी है इस कारण प्रत्येक कार्य के ठीक परिणाम को नहीं समझता, उसे काम करते समय पता नहीं चल पाता कि इस काम का नतीजा क्या निकलेगा, इस कारण अज्ञानतावश बहुत सी भूलें कर बैठता है। तथा कभी कभी अपनी कमजोरी से सदाचार के मार्ग से फिसलकर कोई गलती कर बैठता है एवं कभी कभी कुसंगति में पड़कर असदाचारी मित्रों के अनुरोध या प्रेरणा से कोई बुराई कर बैठता है। ऐसे समय में ऐसे व्यक्ति को सम्भालने की बहुत आवश्यकता है यदि उसकी वह त्रुटि, भूल या बुराई जनसाधारण में फैला दी जाय अथवा तिरस्कार की दृष्टि से उसको कहा जावे, उसका अपमान किया जावे तो या तो वह लज्जित होकर आत्मघात कर ले, या उस स्थान को छोड़कर कहीं और जगह पर चला जावे अथवा धीर होकर निर्लज्ज बनकर उस बुरे काम को खुल्लम खुल्ला करने लग जावे या अपने सदाचारी धार्मिक समाज सोसायटी को त्याग अधार्मिक अन्य समाज सोसायटी में जा मिले, विधर्मी बन जावे। ऐसा होने पर अपने समाज का एक व्यक्ति कम हो जाता है।

इस कारण ऐसे समय पर बहुत बुद्धिमानी और समाज हितैषिता से कार्य लेने की आवश्यकता है। उसका वह दोष सर्व साधारण जनता में न कहकर एकान्त में उस व्यक्ति को मधुर शब्दों में समझाया जावे तो वह व्यक्ति अपनी उस बुराई को छोडकर समाज का एक अच्छा उपयोगी अंग बना रह सकता है, जो कि समय पर बहुत लाभदायक सिद्ध होता है। समाज रक्षा की इसी शुभ भावना की पूर्ति के लिये यह उपगूहन (अन्य व्यक्ति के दोषों को छिपाना) सम्यग्दर्शन का पांचवां अग बतलाया गया है।

बात मध्य प्रदेश के एक नगर की है। एक गरीब जैन भाई अपनी एक विधवा बहिन के साथ गांव से कुछ आजीविका के लिये उस नगर में आया। वहाँ आकर उसने अपने धनिक जैनों से अपनी आजीविका के लिये कुछ सहायता मांगी किन्तु उसे किसी ने भी उसके साथ सहानुभूति प्रगट करके उसको कुछ सहायता न दी। बेचारा बहुत व्याकुल हुआ। संयोग से एक कच्छी मुसलमान (बोहरा) उसे एक दिन मिल गया, उसने उस गरीब जैन की दुर्दशा पर दया करके काम काज करने के लिये उसको कुछ उधार रुपये दे दिये जिससे अपना गुजारे लायक काम-धन्धा करने लगा। इस बात से कुछ जैन लोगों को उससे ईर्ष्या हो गई कि यह तो हमारी बिना सहायता के अपना कार्य करने लगा, अब हमारी कुछ परवा भी नहीं करता। इस जलन से वे उसके दोष देखने लगे।

वह कच्छी बोहरा उस जैन के घर अपने रुपये लेन देन के कारण कभी कभी उस जैन के घर आया जाया करता था, लेन देन के सिवाय उसका और कुछ सम्बन्ध न था। इस निर्दोष बात को

लेकर उन कुछ ईर्ष्यालु जैनों ने अपने समस्त समाज में उस गरीब को यह निन्दा फैलादी कि 'उस कच्छी मुसलमान का इसकी बहिन के साथ अनुचित प्रेम सम्बन्ध है, इसी कारण वह बोहरा इसके घर आया जाया करता है।' यह झूठी बुराई फैलाकर उन लोगों ने अपना एक गुट बना लिया। और उस बेचारे गरीब जैन भाई बहिन को मन्दिर में दर्शन के लिये आने से रोक दिया। इस तरह उन बेचारो का धर्म साधन छूट गया।

भाद्रपद मास आया, पर्यूषण पर्व प्रारम्भ हुआ तब अपने धार्मिक संस्कारों के कारण वह गरीब बहिन चुपचाप पंचमी के दिन मन्दिर में दर्शन करने के लिये आई, उसी समय उस गुट्ट के एक आदमी ने उसे देख लिया उसने उस महिला को द्वार पर ही रोक दिया। इससे उस स्त्री को बहुत दुःख हुआ। उसने बहुत अनुनय विनय के साथ उन लोगों से प्रार्थना की, कि 'आज पंचमी है मुझे केवल भगवान् के दर्शन कर लेने दो, मैं दर्शन करके घर चली जाऊँगी, व्रत के दिन हैं, दर्शन करने के बाद ही भोजन करना चाहती हूं।'

किन्तु उसकी प्रार्थना पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, वह बेचारी दो घंटे तक मंदिर के द्वार पर बैठी रही परन्तु उन ईर्ष्यालु धर्मात्माओं के हृदय में जरा भी करुणा और वात्सल्य भाव नहीं आया। जब उस महिला के सन्तोष का और धैर्य का घड़ा भर गया, तब उसको जैन समाज के लिये हृदय में भयानक विद्रोह उठा, और वह क्रोध से तमतमा कर उठ खड़ी हुई। उसने दोनों आंखें लाल करके कहा कि 'मंदिर के द्वार पर भगवान् की साक्षी से कह रही हूँ कि अभी तक मेरा किसी भी पर पुरुष के साथ रचमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा, परन्तु तुम लोग इसपर भी मेरा सम्बन्ध उस कच्छी मुसलमान के साथ बतलाते हो तो मैं अब सीधी उसीके घर जाती हूँ और अबसे अपना धर्म-कर्म छोड़कर उसी की औरत बनकर रहूंगी, और अपने इस अपमान का तुम लोगों से बदला लूंगी अभी तक तो मैंने तुमसे भगवान् के दर्शन करने का आग्रह किया किन्तु तुम लोगों ने मुझे दर्शन नहीं करने दिये। अब तुम लोग यदि मुझसे दर्शन करने के लिये कहोगे तो भी मैं दर्शन न करूगी।'

इतना कहकर घायल नागिनी की तरह फुंकारती हुई वह सीधी उस मुसलमान के घर जा बैठी और मुसलमानी बन गई। उसके बाद उसने कुछ गुण्डों को भड़काकर उन लोगों में से कई मनुष्यों की स्त्रियों का अपमान कराया।

उपगूहन अंग न पालने पर ऐसे दुःखदायक हानिकारक परिणाम निकालते हैं। मंदिर में जाने से उस निर्दोष महिला को रोकने वाले पुरुषों में कोई त्रुटि न होगी। परन्तु ईर्ष्यासे जले भुने व्यक्ति दूसरों के ही दोष देखते हैं अपने दोषों पर कुछ विचार नहीं करते।

दूसरों के दोष देखने की बजाय मनुष्य अपने दोषों पर दृष्टि डालता रहे तो उसे मालूम हो कि अन्य मनुष्य से भी अधिक दोष उसमें भरे हुए हैं। परन्तु मनुष्य का स्वभाव कुछ ऐसा बन गया है कि वह दूसरों के गुणों पर दृष्टि नहीं डालता, दूसरों के दोषों को ही देखा करता है तथा अपने दोषों को नहीं देखता, केवल अपने भीतर गुणों को ही देखता है। इससे दो हानियां होती हैं—एक तो अपनी बुराइयां दूर नहीं होने पाती, दूसरे अन्य मनुष्यों की निन्दा करने की आदत पड जाती है, इससे अपने आपको एवं दूसरों को बहुत हानि होती है।

एक बात यह भी है कि प्रत्येक मनुष्य अपने समान ही दूसरों को समझता है। धर्मात्मा, नीति न्याय से चलने वाला सज्जन पुरुष अन्य मनुष्यों को भी वैसा ही धर्मात्मा न्यायी सज्जन समझता है और पापी अन्यायी दुष्ट व्यक्ति दूसरों को पापी अन्यायी दुष्ट समझता है। महाभारत की कथा अनुसार द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर से कहा कि जाओ सब जगह घूम फिर कर देख आओ पापी दुष्ट मनुष्य कितने हैं? युधिष्ठिर स्वयं धर्मात्मा सज्जन था अतः वह सब जगह घूम फिर आया और आकर द्रोणाचार्य को उत्तर दिया कि गुरुवर! ससार में मुझे तो कोई मनुष्य पापी दुष्ट दिखाई नहीं दिया।

तब द्रोणाचार्य ने दुर्योधन से कहा कि जा, सब जगह घूम फिर कर देख आ कितने मनुष्य धर्मात्मा सज्जन हैं? दुर्योधन स्वयं अन्यायी दुष्ट था अतः उसे सब कहीं अपनी ही छाया दिखाई दी। उसने आकर द्रोणाचार्य से कहा कि महाराज! संसार में एक भी मनुष्य सज्जन धर्मात्मा नहीं है, सब अन्यायी दुष्ट हैं।

इस के सिवाय मनुष्य से गलतियाँ होना स्वाभाविक बात है। लोभ, मोह, क्षोभ, भय, क्रोध, मान, राग, द्वेष आदि विकृत भावों के कारण मनुष्य अपने जीवन में अनेक गलतियाँ किया-करता है छोटे मनुष्य से छोटी गलती होती है बड़े मनुष्यों से बड़ी गलतियां होती रहती है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जो सर्वथा त्रुटि शून्य निर्दोष हो। ऐसी दशा में यदि प्रमादवश किसी धार्मिक सज्जन से कोई दोष बन जाता है, तो उसे सुधारने का यत्न करें, बिगाड़ने का प्रयत्न न करें। सुधारने का सरल सीधा यत्न यही है कि प्रेम के साथ मधुर वाणी में उस को समझावे, उसका दोष सब में फैलाकर उसको बदनाम करने की चेष्टा न करे। बदनामी करने से मनुष्य कषायवश और भी धीठ हो जाते हैं, और सुधरने के बजाय बिगड़ जाते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि किसी धर्मात्मा के दोष प्रगट करने से उस धर्मात्मा की ही निन्दा नहीं होती बल्कि उसकी निन्दा के साथ साथ अपने धर्म की भी निन्दा फैलती है। इस कारण धर्मात्मा सज्जन के दोष छिपाने चाहियें।

बहुत प्राचीन समय की बात है उज्जैन में जिनदत्त नामक एक सेठ रहते थे। वे जैसे अच्छे धनिक थे उसी तरह अधिक धर्मात्मा भी थे. सदा धर्मात्मा जती त्यागियों का आदर सन्मान किया करते थे, बड़ी विनय से उनको अपने घर पर भोजन कराते थे। उन्होंने अपने घर के ऊपर एक सुन्दर चैत्यालय बनाया हुआ था। उस में भगवान् पार्श्वनाथ की सुन्दर प्रतिमा थी। उस प्रतिमा के ऊपर जो छत्र लगा हुआ था उसमें एक बहुमूल्य वैडूर्य मणि लगी हुई थी। जिनदत्त सेठ प्रतिदिन अपने चैत्यालय में भगवान् का दर्शन पूजन किया करते थे।

उस नगर के एक चोर को उस बहुमूल्य रत्न का पता लग गया। उसने उस रत्न को चुराने का विचार किया परन्तु सेठ के मकान पर मजबूत पहरा रात दिन लगा रहने से चोर को मकान में घुसना असम्भव दीखा। तब उसने सेठ जिनदत्त को धोखा देने की एक चाल चली। वह चोर एक क्षुल्लक का भेष बना कर सेठ जी के घर पहुंचा।

सेठ जिनदत्त ने उसको सच्चा धर्मात्मा क्षुल्लक समझकर भक्ति पूर्वक भोजन कराया और अपने चैत्यालय में ठहरा लिया। वह चोर तो ऐसा अवसर चाहता ही था। रात के समय जब सेठ के घर के

सब मनुष्य सो गये, तब चोर ने छत्र में से वैडूर्य मणि निकाल ली और चुपचाप सेठ के मकान में से निकल कर भागा।

परन्तु पहरेदार सिपाहियों ने उसको पकड़ लिया और पकड़ कर उसे खूब मार लगाई। कोलाहल सुनकर सेठ जिनदत्त जग गये। उन्होंने मकान से नीचे आकर देखा तो वह क्षुल्लक वैडूर्य मणि लिये हुए था। सेठ जिनदत्त ने पहरेदारों से कहा कि 'भाई ये तो हमारे पूज्य गुरु हैं, चोर नहीं हैं, यह मणि तो मैंने अपने हाथों से इनको दी है। तुमको इनको बिना अपराध पकड़ लिया है।' सेठ की बात सुनकर पहरेदारों ने उस क्षुल्लक को छोड़ दिया। इस तरह सेठ जिनदत्त ने जैनगुरु तथा जैनधर्म की निन्दा फैलने से बचाव कर लिया।

यदि कभी किसी धर्मात्मा से कोई ऐसा निन्दाजनक अपराध हो जाये तो अन्य धर्मात्मा का यह कर्तव्य है कि उस धर्मात्मा का अपयश होने से बचावे जिससे कि धर्म का अपवाद न होने पावे। क्योंकि धर्मात्मा की निन्दा होने से धर्म की निन्दा अवश्य होती है। इससे समाज को भी बहुत धक्का पहुंचता है। जिस तरह अपनी समाज का कोई मनुष्य अच्छा यशस्वी कार्य करे तो सर्वत्र उस समाज का नाम उज्ज्वल होता है और उस समाज का मस्तक ऊंचा होता है। उसी तरह यदि कोई मनुष्य निन्दनीय कार्य कर बैठे तो उस समाज का भी अपयश फैल जाता है, उस मनुष्य के कुकृत्य के कारण उस समाज को भी नीचा देखना पड़ता है।

इस कारण अपने धर्म को तथा अपने समाज को अपयश से बचाने के लिये अधर्मात्मा भाई की न निन्दा करनी चाहिये, न उसके अवगुण को प्रगट करना चाहिये तथा दोषों को सुधारना चाहिये।

प्रवचन नं० ४८

स्थान:— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ दिल्ली

तिथि:— श्रावण शुक्ला ४ शनिवार, २३ जुलाई १६५५

स्थितीकरण

समस्त संसार विषय भोगों का दास बना हुआ है। ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनेक विद्यालय खुले हुए हैं, जिनमें अच्छे निपुण अध्यापक बड़े परिश्रम से अनेक ढंगों से पढ़ाते हैं, विद्यार्थी बड़ी तत्परता से पढते हैं, स्मरण करने तथा अनेक तरह अभ्यास करने में दिन रात एक कर देते हैं, तब परीक्षा में उत्तीर्ण हो पाते हैं। शिल्पकला, व्यापार, कृषि, वैद्यक, नृत्य, गायन, चित्रकारी आदि कलाओं को सीखने सिखाने के लिये भी अनेक शिक्षाशालायें स्थापित हैं। वहां बड़े परिश्रम से शिक्षा प्राप्त करके उन कलाओं में निपुणता प्राप्त की जाती है।

परन्तु संसार में विषय भोगों को सीखने के लिए एक भी विद्यालय नहीं खुला है फिर भी प्रत्येक मनुष्य बिना सिखाए विषय भोगों में निपुण हो जाता है। मनुष्य जिन पशु पक्षियों को ज्ञानहीन,

अज्ञानी समझता है, वे पशु पक्षी विषय भोगों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए किसी अन्य पशु-पक्षी या मनुष्य को अपना गुरु नहीं बनाते।

तत्काल उत्पन्न हुआ बच्चा भी बिना किसी के सिखाये दूध पीना आदि भोजन करना सीख जाता है। पेट भर जाने के बाद नींद लेना भी उसे कोई नहीं सिखाता, स्वयं अपने आप सो जाता है। कुछ बड़ा हो जाने पर वस्त्र, रुपया, पैसा आदि परिग्रह संचय करने की आदत भी बच्चे को अपने आप आ जाती है, पैसा मिलते ही वह प्रसन्न हो जाता है और उसको मुट्ठी में दबा लेता है, वह पैसा लेना तो जानता है किन्तु देना नहीं जानता। यौवन अवस्था आने पर काम सेवन सिखाने के लिये मनुष्य को किसी अध्यापक की आवश्यकता नहीं होती, बिना सिखाये सभी मनुष्य काम कला में निपुण हो जाते हैं।

इसी प्रकार पशु पक्षी भी इन चारों बातों को बिना किसी शिक्षक द्वारा सिखाये स्वयं सीख लेते हैं। इस तरह आहार, परिग्रह, सोना, मैथुन करना इन चारों बातों में रुचि प्रत्येक मनुष्य तथा पशु पक्षी की स्वभाव (विभाव) से पाई जाती है। परन्तु इन कार्यों से आत्मा का उत्थान नहीं होता, पतन होता रहता है। आत्मा के उत्थान और विकास के लिये इन विषय भोगों से विरक्त हो कर धर्म आचरण करना पड़ता है। मनुष्य भी यदि आचरण न करे तो मनुष्य और पशु में कुछ अन्तर नहीं रह जाता। नीतिकार ने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणां ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना ॥

अर्थात् भोजन करना, नींद लेना, डरना और मैथुन (काम) सेवन करना। ये चारों काम मनुष्यों की तरह पशुओं में भी पाये जाते हैं। यदि पशुओं से कुछ विशेषता मनुष्यों में मिलती है तो वह धर्म सेवन है। जिन मनुष्यों में धर्माचरण नहीं पाया जाता, उन में और पशुओं में कुछ अन्तर नहीं है।

इसका कारण यह है कि मनुष्य में विवेक होता है जिस से वह अपने आत्मा का उत्थान करता है। आत्मा की उन्नति (उत्थान) धर्म आचरण करने से होती है।

विषय भोगों पर नियन्त्रण लगाना ही धर्म है या धर्म धारण करने के लिये विषय भोगों पर नियन्त्रण लगाना पडता है। चाहे जिस स्त्री से मैथुन करना व्यभिचार है और अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य किसी स्त्री से मैथुन न करना ब्रह्मचर्य है। शराब, मांस अंडे सब कुछ खाना पीना हिंसा है और शराब मांस अंडे तथा अन्य शहद आदि का त्याग कर के शुद्ध भोजन करना अहिंसा है। मुख से चाहे जो कुछ बोलते रहना भूठ है, असत्य बोलने का त्याग करना सत्य धर्म है। इस तरह पशुओं की तरह चाहे जो कुछ करते रहना, विषय भोग भोगते रहना पाप है। और उन विषय भोगों पर कुछ नियन्त्रण 'पाबन्दी' लगाना धर्म है। इस तरह से धर्म पालन करने के लिये इन्द्रियों पर तथा मन पर बहुत कुछ रोक लगानी पडती है जो कि विषय भोगी पुरुषों को कठिन प्रतीत होती है परन्तु आत्मउन्नति का मार्ग वही है। जिस तरह काढा आदि कडवी औषधि पीने से शरीर का ज्वर आदि रोग नष्ट होते हैं इसी तरह इन्द्रियों और मन को यथेच्छ (चाहे जिस) विषय भोगों से रोकने से आत्मा का पापरूपी रोग कम होता है।

यद्यपि पाप की अपेक्षा धर्म करने में जीव को कम परिश्रम करना पड़ता है थोड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है परन्तु पाप करने की जो बुरी आदत जीव को पड़ी हुई है उसके कारण वह पाप करने में सरलता और धर्म करने में कठिनता अनुभव करता है। हिंसा करने के लिये शिकार खेलते समय मनुष्यों को कितनी भाग दौड़ करनी पडती है कभी कभी तो पशुओं का शिकार करते हुए स्वयं शिकारी मनुष्य ही उन सिंह आदि पशुओं का शिकार हो जाता है। परन्तु अहिंसा धर्म पालन करने के लिये शुद्ध निरामिष (मांस रहित) भोजन करने में न उतनी भाग दौड़ की आवश्यकता है न अपने प्राण किसी जोखम में डालने की आवश्यकता है।

झूठ बोलने में सैकड़ों मिथ्या, मायाजाल रचने पड़ते हैं एक झूठ को बनाने के लिये सैकड़ों झूठ बनाने पड़ते हैं फिर भी झूठ की कलई खुल ही जाती है, मन में भय बना ही रहता है और सत्य धर्म के लिये इतने मायाजाल बनाने की न भाग दौड़ की आवश्यकता है, न जरा भी डरने की आवश्यकता है।

वेश्या तथा अन्य स्त्रियों से व्यभिचार करने के लिये मनुष्य को बड़ा भारी धन खर्च करना पड़ता है और सैकड़ों कूट कपट, खुशामद मिन्नत करनी पड़ती है फिर भी बीसों तरह की जोखम रहती है, मन में भय बना रहता है और कभी कभी तो जान से भी हाथ धोने पडते हैं परन्तु ब्रह्मचर्य धर्म पालन करने में मनुष्य को न पैसा बिगाड़ने की आवश्यकता है, न अपमान सहने की जरूरत है और न किसी की जोखिम उठाने या भय खाने की आवश्यकता है। अनीति से धन संचय करने तथा चोरी से राज्य का, खरीदार का, जनता का, मालिक आदि का सदा भय बना रहता है और कभी कभी सजा भी झेलनी पड़ती है परन्तु धर्मानुसार न्याय नीति से धन संचय करने में ऐसी कोई आपत्ति, कठिनाई और भय नहीं आने पाता।

इस कारण यह बात स्पष्ट है कि पाप कार्यों के करने में अनेक कठिनाइयां, विपत्ति और भय हैं किन्तु धर्म आचरण करने में कोई कठिनाई भय और विपत्ति नहीं है।

इस धर्माचरण सहित सरल सुविधाजनक होने पर भी अनादिकालीन बुरी आदत के अनुसार मनुष्य धर्म पालन करने में बहुत कठिनाई अनुभव करते हैं। अस्तु—

धर्म पालन करते हुए मनुष्य कभी कभी किसी कुसंगति के प्रभाव से धर्म से चलायमान हो जाता है, अपने विधर्मी या अधर्मी मित्रों की प्रेरणा से धर्म छोड़ने के लिये तैयार हो जाता है। कभी किसी स्त्री पर आसक्त होकर उस स्त्री की प्रेरणा से अथवा उसके सम्बन्धियों के आग्रह से अपना धर्म परिवर्तन करने को तत्पर हो जाता है, जैसे कि लाहौर निवासी स्वर्गीय हकीम ज्ञानचन्द्रजी का एक सागरचन्द नामक बैरिस्टर पुत्र मुसलमान होगया। कभी कोई मनुष्य आर्थिक तंगी से धन के लोभ में आकर अपने सत्यधर्म का भी आचरण त्याग कर अन्य धर्म की शरण में चला जाता है। कभी किसी अन्य लोभ, आशा या भय के कारण अथवा अन्य किसी निमित्त से धर्म पलटने को तत्पर हो जाता है।

इस प्रकार धर्म से चलायमान होने वाले स्त्री पुरुषों को तत्काल सम्भालने की बहुत भारी आवश्यकता है। जिससे वह धर्म से विचलित न होकर धर्म पालन में स्थिर हो जावे। इस कार्य में विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि जब तक अन्य धर्मानुयायियों या अधर्मी मनुष्यों के समागम

में अच्छी तरह खुलकर नहीं आ पाता तब तक वह समझाने बुझाने से तथा उसकी आवश्यकता पूरी कर देने से अपनी समाज में पुनः आ जाने की सम्भावना रहती है यदि कुछ समय उसको विधर्म में रहने दिया जाय तो धर्म परिवर्तन के उसके विचार पक्के हो जाते हैं, उस दशा में फिर अपने धर्म में लौट आने की आशा नहीं रहती ।

इस कार्य में लापरवाही भी न करनी चाहिये क्योंकि जिस तरह एक व्यक्तिकी वृद्धि से समाज की शक्ति में वृद्धि होती है उसी तरह एक व्यक्तिके कम हो जाने से अपना समाज का बल भी कम हो जाता है । एक एक बूंद पानी के घड़े में पड़ते रहने से घड़ा भर जाता है और एक एक बूंद पानी घडे से निकलता रहे तो घडा खाली हो जाता है ।

ससार में उन्हीं धर्मो की शक्ति अधिक मानी जाती है जिनके अनुयायियों की संख्या अधिक होती है, अत. अपने धर्म की शक्ति बढाने के लिये अपने धर्मानुयायियों की संख्या में वृद्धि करने के उपाय सदा करते रहना चाहिये और सदा ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि एक भी व्यक्तिअपनी धार्मिक समाज से कम न होने पावे ।

इसके लिये अपने धर्मानुयायियों को सदा धार्मिक सम्पर्क रखने का यत्न करना चाहिये अपना कोई भी स्त्री पुरुष किसी कुसगति में न फंसने पावे, किसी बुरी आदत का शिकार न होने पावे इस बात पर धार्मिक व्यक्ति का सदा ध्यान रहना चाहिये ।

यदि अपने किसी धर्म बन्धु को कोई विधर्मी विद्वान् कुयुक्तियों से अपने धर्म की अश्रद्धा उसके हृदय में उत्पन्न करना चाहे तो अपने विद्वानों के द्वारा उन कुयुक्तियों को खण्डित कराकर उस अपने धर्म-बन्धु के हृदय में धार्मिक श्रद्धा दृढ करा देनी चाहिए । तथा अपने अकाट्य धर्म-सिद्धान्तों का महत्व उसके हृदय में बिठा देना चाहिये ।

तरुण लडके लड़कियों का विवाह सम्बन्ध न होने के कारण भी बहुत से व्यक्ति धर्म परिवर्तन करने को तैयार हो जाते हैं समाज हितैषी धर्मात्मा का कर्तव्य है कि समाज में ऐसी भावना जागृत करें कि योग्य लडके लड़कियों के विवाह सम्बन्ध होते रहें, गरीबी के कारण योग्य वर कन्याओं की विवाह शादी में कुछ रुकावट न आने पावे । इसके लिये विवाह शादियों में होने वाला व्यर्थ व्यय तथा भारी दहेज मांगने आदि की कुप्रथाएं दूर करने की पूरी चेष्टा करनी चाहिए, कितने दुःख की बात है कि बहुत से साधारण स्थिति के परिवारों की सुयोग्य कन्याएं मुँह मागा दहेज न देने के कारण कुमारी रह जाती हैं ।

अपने जो भाई निर्धन हैं अपने परिवार का पालन पोषण नहीं कर सकते, इसी कारण आर्थिक लोभ के कारण अपना धर्म छोडने के लिये लाचार होते हैं, उनको आजीविका का साधन जुटा देना धर्मात्मा का मुख्य कर्तव्य है । यथाशक्ति थोड़ी बहुत द्रव्य सहायता देकर उस बेकार भाई को छोटे-मोटे काम धन्धेमें लगा देना चाहिये । अपने पास या अन्य किसी के यहाँ नौकरी पर लगा देना चाहिये । अनाथ बच्चों तथा अनाथ स्त्रियों को अनाथालय, श्राविकाश्रम आदि में प्रविष्ट कराकर उनके पालन पोषण की व्यवस्था कर देनी चाहिये ।

सारांश यह है कि जिस प्रकार भी उपाय सफल हो सके उस तरह से अपने धर्म से डिगने भाई बहिन को अपने धर्म में पुनः स्थिर कर देना चाहिये।

ईसाई लोग भारत में अपना धर्म फैलाने के लिये लगभग २५ करोड़ रुपये वार्षिक खर्च करते हैं, उन्होंने अनेक स्थानों पर अपने गिर्जाघरों के द्वार पर अपने उपास्य हजरत यीशु की ओर से यह वाक्य लिख दिया है कि 'तुम मेरी शरण में आओ मै तुमको रोटी और कपडा दूंगा।' इस वाक्य को पढ़कर यदि कोई निर्धन निराश्रित व्यक्ति गिर्जा में वहाँ के पादरी की शरण में चला जावे तो सचमुच वहाँ का पादरी उस असहाय दीन व्यक्ति को ईसाई बनाकर उसके भोजन वस्त्र का प्रबन्ध कर देता है, उसके पढ़ने की व्यवस्था कर देता है या किसी कारोबार करने के लिये द्रव्य की व्यवस्था कर देता है।

ईसाइयों ने सात समुद्र पार करके भारत के दीन दरिद्र असहाय स्त्री पुरुषों को सभ्य शिक्षित बनाकर सम्पन्न बनाने के लिये सैकड़ों स्कूल, अनाथालय, कालेज, बोर्डिङ्ग, अस्पताल आदि खोल रक्खे हैं जिनमें पढ़ लिखकर, आश्रय पाकर हजारों व्यक्ति आराम से जीवन व्यतीत कर रहे है। जिस भारत में ४००–५०० वर्ष पहले एक भी ईसाई न था उस भारत में आज ६०–७० लाख ईसाई हैं।

हमको इस बात से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और ऐसी सुव्यवस्था सर्वत्र कर देनी चाहिये कि हमारा एक भी व्यक्ति हमारे समाज से बाहर न जाने पावे। जो व्यक्ति धर्म-पथ से चलायमान हो उसे जिस तरह भी हो पुनः अपने धर्म में स्थिर कर देना चाहिये।

प्रवचन नं० ४६

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, देहली।	श्रावण शुक्ला ५ रविवार, २४ जुलाई १६५५

वात्सल्य

कर्मबन्धन का प्रधान कारण कषाय भाव है। जीव के जब तक कषाय रहती है तब तक कर्म बन्ध होता रहता है, बारहवें गुणस्थान में जब कषाय समूल नष्ट हो जाती है तब कर्म नहीं होता। सयोगकेवली के वचनयोग तथा काययोग के कारण कार्माणवर्गणाओं का आस्रव हुआ करता है परन्तु कषाय न होने के कारण वे कार्माणवर्गणाए आत्मा से सम्बद्ध नहीं होने पातीं, पहले समय में आती हैं, दूसरे ही समय मे चली जाती हैं क्योंकि कषाय न होने से न तो उनमें कुछ स्थिति पड़ती है और न उनमें कुछ अनुभाग पड़ता है।

कषाय को चार भागों मे विभक्त किया गया है। क्रोध, (गुस्सा करना), मान (घमण्ड करना) माया (छल कपट करना) और लोभ (लालच करना)। ये ही चारों तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर के रूप में अनन्तानुबन्धी (सम्यग्दर्शन तथा स्वरूपाचरण चारित्र को प्रगट न होने देने वाला,) अप्रत्याख्यानावरण (देश चारित्र को न होने देने वाला), प्रत्याख्यानावरण (महाव्रत धारण के परिणाम न होने दे) और संज्वलन (यथाख्यात चारित्र न होने दे) ये चार श्रेणियां हैं। हास्य (हंसना), राग (प्रेम करना), द्वेष

(बैर करना), शोक (रंज करना) भय, (डरना), जुगुप्सा (घृणा करना) स्त्री वेद (पुरुष के साथ विषय सेवन के भाव), पु वेद (स्त्री के साथ रमण करने का भाव) और नपुंसक वेद (स्त्री पुरुष दोनों से रमने के भाव) ये नौ नोकषायों का अन्तर्भाव भी इन ही चार कषायों में हो जाता है। द्वेष, शोक, भय, जुगुप्सा को क्रोध मान का अंश माना गया है और हास्य, राग, स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसक वेद को माया लोभ में समावेश किया जाता है।

आठवें गुण स्थान तक सभी कषाएँ, नोकषायें रहती हैं, नौवें गुणस्थान में धीरे धीरे ये कषायें एक दूसरे रूप मे विलीन हो जाती है और नौवें गुणस्थान के अन्त में केवल संज्वलन श्रेणी का स्थूल लोभ रह जाता है, दशवें गुणस्थान मे वह लोभ आत्म परिणामों की बढती हुई विशुद्धता के कारण सूक्ष्म रूप में रह जाता है। बारहवें गुण स्थान में उस सूक्ष्म लोभ का भी समूल नाश होकर वीतराग या यथाख्यात चरित्र का भाव प्रगट हो जाता है। इस तरह ये कषाय भाव महान् तपश्चरण के द्वारा आत्मा से दूर हो जाते हैं।

सारांश यह है कि आत्मा में मलिनता इन कषायों के कारण आती है, इनके ही कारण आत्मा अपने स्वभाव से च्युत (पतित) है, अन्य ज्ञानावरण आदि कर्म आत्मा के ज्ञान आदि गुणों को विकृत नहीं करते, ज्ञान आदि के विकाश की मात्रा कम कर देते हैं ज्ञान को जड़ पदार्थों के समान अज्ञान आदि रूप नहीं करते, परन्तु ये कषाय भाव (मोहनीयकर्म) आत्म गुणों को विपरीत कर देते हैं। क्षमा को उलट कर क्रोध, मार्दव को उलटकर मान और आर्जव को उलट कर माया, और शौच को उलट कर लोभ तथा ब्रह्मचर्य को उलट कर स्त्री वेद, पुंवेद, नपुसक वेद के रूप में कर डालते हैं। इस तरह से आत्मा को सबसे अधिक हानिकारक प्रबल शत्रु ये कषाय हैं। प्रत्येक मनुष्य को इन कषायों को मंद करने का शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिये। अपना लक्ष्य तो इन को सर्वथा मिटा देने का करना चाहिये। परन्तु इनको निर्मूल करने के लिये जिस वज्रऋषभनाराच संहनन की तथा अटल शुक्ल ध्यान की अनिवार्य आवश्यकता है वह आज कल अप्राप्त है किसी भी जीव को नहीं होता, अतः इनको यथासम्भव कम करने का यत्न अवश्य करना चाहिये।

इन चारों कषायों के दो रूप है—१. शुभ, २. अशुभ। अपना खोटा स्वार्थ साधन करने से लिये क्रोध, मान, माया, लोभ, राग करना अशुभ कषाय हैं। पर उपकार के लिये तथा आत्म अभ्युदय के लिये किये गये क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, शुभ कहलाते हैं। किसी निरपराध निर्बल प्राणी पर क्रोध प्रगट करना, मारना, पीटना, शिकार खेलना, आग लगाना आदि कार्यों का क्रोध दुर्गति देने वाला अशुभ क्रोध है। धर्म, धर्मायतन (मन्दिर) पर, दीन निर्बल प्राणियों, स्त्रियों पर किसी दुष्ट का आक्रमण होता देख मन्दिर की रक्षा के लिगे दीन दुर्बल, स्त्रियों को बचाने के लिये दुर्जन व्यक्ति पर क्रोध आना शुभ क्रोध है ऐसा क्रोध शुभकर्म का बन्ध कराता है।

किसी अन्य धार्मिक, भद्र व्यक्ति को अपमानित करने के लिये, दीन निर्बल को नीचा दिखाने के लिए, अपना झूठा गौरव दिखाने के लिए जो अभिमान प्रगट किया जाता है वह अशुभ मान है उसके द्वारा अशुभ कर्म का उपार्जन होता है। अपना उचित गौरव रखना, नीच कार्य न करना, अपना पतन न होने देना स्वाभिमान प्रशंसनीय मान है। इस के आत्मा का उत्थान होता है।

अन्य व्यक्ति को फंसाने के लिये माया जाल रचना, दूसरे को हानि पहुंचाने के लिये कूट कपट करना, मीठे वचनो से दूसरे को विश्वास दिला कर धोखा देना, विश्वासघात करना, अशुभ मायाचार है इससे पशु आयु का तथा अन्य अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। किसी जीव की प्राण रक्षा के लिये शिकारी, आततायी दुष्ट व्यक्ति से कपट करना, धार्मिक रक्षा तथा किसी व्यक्ति को लाभ पहुँचाने के लिये छल करना शुभ माया है, इससे शुभ कर्म का बन्ध होता है।

दुःस्वार्थ साधन के लिये अन्य व्यक्ति की हानि की परवा न करके लाभ करना, लाभ के कारण अपने तथा परिवार के खान पान, वस्त्र आदि में भी कंजूसी करना, एक पाई का भी दान न करना, सदा धन संचय में निमग्न रहना अशुभ लोभ है इससे अशुभ कर्म का बन्ध होता है। आत्म शुद्धि के लिये, उच्च पद प्राप्त करने के लिये, ज्ञान बढ़ाने के लिये, उच्च आचार पालन करने के लिये मुक्ति प्राप्त करने के लिये लालसा रखना और उस लालसा से कार्य करना शुभ लोभ है। इसके द्वारा शुभ कर्मों का बन्ध होता है।

पुत्र मित्र, स्त्री, बहिन भाई परिवार से, धन, मकान, जमीन आदि से राग करना, दुष्ट, व्यभिचारी, जुआरी, मांसाहारी, वेश्या, व्यभिचारिणी पर स्त्री आदि से प्रेम करना, अपने शरीर में आत्मा की उपेक्षा करके तन्मय रहना तथा अन्य भी सांसारिक प्रेम को अशुभ राग कहते हैं ऐसे अशुभ प्रेम से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। सज्जन, ज्ञानवान, सदाचारी, व्रती त्यागी धर्मात्माओं से प्रेम करना, तीर्थस्थान, मन्दिर, धर्मस्थान से प्रेम करना, लोक उपकारी, समाज हितैषी भद्र व्यक्तियों से प्रेम करना, वीतराग परमात्मा की भक्ति करना, पूजा करना, साधु सेवा में अनुरक्त रहना, 'धर्म तथा धर्म के फल में अनुराग करना शुभराग है। इस राग से शुभकर्म का बन्ध होता है। परम्परा से मुक्ति का कारण होता है।

इस तरह कषायभाव यद्यपि पापकर्म का भेदरूप है किन्तु उनमें अशुभ अंश दुर्गति का कारण है अतः वह सदा त्याज्य है और उसका शुभ अंश सुगति तथा पुण्यबध का कारण है। तीर्थंकर प्रकृति, सर्वार्थसिद्धि विमान आदि उच्च स्थान इसी के द्वारा प्राप्त होते हैं, अतः वह ग्राह्य है।

सम्यग्दर्शन का वात्सल्य अंग इसी शुभ कषाय का एक अंश है। धार्मिक व्यक्तियों से अति अनुराग करना वात्सल्य अंग है। संसार में गाढ़ प्रेम की उपमा गाय बछड़े के प्रेम के साथ दी जाती है। एक ही रग रूप आयु कद की हजारों खड़ी हुई गायों में बछड़ा अपनी माता को तुरन्त पहचान लेता है और अनन्य प्रेम से दौड़ कर अपनी माता के निकट पहुँच जाता है तथा गाय अपने बछड़े पर कोई विपत्ति आते देखकर उसे बचाने के लिये अपने प्राण तक देने को तैयार हो जाती है। यदि सिंह भी उसके बच्चे पर झपटना चाहे तो गाय अपनी निर्बलता का विचार छोड़कर अपने बछड़े को बचाने के लिये अपने सींग सम्भालकर सिंह को मारने दौड़ती है। ऐसा ही गाढ़ प्रेम धार्मिक व्यक्ति का अन्य धार्मिक व्यक्ति के साथ होना वात्सल्य अग है।

कर्म का चक्र सदा एकसा नहीं रहता, कभी उसके कारण सुख शान्ति की सामग्री मिलती है और कभी दुःखदायक साधन जीवों को मिला करते हैं। तदनुसार धर्मात्मा भी सदा सुखी दशा में नहीं रह पाते, उन पर भी विपत्तियाँ आती हैं। उन विपत्तियों की भयानक स्थिति में उनका अत्यन्त

व्याकुल हो जाना सम्भव है ऐसे समय में अन्य धार्मिक व्यक्ति को उसकी विपत्ति निवारण के लिए सभी सम्भव उपाय करने चाहियें और तब तक निश्चिन्त न होना चाहिए जब तक कि उसका संकट दूर न हो जाय। धर्म का आधार धर्मात्मा होते है अत. धर्मात्मा का संकट निवारण धर्म का संकट निवारण है और धर्मात्मा से वात्सल्य धर्म के साथ वात्सल्य करना है।

सीता पर जब रावण के घर रहने के कारण रावण द्वारा सीता के शील भग की आशंका का अपवाद दुष्ट लोगो ने प्रचारित किया तब विवेकी राम ने भावुकता में आकर विवेक से काम न लेकर गर्भिणी सती पत्नी को निर्जन बन में छुडवा दिया। बहुत दिनो बाद जब पुनः राम सीता मिलन हुआ। उस समय राम ने सीता को अपने सतीत्व की अग्नि प्रवेश द्वारा परीक्षा देने की आज्ञा दी। निर्दोष सीता ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। तब एक ३०० हाथ लम्बा चौड़ा बडा भारी कुण्ड लकड़ियों से भरकर उसमे अग्नि प्रज्वलित की गई, अग्नि प्रज्वलित हो जाने पर सीता ने अग्नि को सम्बोधन करके कहा—

मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे,
मम यदि पतिभावो राघवादन्यपुंमि ।
तदिह दह शरीरं पावको मामकीनं,
सुकृत विकृत कार्ये देव साक्षी त्वमेव ॥

यानी—यदि मैं मन से, वचन से, काय से, जाग्रत दशा में अथवा सुप्त (सोती हुई) दशा में मैंने रामचन्द्र के सिवाय किसी अन्य पुरुष के साथ पति बनाने की भावना की हो तो हे अग्नि! तू मेरे शरीर को तुरन्त भस्म कर दे। इससे मेरे सुकृत्य और कुकृत्य की साक्षी (गवाह) तू ही है।

इतना कहकर निर्भय रूप से सीता भयानक दहकते हुए विशाल अग्निकुण्ड में कूद पडी। उस समय धर्मानुरागी देवों के हृदय में वात्सल्य भाव प्रगट हुआ और धर्मात्मा सीता की रक्षा के लिये तथा शीलधर्म का प्रभाव जनता में प्रगट करने के लिये उन देवों ने तत्काल उस अग्निकुण्ड को जलकुण्ड में परिणत कर दिया। सीता को कमल पर विराजमान कर दिया।

भगवान् पार्श्वनाथ जब आत्मध्यान-निमग्न थे तब कमठ के जीव असुर ने उनको देखते ही पूर्व-भव का द्वेष भाव जागृत किया और उनको कष्ट पहुँचाने के लिये महान उपसर्ग किया। इस उपसर्ग का पता ज्यों ही धरणेन्द्र पद्मावती को लगा वे तत्काल वात्सल्य भाव से भक्ति से प्रेरित होकर दौड़े आये और आकर तुरन्त वह उपद्रव शान्त कर दिया।

राम लक्ष्मण के समय में बज्रकर्ण नामक एक बहुत धार्मिक राजा था वह जिनेन्द्र भगवान् के सिवाय अन्य किसी को नमस्कार नहीं करता था। उसने अपनी अंगूठी में जिनेन्द्र की मूर्ति बनवा रक्खी थी, जिस से हाथ जोडकर शिर झुकाते समय बज्रकर्ण का नमस्कार सब से पहले जिनेन्द्र भगवान् को होता था। वह एक छोटा करद राजा था। सिंहोदर नामक एक बलवान् राजा ने उसकी इस बात से चिढ़ बज्रकर्ण को बन्दी बनाकर जेल में डाल दिया।

सयोग से बनवास के दिनों में घूमते फिरते राम लक्ष्मण उधर आये। लोगों द्वारा उनको ज्ञात हुआ कि दुष्ट सिंहोदर राजा ने धर्मात्मा बज्रकर्ण राजा को बन्दी बनाकर बन्दीघर में डाल दिया है।

यह सुनते ही उनके हृदय में धार्मिक वात्सल्य जाग्रत हुआ, अतः उन्होंने सिंहोदर को हराकर वज्रकर्ण को राज सिंहासन पर बिठाया।

इस तरह के वात्सल्य भाव की अनेक कथाएं ग्रन्थों में मिलती हैं।

आज भी इस वात्सल्य भाव की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि पहले कभी थी। स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्र जी जे० पी० बम्बई के हृदय में इतना वात्सल्य भाव था कि प्रत्येक धार्मिक बच्चे को अपना बच्चा और प्रत्येक धार्मिक बन्धु को अपना भाई समझते थे, उनकी भावना सदा यही रहती थी कि जैन समाज का बच्चा बच्चा मेरे समान हो जावे। इसी वात्सल्य के कारण उन्होंने अनेक विद्यालय, बोर्डिङ्ग, श्राविकाश्रम आदि स्थापित किये, छात्रवृत्ति फण्ड स्थापित किया।

स्वर्गीय पं० गोपालदासजी बरैया जैन सिद्धान्त के अपूर्व विद्वान् थे उनको धर्मात्माओं से बड़ा वात्सल्य था वे जैन समाज के प्रत्येक बच्चे को अपने समान प्रकाण्ड विद्वान् बना देना चाहते थे और उन्होंने ऐसा ही किया भी।

इस युग के प्रधान साधु प्रवर चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज में साधर्मी वात्सल्य उत्कट आदर्श रूप था जैन संस्कृति की सुरक्षाके लिये उन्होंने कठोर तपस्या की थी जिससे एक महान् संकट टल गया।

स्वर्गीय ला० देवीसहायजी फिरोजपुर आदि अनेक व्यक्ति वात्सल्य की मूर्ति थे। धर्म का, धार्मिक समाज का उत्थान और संगठन इसी वात्सल्य अंग के कारण हो सकता है, अतः वात्सल्य अंग का पालन प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को करना चाहिये।

प्रवचन नं० ५०

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली।	श्रावण शुक्ला ६ सोमवार, २५ जुलाई १६५५

प्रभावना अंग

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

—पुरुपार्थ सिद्धय् पाय।

यानी—रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) के तेज द्वारा अपना आत्मा प्रभावशाली बनाना चाहिये। और दान करके, कठोर तपस्या करके, बड़े समारोह से जिनेन्द्र देव की पूजा द्वारा तथा विद्या द्वारा एवं चमत्कारों से जैनधर्म का प्रभाव संसार में फैलाना चाहिये।

तीर्थंकर संसार में सबसे प्रभावशाली होते है गर्भ में आने से पूर्व ही उनका प्रभाव संसार में प्रगट होने लगता है, देव माता पिता के घर तथा उस नगर में तीर्थंकर के अवतरण के स्वागत में अनेक कार्य करते हैं। तदनन्तर जब तीर्थंकर माता के गर्भ में आते हैं तब से देव महान् हर्ष उत्सव करते हैं, ५६ कुमारिका (ब्रह्मचारिणी) देवियां उस समय से लेकर तीर्थंकर के जन्म तक माता की अनेक प्रकार से सेवा करती हैं जिससे माता का चित्त सदा प्रफुल्लित रहता है। तीर्थंकर का जब जन्म होता है तब समस्त जगत् में थोड़े से समय के लिये सुख शान्ति की लहर फैल जाती है। इन्द्रदेव सपरिवार तीर्थंकर के माता पिता के घर आकर महान् उत्सव करते हैं, तीर्थंकर का जन्माभिषेक सुमेरु पर्वत पर करते हैं। तीर्थंकर का शरीर सर्व साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अनेक विशेषताओं को लिये हुए प्रभावशाली होता है।

युवा हो जाने पर जब उनको संसार से वैराग्य होता है और वे समस्त राजसुख घर परिवार छोड़कर आत्मसाधना के लिये बन में जाने के लिये उद्यत होते हैं उस समय भी देवगण महान उत्सव मनाते हैं। तदनन्तर तपश्चरण करते हुए तीर्थंकर जब सर्वज्ञाता द्रष्टा अर्हन्त जीवन्मुक्त परमात्मा बन जाते हैं उस समय भी देवों द्वारा महान् उत्सव होता है। तीर्थंकर का दिव्य उपदेश सुविधा के साथ समस्त नर सुर पशु पक्षी सुन सकें, इसके लिये समवशरण नामक एक विशाल सभामण्डप देवों द्वारा निर्मित होता है जो कि अपने ढंग का एक अनूठा शिल्प का नमूना होता है। समवशरण में असंख्य देव देवी, स्त्री पुरुष, पशु पक्षी भगवान का उपदेश सुनने आते हैं, भगवान् का विश्वहितङ्कर उपदेश समस्त जीव अपनी अपनी भाषा में समझ लेते हैं। प्रत्येक स्थान पर कुछ दिन ठहर कर भगवान् का विहार होकर अन्य नगर प्रान्त देश में समवशरण का निर्माण होकर वहां उपदेश होता है, भगवान का उपदेश सुनकर जीवों के हृदय में नवीन जागृति उत्पन्न होती है, लोगों के हृदय से मोह अज्ञान का अन्धकार दूर होकर आध्यात्मिक ज्योति जगमगाने लगती है। इस तरह वे बहुत वर्षों तक सर्वत्र विहार करके अपने दिव्य प्रभावशाली उपदेश द्वारा जैनधर्म का प्रचार करते हैं।

तत्पश्चात् वे विहार, उपदेश देना आदि बन्द करके योग निरोध करके पूर्ण मुक्त हो जाते है उस समय भी देवगण महान् उत्सव किया करते हैं। इस तरह तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, वैराग्य, सर्वज्ञ तथा मुक्त होने के समय महान् उत्सव होता है जिसको देखकर लोगों के हृदय में आत्मकल्याण करने की भावना होती है, इसी कारण उन उत्सवों को 'कल्याण' कहते हैं। इस तरह तीर्थंकर महान् प्रभावशाली होते हैं।

तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रचारित धर्म जिन प्रभावशाली उपायों द्वारा अधिकाधिक संसार में व्यापक हो ऐसा प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये। इस प्रयत्न में बलप्रयोग, छल, अनाचार, अत्याचार तथा रक्तपात करने की आवश्यकता नहीं है। इस धर्म का प्रभाव बढाने के लिये नीति, न्याय, सद्व्यवहार, प्रेम का प्रयोग होना चाहिये। क्योंकि अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने हिंसा के रोकने के लिये हिंसक मनुष्यों पर जोर जबरदस्ती नहीं की थी, न उनका विनाश करने के लिये तलवार उठाई थी। उन्होंने अपने पवित्र उपदेश से उन हिंसक पुरुषों के हृदय बदल दिये थे जिससे उन्होंने स्वयं हिंसा करना बन्द कर दिया था, तथा जनता को अपने उपदेश से इतना प्रभावित किया कि उसने पशुयज्ञ करने स्वयं बन्द कर दिये। ऐसा ही सात्विक प्रभाव फैलाकर धर्म का प्रचार करना चाहिये।

इसके लिए सबसे पहले धार्मिक व्यक्ति को अपना आत्मा प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है। क्योंकि मनुष्य में जब तक अपने भीतर ही प्रभाव पराक्रम जाग्रत न हो तब तक वह दूसरों को धर्म के लिये कैसे प्रभावित कर सकता है ? इसके लिये धार्मिक व्यक्ति को आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान तथा उच्च सदाचरण प्राप्त करना परम आवश्यक है जब तक मनुष्य स्वयं श्रद्धालु, ज्ञानी और धर्माचरणी नहीं होगा तब तक उसके वचन में—उपदेश में दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति नहीं आ सकती।

एक मनुष्य का पुत्र बीमार हो गया, उसने उसको अच्छा करने के लिए अनेक वैद्यों से इलाज कराया किन्तु उसको किसी से आराम न आया। तब वह ६-७ कोस दूर एक झोंपड़ी में रहने वाले साधु के पास अपने पुत्र को लेकर गया। वह साधु भी अच्छा अनुभवी वैद्य था। उसने उस लड़के को अच्छी तरह देखकर उसके पिता से कहा कि तुम आठवें दिन मेरे पास आना तब मैं इसकी दवा तुम को बतलाऊँगा। वह मनुष्य अपने घर वापिस चला गया और ठीक आठवें दिन फिर उस साधु के पास अपने पुत्र को लेकर आ पहुंचा।

साधु ने उस लड़के को फिर अच्छी तरह देखकर उसके पिता से कहा कि इसको गुड़ खिलाना ४० दिन के लिये बिलकुल बन्द कर दो तो यह नीरोग (अच्छा) हो जायगा। साधु ने बड़े प्रेम से उस लड़के को भी गुड़ खाने के दोष समझाये, लड़के के हृदय पर अच्छा असर हुआ और उसने गुड़ खाना छोड़ दिया।

तब उस मनुष्य ने हाथ जोड़कर साधु से पूछा कि महाराज ! यह दवा आपने जो आज बतलाई है, यह उसी दिन क्यों न बतला दी, मुझे व्यर्थ इतनी दूर आने जाने का प्रयास करना पड़ा ? तब साधु ने उत्तर दिया कि उस दिन तक मैं स्वयं गुड़ खाता था, अतः उस दिन मैं तुम्हारे पुत्र को गुड़ के दोष बतलाता तो मेरे वचनों में वह असर कभी न आता जैसा आज प्रगट हुआ है, इसी कारण पिछले सात दिनों में जरा भी गुड़ नहीं खाया। तभी मेरे कहने का पूरा असर तुम्हारे पुत्र के मन पर हुआ है।

इसी कारण जो मनुष्य स्वयं धर्म आचरण नहीं करते वे चाहे जितना धर्म उपदेश दूसरों को दें किन्तु उसका प्रभाव दूसरों पर कुछ नहीं पड़ता अतः धर्म प्रचारक को प्रथम ही स्वयं धर्म आचरण करने की आवश्यकता है।

भगवान् महावीर के मुक्त हो जाने के पश्चात् जैनधर्म का सबसे अधिक प्रभावशाली प्रचार करने वाले विक्रम संवत् की दूसरी शताब्दी में श्री समन्तभद्र आचार्य हुए हैं। ऐतिहासिक विद्वानो के मतानुसार समन्तभद्र बाल ब्रह्मचारी क्षत्रिय राजपुत्र थे। वे न्याय, सिद्धान्त, व्याकरण, साहित्य आदि अनेक विषयों के उद्भट विद्वान् थे, शास्त्रार्थ करने में तो अजेयवादी थे।

उस समय भारतवर्ष में ऐसी प्रथा प्रचलित थी कि बड़े बड़े नगरों में टाउनहाल जैसा एक सार्वजनिक स्थान होता था जहाँ पर एक नगाडा रक्खा रहता था। वहाँ पर जब कोई बाहर का महान् विद्वान् आकर वहाँ के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ (हार जीत के लिए विद्वत्तापूर्ण वादविवाद) करना चाहता था, तो उस नगाड़े को बजा देता था। उस नगाड़े का शब्द सुनकर वहाँ के समस्त विद्वान् उस स्थान पर एकत्र हो जाते थे। आगन्तुक विद्वान् को उनके साथ शास्त्रार्थ करना पड़ता था यदि आगन्तुक

विद्वान् शास्त्रार्थ में जीत जाता था तो वहां के समस्त विद्वान उसको नमस्कार करके उसका सन्मान करते थे, यदि वह आगन्तुक विद्वान विवाद में हार जाता था तो उसे अपमानित करके नगर के अपद्वार (छोटे से दरवाजे) से निकाल दिया जाता था।

समन्तभद्र आचार्य ने भारत की चारों दिशाओं के प्राय: सभी प्रान्तों में भ्रमण किया था और वहां के प्रमुख नगरों में जाकर उन्होंने नगाड़ा बजाकर वहां के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किया। सभी जगह उनको विजय प्राप्त हुई।

करहाटक नगर में जब वे पहुँचे तब वहां के राजा के सामने अपना परिचय समन्तभद्र आचार्य ने निम्नलिखित पद्य द्वारा दिया—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताड़िता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

यानि—शास्त्रार्थ करने के लिये मैंने पहले पटना नगर में नगाड़ा बजाया था, फिर मालवा, सिन्ध, ढाका प्रान्त में तदनन्तर काञ्चीपुरम्, भिलसा नगर में शास्त्रार्थ करने के लिये नगाड़ा बजाया। अब इस शूरवीर भटों तथा विद्वानों के केन्द्र करहाटक नगर में आया हूँ। हे राजन्! मैं शास्त्रार्थ करने का इच्छुक सिंह के समान निर्भय विचरण कर रहा हूँ।

एक अन्य पद्य द्वारा अपना परिचय देते हुए समन्तभद्राचार्य कहते हैं—

राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रंथन्वादी ।

हे राजन्! मैं निर्ग्रन्थ जैनवादी (शास्त्रार्थ करने वाला) हूँ जिस विद्वान् की शक्ति हो मेरे सामने आकर जैन सिद्धान्त के विरुद्ध मुझ से शास्त्रार्थ कर ले।

इस तरह जैनेतर विद्वानों को ललकार कर समन्तभद्राचार्य ने सर्वत्र शास्त्रार्थ किये और विजय प्राप्त की। श्री समन्तभद्राचार्य के पर्यटन और शास्त्रार्थों के विषय में श्री एम० एस० रामस्वामी आयंगर 'स्टडीज़ इन साउथ इन्डियन जैनिज्म' पुस्तक में लिखते हैं—

'He met with no opposition from other sects whereever he went.'

'समन्तभद्र जहां कहीं भी (जैनधर्म के प्रचार के लिये) गये उनको अन्य सम्प्रदायों की ओर से विरोध का सामना नहीं करना पड़ा।'

इसी कारण आयंगर महोदय ने श्रीसमन्तभद्राचार्य को 'Ever fortune' 'सदा भाग्यशाली विजेता' लिखा है।

इस प्रकार श्री समन्तभद्राचार्य ने जैनधर्म की प्रभावना अपने उच्चकोटि के पवित्र आचार तथा उच्चकोटि की चतुर्मुखी विद्वत्ता एवं अनुपम वाक् शक्ति के द्वारा की।

इसी तरह श्री अकलंकदेव ने भी अपने समय में प्रख्यात बौद्ध विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करके जैनधर्म की प्रभावना की।

दिल्ली, उदयपुर, लश्कर आदि के विद्वान् भट्टारकों ने भी अनेक चमत्कार दिखलाकर विकट संकट समय जैनधर्म को प्रभावशाली बनाया। गंगराज्य के वीर सेनापति २८ युद्धों में विजय प्राप्त कराने के कारण वीर मार्तण्ड आदि २८ उपाधिधारक श्री चामुण्डराय ने श्री गोम्मटेश्वर का ५७ फुट ऊँचा प्रतिविम्ब श्रवण-बेलगोला में निर्माण कराकर जैनधर्म की प्रभावना की।

इसी प्रकार अनेक दानवीर उदार धनाढ्य श्रीमानों ने महान् दान करके जैनधर्म का प्रभाव प्रसार किया। इत्यादि अनेक प्रकार से हमारे पूर्वज महान् पुरुषों ने अपने समय में जैनधर्म की प्रभावना की।

इस युग में हम सब का कर्तव्य है कि प्रथम ही अपने पद अनुसार जैनधर्म का निर्दोष आचरण करके अपना ऐसा उच्चकोटि का जीवन बनावें जिसको देखकर दूसरे व्यक्तियों के हृदय में जैनधर्म का गौरव स्वय अंकित हो सके। इसके लिये हमारा नैतिक शुद्ध लेन देन, रहन सहन होना चाहिये। लोक कल्याण की भावना, अहिंसा, दया का क्रियात्मक रूप हमारे कार्यों में झलकना चाहिये। हमारी कोई भी प्रवृत्ति लोकहित के विरुद्ध न हो और देशहित का विरोधी कार्य हमारे द्वारा न हो, हमारे वचन विश्वस्त, हितकर, सत्य, सारभूत होने चाहियें।

तथा प्रत्येक उत्सव, सम्मेलन पर अच्छे विद्वानो के भाषणों द्वारा जैनधर्म का विश्वहितंकर सिद्धान्त सबके कानों तक पहुँचाना चाहिये। प्रत्येक भाषा में अनेकान्त, अहिंसा, कर्म सिद्धान्त, स्याद्वाद आदि विषयों के सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित करके जैनेतर विद्वानों को भेंट करने चाहियें।

इत्यादि उपायों द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये।

—:०:—

प्रवचन नं० ५१

स्थानः— तिथिः—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। श्रावण शुक्ला ७ मंगलवार, २६ जुलाई १९५५

स्वार्थी संसार

'सर्वः स्वार्थं समीहते' सब कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है।

तत्काल उत्पन्न हुआ भोला मासूम बच्चा, जिसे कि अभी संसार का कुछ ज्ञान नहीं, अपने पराये की पहिचान नहीं, अपने हितकारी अहितकारी का बोध नहीं, वह भी अपनी माता की ही छाती से चिपटा रहता है, अन्य किसी व्यक्ति के पास नहीं जाना चाहता, क्योंकि उसकी माता ही उसका पालन पोषण

करती है उनको अपने स्तनों का दूध पिलाती है, उस पर स्नेह का हाथ फेरती है, उसका मल मूत्र स्वयं अपने हाथों से साफ करती है, रात्रि को उस बच्चे के मूत्र कर देने पर स्वय गीले बिछौने पर लेट जाती और उस बच्चे को सूखे बिस्तर पर सुला देती है। माता की इस सेवा भाव का उस बच्चे को बहुत कुछ पता है, इसी कारण वह अपनी माता से सदा चिपटा रहना चाहता है।

माता भी उस बच्चे से स्नेह इसी कारण करती है कि नौ मास तक उसने उस बच्चे को अपने पेट में रखा है, प्रसूति की असह्य वेदना के पश्चात् उसे प्राप्त किया है, अतः उसे अपनी जीती जागती प्रिय वस्तु समझती है, उसका मुख देखते ही उसके समस्त दुःख क्षण भर के लिये विलीन हो जाते हैं। इसके सिवाय उसे भविष्य के लिये भी उस बच्चे से अपने लिये कुछ अनुकूल आशा है।

पिता का प्रेम भी अपने पुत्र से इसी आधार पर है कि वह उसे अपनी निधि समझता है अपने बोये हुए बीज का सुन्दर अंकुर मानता है, अपने कुल का संचालक समझता है तथा अपने घर का प्रकाशमान दीपक, अपने नेत्रों और हृदय को आनन्ददायक अनुभव करता है और आने वाली वृद्धावस्था में अपना सहारा ख़्याल करता है।

किन्तु माता और पिता का यह अनुपम स्नेह भी तभी तक रहता है जब तक कि वे उस पुत्र को अपने लिये स्वार्थ-साधक समझते हैं, जिस समय उन्हें उस पुत्र के कारण अपने स्वार्थ में बाधा प्रतीत हो उस समय वे उस मासूम बच्चे को भी निर्दयता से गला घोंट कर मारने या असहाय छोडने में भी देर नहीं करते। अनेक कुमारी लडकियां या कुलीन विधवायें अपनी व्यभिचार जात सन्तान को मार कर जहां तहां कूड़े में फेंक देती हैं। बहुत सी यदि उस पर कुछ दया करती हैं तो उसे मारती नहीं हैं किन्तु यों ही रख कर छोड देती हैं।

कई वर्ष हो गये हरिद्वार में कुम्भ का बहुत भारी मेला हुआ था, वहा पर कुछ गुण्डों ने यात्रियों के माल पर हाथ साफ करने के लिये रात्रि के तीसरे पहर में चारों ओर से कोलाहल मचा दिया कि 'गगा में बाढ़ आ गई है, भागो भागो।' निद्रा में अचेत स्त्री पुरुष एकदम उठकर बेतहाशा जिसको जिधर मार्ग मिला दौड पड़े। उस भागा दौड़ी में अनेक मातायें अपने बच्चे को लेकर भागने में अड़चन खयाल कर वहीं छोड गई, कोई कोई भागते समय अपने बच्चों को इधर उधर पटक गईं। सेवा समिति के स्वय सेवकों ने प्रातः ऐसे छोड़े हुए तथा फेंके हुए बहुत से जीवित और बहुत से मृतक बच्चे प्राप्त किये।

प्रसिद्ध बुन्देला वीर छत्रसाल को जब कि वह दुध मुंहा था तब उसके माता पिता बादशाह के आक्रमण से भागते समय एक झाड़ी में रखकर छोड गए थे, दैवयोग से उस झाडी में उस बच्चे छत्रसाल के ऊपर मधु मक्खियों का एक छत्ता था, उस छत्ते में से एक एक बूंद शहद उस बच्चे के मुख पर गिरता रहा उसी को चाट चाट कर वह छोटा बच्चा सात दिन तक उस झाडी में स्वयं पलता रहा, खेलता रहा, प्रसन्न रहा।

नूरजहां भी जब बहुत छोटी दुधमुंही थी उसके माता पिता ईरान की ओर भागते समय उसे रेगिस्तान में रखकर छोड़ गए थे।

बन्दरी अपने बच्चे को बहुत प्रेम करती है, यदि उसका बच्चा मर जावे तो कहते हैं कि उस

मृतक बच्चे को भी छाती से चिपटाये फिरती है, उसे तब तक नहीं छोड़ती जब तक कि उसके दूसरा बच्चा नहीं हो जाता है। उस वानरी पर भी जब आपत्ति आती है तो वह भी उस बच्चे को अपने प्राण बचाने के लिये मार देती है।

उत्तर प्रदेश में एक बार बहुत भारी बाढ़ आई, एक गांव में मकान के ऊपर एक बन्दरी बैठी हुई थी वह भी उस पानी की बाढ़ में घिर गई। पानी बढ़ता ही गया जब बन्दरी डूबने लगी तो उसने अपने बच्चे को पैरों के नीचे रख कर अपनी जान बचाई। इसी कारण एक नीतिकार ने कहा है कि—

वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसाः।
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्ध वनान्तं मृगाः॥
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं सेवकाः।
सर्वः कार्य वशाज्जनो हि रमते कः कस्य को बल्लभः॥

यानी—फल, फूल, पत्ते न रहने पर वृक्ष को पक्षी छोड़ जाते हैं, तालाब का पानी सूख जाने पर सारस तालाब को छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, फूलों के न रहने पर भौंरे झाड़ियों पर गूंजना मँडराना छोड़ देते हैं, जगल के जल जाने पर वहाँ से हिरण दूसरी जगह चल देते हैं, समस्त द्रव्य समाप्त हो जाने पर वेश्यायें अपने प्रेमी से प्रेम तोड़ लेती हैं, राज्य से भ्रष्ट राजा को उसके नौकर चाकर छोड़ जाते हैं, इस तरह संसार में सब कोई अपने मतलब से प्रेम करता है, बिना स्वार्थ सधे कौन किसका है और कौन किस को प्यारा है? अर्थात् कोई किसी से प्रेम नहीं करता सब अपने स्वार्थ से प्रेम करते हैं।

एक नगर में एक दरिद्र ब्राह्मण के अनेक पुत्र थे। सभी बहुत सुन्दर थे। उस नगर के राजा ने एक बार नगर के बाहर नदी पर पुल बनवाना प्रारम्भ किया। किन्तु पुल ज्यों ही बन जाता कि तुरन्त गिर पडा। अनेक बार पुल बना और प्रत्येक बार अपने आप गिर भी पड़ा। राजा विस्मित और दुःखी था, बने हुए मजबूत पुल के अपने आप गिरने का कारण उसे ज्ञात न हो सका, तब एक निमित्त ज्ञानी ने राजा से कहा कि नदी में रहने वाली देवी एक आदमी की बलि चाहती है।

तब राजा ने एक सोने का बालक बनाकर रथ में बिठाकर नगर में घुमाया और घोषणा की कि जो व्यक्ति देवी की बलि के लिये अपना पुत्र देगा उसको यह सोने का बालक दिया जायगा। घोषणा सुन कर उस ब्राह्मण के हृदय में लोभ आ गया उसने पत्नी से सलाह की, ब्राह्मणी पहले तो अपना कोई भी पुत्र देने को राजी न हुई किन्तु सोने का लोभ उसको भी आ गया तब वह भी मान गई। इस पर ब्राह्मण ने अपना एक १० वर्ष का पुत्र राजा को देना स्वीकार कर लिया।

जब राजकर्मचारी उस लड़के को लेने आये तब वह लड़का अपनी माता के पास गया और रोकर अपने बचाव के लिए कहने लगा, उसकी मां बोली बेटा! यहाँ हमारे घर खाने पीने को भी नहीं है, तू राजा के घर खुश रहेगा। तब लड़का पिता के पास पहुँचा, पिता ने भी अपनी गरीबी का बहाना बनाकर उस लड़के को राजकर्मचारियों के साथ चले जाने को कहा। जब लड़के ने देखा कि माता पिता मुझे घर में नहीं रखना चाहते तब वह प्रसन्नता से राजकर्मचारियों के साथ चला गया।

राजा ने उसे स्नान कराकर सुन्दर वस्त्र आभूषण पहनाकर रथ में बिठाया और उसकी बलि देने के लिये नदी की ओर ले चला। लड़के की सुन्दरता को देख कर नगर के नर नारियों को उस पर बहुत दया आती थी। किन्तु वह लड़का हँस रहा था। राजा ने लड़के से हँसने का कारण पूछा। उस लड़के ने उत्तर दिया—

'राजन! जगत् में सबसे अधिक रक्षा करने वाली माता होती है, सो उस माता ने मेरी रक्षा नहीं की, उसके बाद दूसरा रक्षक पिता होता है सो मेरा पिता भी सोने के लोभ में आकर मेरी रक्षा के लिए तैयार न हुआ। पिता के बाद रक्षक राजा हुआ करता है सो राजा भी मुझे बलि देने ले जा रहा है। इस कारण ससार की स्वार्थ लीला देखकर मुझे हँसी आ रही है।

राजा के हृदय में उस लड़के के शब्दों का बड़ा प्रभाव पड़ा, किन्तु फिर भी पुल बनाने की धुन में उस पर कुछ विचार न किया। नदी पर पहुंच कर जब उस लड़के को बलि देने का समय आया तब उस लड़के ने भगवान का ध्यान किया। उसी समय एक देवी नदी में से प्रगट हुई उसने उस लड़के का अभयदान दिया और राजा से कहा कि अब कोई बलि चढ़ाने की आवश्यकता नहीं, तुम पुल बना लो, अब कोई बाधा न आवेगी। राजा प्रसन्न हुआ उसने उस लड़के को छाती से लगा लिया, उधर उसके माता पिता भी दौड़े आये। घर ले जाने लगे।

तब उस लड़के ने राजा तथा अपने माता पिता से कहा कि 'आप लोगों ने तो स्वार्थवश आज मेरे प्राणों की बाजी लगा ही दी थी। मुझे तो आज भगवान् ने बचाया है अतः अब तो मेरा सारा जीवन भगवान् के ध्यान में बीतेगा।' इतना कह कर वह वन में एक मुनि के पास पहुंचा और दीक्षा लेकर उनका शिष्य बन गया।

पति पत्नी का प्रेम भी स्वार्थ से भरा हुआ है। अपनी स्त्री चेचक आदि किसी रोग के कारण बीमार हो जाय तो पति उससे विरक्त हो जाता है उसको छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है, उससे पहले जैसा अनुराग नहीं करता। यदि सन्तान उत्पन्न न हो तो वह पति अपनी स्त्री को बन्ध्या समझ कर उसका अनादर करता है, दूसरा विवाह करने को तैयार हो जाता है। ४-५ सन्तानें हो जाने पर स्त्री के सौंदर्य में कमी आ जावे तो वह अपनी पत्नी से प्रेम में कमी करने लगता है।

इसी तरह पत्नी को अपना पति तभी तक प्राणप्रिय प्रतीत होता है जब तक कि वह उससे अपना स्वार्थ सधता देखती है। पति यदि उसकी इच्छाओं को पूर्ण न कर सके, व्यापार में घाटा आ जाने से या नौकरी छूट जाने से पति उसके लिये यथेच्छ वस्त्र आभूषण न ला सके, किसी रोग में अङ्गहीन, कुरूप, पगु या निर्बल हो जाय तो वह अपने उसी प्राणप्रिय पति का अनादर करने लगती है।

पुत्र भी माता पिता की सेवा सुश्रूषा तभी तक करता है जब तक कि उन से अपनी स्वार्थ-सिद्धि देखता है, विवाह हो जाने पर अथवा धन उपार्जन की योग्यता हो जाने पर या माता पिता से पूर्ण सम्पत्ति मिल जाने पर वही लाड़ प्यार से पाला हुआ पुत्र अपने माता पिता का अनादर करने लगता है। किसी कवि ने कहा है—

आस्तन्यपानाज्जननी पशूनामादार लाभाच्च नराधमानाम् ।
आगेह कर्मैव तु मध्यमानामाजीवितात्तीर्थ मिवोत्तमानाम् ॥

अर्थात्—जब तक माता का दूध पीते हैं तब तक तो पशु अपनी माता का आदर करते हैं उसे माता समझते हैं, नीच पुरुष अपनी माता का आदर तब तक करते हैं जब तक कि उन का विवाह नहीं हो जाता, मध्यम श्रेणी के मनुष्य माता का आदर तब तक करते हैं जब तक कि वह घर के काम काज करती रहती है और उत्तम पुरुष जन्म भर तीर्थ की तरह माता की पूजा करते हैं।

इसी स्वार्थी संसार में ऐसे उत्तम पुरुषों की संख्या नगण्य-सी है इसी प्रकार भाई बहिन, मामा भानजे आदि का तथा मित्रों का प्रेम भी स्वार्थ के सहारे फलता फूलता है, निर्धन बहिन से भाई का प्रेम कम हो जाता है, निर्धन भाई को बहिन अपना भाई कहने में अपना अपमान समझती है। जब तक धन पास में रहता है तब तक उस के मित्र भी साथ साथ लगे फिरते हैं, निर्धन दशा में कोई मित्र पास नहीं फटकता है।

इस तरह संसार में सर्वत्र स्वार्थ का जाल बिछा हुआ है, उसी जाल में फंसकर संसारिक जीव अपना तथा दूसरों का अहित कर रहे हैं। संसार में अनादि काल से रहते हुए भी उन्हें अभी तक न तो अपने पराये की पहचान हुई है और न उन्होंने अपना हित अहित पहचान पाया है।

संसार में आत्मा अकेला है। जन्म, मरण, सुख, दुःख अकेला भोगता, नरक अकेला जाता है, स्वर्ग में जाते समय भी कोई उस का साथी नहीं होता। अतः परिवार में रहते हुए, परिवार का पालन-पोषण करते हुए हृदय में यह धारणा रखनी चाहिए कि इस जन्म की यात्रा में माता पिता भाई बहिन पुत्र स्त्री आदि नाम रखकर ये कुछ यात्री कुछ समय के लिए मिल गये हैं। अपने अपने समय पर सब अपनी अपनी दिशा को अकेले तुझे छोड़ कर चल देंगे, इस कारण से इन को अपना समझने की भूल न करनी चाहिये। न उनके पालन पोषण के लिये धन उपार्जन में चोरी अन्याय अनीति करके पाप कर्म का बन्ध करना चाहिए क्योंकि कमाये हुए धन में तो सब भागीदार बन जावेंगे परन्तु पापकर्म का दुःखदायक फल भोगने में कोई भी भागीदार नहीं बनेगा।

इस लिये जीव का लाभदायक, सुखकारी सच्चा स्वार्थ धर्म सेवन है, धर्म ही अपना सच्चा मित्र, भाई पिता पुत्र है, धर्म के सिवाय संसार में अपना कोई हितु नहीं है।

प्रवचन नं० ५२

स्थानः—	तिथिः—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली	श्रावण शुक्ला ८ बुधवार, २७ जुलाई १९५५

धन क्या है ?

जो वस्तु जीवन के आधारभूत है उसे धन ('दधातिधारयति सारत्वं तत धनम्') कहते हैं।

तदनुसार संसारी जीव के लिये भोजन, वस्त्र, मकान, गाय, बैल आदि विभिन्न रूप से जीवन उपयोगी पदार्थों को धन समझा जाता है। अनेक ग्रन्थों में धन शब्द से गाय आदि पशुओं का अभिप्राय प्रगट किया गया है। श्री उमास्वामी आचार्य ने परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचारों का निर्देश 'क्षेत्र वास्तु-हिरण्यसुवर्ण धनधान्य दासी दास कुप्यप्रमाणातिक्रमाः' सूत्र लिखा है, तदनुसार उन्होंने जमीन, मकान, चाँदी, सोना, धन-धान्य (अनाज), नौकरानी, नौकर, वस्त्र, इन सब पदार्थों को परिग्रह में गिनाया है। इनमें सोना, चाँदी को धन से पृथक् स्वतन्त्र रक्खा है, अतः उन्होंने धन आज की तरह सोने चाँदी को नहीं माना। तत्वार्थसूत्र के प्रसिद्ध प्राचीन टीकाकार श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी धन का अर्थ आज कल के अनुसार न करके गाय आदि पशु (धन गवादि) किया है। इसका अभिप्राय यही है कि गाय भैंस आदि से दूध जैसा जीवन-उपयोगी पदार्थ मिलता है अतः उसे धन माना गया है। बैल, घोड़ा, ऊँट आदि पशु खेती बाड़ी, भारवहन (बोझा ढोना) सवारी आदि जीवन-सम्बन्धी अन्य कार्यों में उपयोगी होते हैं अतः वे सब धन माने गये हैं।

प्राचीन समय में धनिक व्यक्ति का अनुमान उसके पास इन पशुओं द्वारा भी लगाया जाता था, आज भी पशु पालन करने वाले व्यक्तियों के धन का अनुमान उनके पास उपलब्ध गाय बैल आदि पशुओं से लगाया जाता है। और जब कि इन पशुओं का अच्छी रकमों से क्रय विक्रय (खरीद बिक्री) होता है तो ये धन तो अपने आप बन गये।

परन्तु आजकल रुपया पैसा को मुख्य रूप से धन माना जाता है, इसका भी अभिप्राय यही है कि राज-प्रबन्ध से रुपया पैसा, वह चाहे सोने, चाँदी, तांबे, गिलट निकल आदि किसी भी धातु का बनाया जावे जीवन उपयोगी सभी अन्न वस्त्र आदि पदार्थों की खरीद बिक्री का माध्यम बन गया है अतः वह धन रूप माना जाने लगा है। सरकार की अच्छी साख होने से कागज के नोट भी आज धन माने जा रहे हैं। राज्य क्रान्ति के समय ऐसे सरकारी नोट अमान्य हो जाते हैं अतः नोटों के धनी तत्काल दरिद्र हो जाते हैं, जिस तरह रूस में राज्यक्रान्ति के बाद वहाँ का एक रुपये का नोट (रुबल) एक रुपये में २०० तक बिकता रहा।

किन्तु सोना चाँदी ऐसी धातुएं जो थोड़ी उत्पन्न होती हैं किन्तु इनकी मांग सभी देशों में आभूषण औषधि आदि पदार्थों के निर्माण के लिये होती है, अतः सभी देश सोने चाँदी को समान रूप से महत्व देते हैं, इसी कारण सोने चाँदी के मूल्य में चढाव उतार सब जगह प्रायः एक सा रहता है तथा सभी देश इन धातुओं को निःसंकोच लेने के लिये तैयार रहते हैं इस तरह सोना चाँदी विश्व का एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वस्त धन बन गया है। जिसके बदले में मनुष्य चाहे जहाँ पर, चाहे जो पदार्थ खरीद सकता है।

इसी कारण अन्य धनों या पदार्थों की अपेक्षा सोने चाँदी का महत्व संसार में इस समय बहुत अधिक है तथा प्राचीन समय मे भी रहा है। इस तरह जीवन उपयोगी पदार्थ सोना, चाँदी, मकान, जमीन, अन्न, वस्त्र, गाय, भैंस आदि पदार्थ धन कहे जाते हैं। जिन मनुष्यों के पास ये चीजें प्रचुर मात्र में होती हैं वे धनिक समझे जाते हैं और जिनके पास ये वस्तुएं कम होती हैं अथवा न होना जैसी होती हैं, उनको निर्धन, दरिद्र या गरीब समझा जाता है। धनिक व्यक्ति अपना जीवन निर्वाह बहुत आराम और सुविधा के साथ करते हैं जब कि निर्धन व्यक्ति अपने जीवन को बहुत कठिनाइयों

और कष्टों से निकाल पाते हैं। धन की इस विषमता और उसके कारण जीवन की सुविधा तथा दुविधा को लेकर संसार में धन संचय के लिये होड़ लगी हुई है। कोई व्यक्ति अपने बुद्धिबल तथा भाग्यबल से अधिक धन संचय कर लेता है जब कि अन्य व्यक्ति बुद्धिबल तथा भाग्यबल के अभाव में धन संचय नहीं कर पाता।

इसी बात को लेकर संसार में हिंसा, असत्य भाषण, धोखा, चोरी, व्यभिचार, डकैती, बेईमानी, अन्याय, अत्याचार आदि अंकुरित होते हैं, फलते, फूलते और फैलते हैं। इन अशांति के कारणों की रोक थाम तथा शान्ति स्थापना के लिये किसी शासक या राजा आदि प्रबन्धक की आवश्यकता होती है। उस शासक राजा को शांति स्थापना के लिये सेना, पुलिस, न्यायालय, न्यायाधीश आदि व्यक्तियों तथा संस्थाओं की आवश्यकता होती है। उस आवश्यकता के अनुसार अपने सेना पुलिस न्याय विभाग आदि के कर्मचारियों के निर्वाह के लिये वेतन (तनख्वाह) देनी पड़ती है। उस वेतन खर्च के लिये राजा को धन आवश्यक होता है, अत: वह राजा धन प्राप्त करने के लिये आयकर (इन्कम टैक्स), तटकर (चुंगी), गृहकर (हाउस टैक्स), भूमिकर (लगान), आदिक कर जनता पर लगाता है। इस तरह राजा का कोष (खजाना) भरता है और जनता के प्राणों तथा उसके माल की रक्षा होती है।

राज-प्रणालियों में समय समय पर महान् क्रान्ति होकर परिवर्तन हो जाते हैं किन्तु शान्ति व्यवस्था तथा विविध कर (टैक्स) लगाने की प्रणाली थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ प्राय: उसी ढङ्ग की रहती है।

इस तरह धन की पकड़ के लिये यह ससार का सारा चक्र चल रहा है। कुछ शताब्दियों से धन की भारी विषमता जनता में आ गई जिस के कारण कुछ व्यक्तियों के पास धन बहुत अधिक एकत्र होगया और अधिकतर जनता निर्धन बन गई। तथा यह प्रवाह ऐसे ढंग से चलता रहा कि धनिक व्यक्ति अधिक धनाढ्य बनते गये और गरीब और भी अधिक गरीब होते गए। इस धनिकता निर्धनता का कारण कुछ तो अपना अपना बुद्धिबल है और कुछ भाग्य माना गया है परन्तु कार्ल्स मार्क ने, जो कि अच्छा बुद्धिमान किन्तु अत्यन्त गरीब व्यक्ति था निर्धनता के कारण वह अपने बीमार बच्चों की चिकित्सा भी न करा सका जिस से इलाज न होने से उसके कई बच्चे मर गये, अपने बुद्धि बल से राज प्रणाली के कुछ ऐसे साम्यवादी सिद्धान्त बनाये जिस से धनिक निर्धन का भेद भाव मिट जावे। कार्ल्स मार्क के वे सिद्धान्त उस के जीवन में प्रयुक्त न हो सके परन्तु प्रथम महा युद्ध के पश्चात् जब रूस में राज्यक्रांति होकर जारशाही समूल नष्ट हो कर राजसत्ता लेलिन के हाथ में आई तब उसने रूस में अमीर गरीब का भेद भाव मिटाने के लिये कम्यूनिज्म (साम्यवाद) के रूप में कार्ल्स मार्क के सिद्धान्तों का क्रियात्मक प्रयोग रूस में किया। इस साम्यवाद को व्यवहारिक रूप देने के लिये रूस में लाखों मनुष्य फांसी पर चढ़ाये गये। वहाँ पर सभी सम्पत्ति राष्ट्र की मानी जाती है, प्रत्येक व्यक्ति को उस की आवश्यकता के अनुसार घर भोजन वस्त्र देने की व्यवस्था राज्य की ओर से होती है, परिश्रम सब किसी को अपने योग्य करना पड़ता है। अनाथ बच्चों, स्त्रियों का पालन पोषण शिक्षण आदि राज्य की ओर से होता है। किसी व्यक्ति को यह चिन्ता नहीं करनी पड़ती है कि मेरे मर जाने के बाद मेरे बच्चों का पालन पोषण कैसे होगा।

ऐसा होते हुए भी अफसर, सिपाही, चपरासी, मजदूर आदि का ऊँचा नीचा भेद, थोड़ी तथा अधिक तनख्वाह मिलने का भेद तो उस साम्यवादी रूस में भी है, राज्य के विरुद्ध एक भी शब्द न कहने,

देश की गोपनीय बात बाहर न भेजने, धर्म पालन न करने देने आदि अनेक बातों की सख्त पराधीनता सब से अधिक रूस में है। रूस चीन में घूमकर जो भारतीय भारत में लौटे हैं उन्होंने बतलाया है कि वहाँ भिखारी भी देखे गये हैं।

कुछ भी हो, परन्तु रूस की साम्यवाद प्रणाली का प्रभाव सारे देशों में किसी न किसी अश में अवश्य पहुँचा है। स्वतन्त्र भारत की शासन पद्धति में जो समाजवाद को अपनाया गया है वह समाजवाद भी रूस के साम्यवाद का छोटा भाई है। तदनुसार यहां भी राजों महाराजों, जमींदारों, जागीरदारों से राज्य, जमीन, आदि गाव छीन लिये गये हैं। अतः गरीब अमीर का पर्वत और तिल जैसा महान् अन्तर तो मिटा दिया गया है। अब धनिक निर्धन के वर्तमान महान् अन्तर को कम करने के लिये धनिकों पर मृत्यु कर आदि लगा कर उनकी सम्पत्ति कम करने का तथा मजदूरों किसानों आदि गरीबों की तनखा आमदनी बढ़ाने का यत्न चालू है। यही प्रणाली चलती रही तो कुछ वर्षों बाद भारत में लखपति से अधिक धनिक कोई न रहेगा।

उधर अमेरिका इङ्गलेण्ड आदि पूँजीवादी देशों में ग़रीब मज़दूर आदि निम्न श्रेणी के लोग पूंजीवाद को समाप्त करके साम्यवाद की सी राज्यप्रणाली चाहते हैं, किन्तु वहां के पूजीपति ऐसा न होने देने के लिये महान प्रयत्न कर रहे हैं। भारत के सिवाय प्रायः सभी देश रूसी तथा अमेरिकन गुट बन्दी में बँट गये हैं।

कुछ भी हो जब तक संसार है तब तक अपने अच्छे बुरे कर्तव्यों के अनुसार पुण्य पाप कर्म का बन्ध होता ही रहेगा। और उन कर्मों के अनुसार ससारी जीवों में विषमता बनी ही रहेगी, कोई सुखी होगा तो कोई दुःखी। समस्त जीवों का एक समान होना असंभव है, धर्म का फल अच्छा ही रहेगा और पाप का फल बुरा अवश्य भोगना पड़ेगा।

इस तरह यह समस्त भाग दौड़, राज प्रणाली, वर्गयुद्ध, अमोर, गरीब, स्वामी चाकर, छोटे बड़े की समस्याए केवल इस भौतिक धन के कारण पैदा हो रही हैं। धन के लिये ही बहिन सहोदर भाई को निर्दयता से मार देती है और भाई सहोदर भाई का प्राण ले लेता है। अबोध छोटा बच्चा भी पैसे को मुट्ठी बाँध कर रख लेता है। इस तरह जड़ धन इस चेतन मनुष्य का एक प्राण ही नहीं बल्कि प्राण से अधिक प्रिय पदार्थ बन गया है। मनुष्य को इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करके एक कवि कहता है—

एकस्यैकं क्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीव हृते धने ॥

यानी—किसी मनुष्य को मार देने पर तो उसी एक मरने वाले व्यक्ति को क्षण भर दुःख होता है किन्तु किसी का धन छीन लेने पर तो उस मनुष्य को ही नहीं बल्कि उसके पुत्र नाती, भाई स्त्री आदि को जन्म भर दुःख होता है।

भारत में जमीदारी छिन जाने पर इसी दुःख में बहुत से जमींदार पागल हो गये हैं उनकी चिकित्सा आगरा के पागलखाने में हो रही है।

ठीक है, मनुष्य जब तक पर्याय बुद्धि है तब तक शरीर को ही आत्मा मानता है, शरीर की उत्पत्ति में अपना जन्म होना तथा शरीर की मृत्यु में अपना मरण समझना है, शरीर के साथ ममत्व का परिणाम नहीं छोडता तब तक यह भौतिक जड़ पदार्थ (धन) प्राणों से अधिक प्रिय हो सकता है क्योंकि शरीर का पोषण जिन पदार्थों से हुआ करता है, इन्द्रियों के विषय भोग इस धन के द्वारा ही उपलब्ध होते हैं शरीर स्वय भौतिक जड है इसका पालन पोषण संवर्द्धन जड़ पदार्थों के द्वारा ही हो सकता है तथा होता है, अतः पर्याय बुद्धि बहिरात्मा को धन प्राणों से भी प्रिय क्यों न हो ? परन्तु जब यह आत्मा अपने चैतन्यरूप का क्षण भर भी अनुभव कर लेता है तो उसी समय इसकी धारणा बदल जाती है, उस समय इसको न धन से ममता रहनी है, न विषय भोगों से प्रेम। उस समय आत्म-अनुभव में परम सुख शान्ति प्राप्त होती है। आचार्यों ने स्व-अनुभव से कहा है—

तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि।
अति दिन परमानन्दो वदति विषय एव रमणीयाः॥

यानी—जिस मनुष्य को कभी घी खाने के लिये नहीं मिला, वह मनुष्य तिलों के तेल को ही मीठा समझता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य को आत्मा के परम आनन्द का अनुभव नहीं हुआ वह इन्द्रियों के विषयों को आनन्द रूप समझता है।

अपने आप को सब से अधिक बुद्धिमान समझने वाला मनुष्य अपनी अक्षय आत्मनिधि को न समझ पावे और भौतिक धन को ही धन मानता रहे, यह बड़े खेद की बात है।

—:०:—

प्रवचन नं० ५३

स्थानः— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथिः— श्रावण शुक्ला ६ वृहस्पतिवार, २८ जुलाई १९५५

धर्मात्मा का धन

समायाति यदा लक्ष्मीनालिकेर फलाम्बुवत्।
विनिर्याति यदालक्ष्मी गजभुक्त कपित्थवत्॥

यानी —पूर्वकृत पुण्यकर्म के अनुसार मनुष्य के पास लक्ष्मी आती है तो ऐसे छप्पर फाड़ करके आती है जैसे ऊचे पेड पर लगे हुए नारियल में पानी। कच्चे नारियल में इतने ऊँचे वृक्ष पर पानी कहॉ से भर जाता है यह स्थूल दृष्टि से किसी को ज्ञात नहीं हो पाता। और पाप कर्म के उदय से जब लक्ष्मी जाती है तब ऐसे चुपचाप चली जाती है जैसे हाथी द्वारा खाये गये कैथ में से गूदा चला जाता है ! कैथ का फल गेंद के समान गोल होता है उसपर मोटा कड़ा छिलका होता है पत्थर से तोड़कर उस छिलके को जब तोड़ा जाता है तब उसका गूदा निकलता है। किन्तु हाथी उस कैथ को तोड़कर या चबा कर नहीं

खाता, साबुत खा जाता है और अपनी टट्टी में उस कैथ को टैनिस की गेंद की तरह साबुत निकाल देता है, हाथी के पेट से निकला हुआ वह कैथ बिना कहीं छेद हुए भी अन्दर से बिल्कुल खाली हो जाता है। इसी तरह बाहरी ठाठ बाट बने रहने पर भी पापकर्म के उदय से जब लक्ष्मी जाती है तब किसी को उसके जाने का पता भी नहीं लगता।

मनुष्य धन एकत्र करने के लिये तमाम दुनियां भर के छल फरेब, अन्याय अनीति कर डालता है परन्तु मरते समय उस धन में से एक कौड़ी भी उसके साथ नहीं जाने पाती।

एक नगर में एक विद्वान् राजा रहता था, वह प्रतिदिन प्रातःकाल पलंग से उठते समय संस्कृत भाषा का एक श्लोक बना लिया करता था, श्लोक बनाकर ही पलग से नीचे उतरता था। उसी नगर में एक दरिद्र ब्राह्मण भी रहता था, वह था तो दरिद्र, परन्तु साथ ही संस्कृत भाषा का अच्छा पण्डित भी था।

दरिद्रता से तंग आकर उसने एक दिन चोरी करने का विचार किया। किन्तु विवेक से विचार कर उसने चोरी किसी अन्य मनुष्य के घर न करके राजा के महल में जाकर राजा की चोरी करने का निश्चय किया जिससे धन भी अच्छा हाथ लगे और असीम धन में से कुछ धन चले जाने के कारण राजा को कुछ दुःख भी न होगा। ऐसा निर्णय करके वह किसी तरह लुक छिपकर रात्रि को राजा के महल में घुस गया। जब राजमहल के सभी व्यक्ति सो गये तब वह पण्डित किसी वस्तु को चुराने के लिये इधर उधर महल में घूमने लगा। राजमहल में उसे अनेक बहुमूल्य पदार्थ दिखाई दिये परन्तु वह निर्णय न कर सका कि वहाँ से कौन सा पदार्थ चुराकर ले जावे।

घूमते घामते वह उस कमरे में पहुंचा जहां स्वयं राजा सो रहा था कमरे में दीपक जल रहा था, अतः वहाँ के सभी मूल्यवान पदार्थ साफ दिखाई देते थे, उनको देखते हुए तथा सोचते हुए निश्चय न कर सका कि कौन सी चीज उठाऊँ अन्त में उसने देखा कि राजा के पलंग के पायों के नीचे पलंग को ऊँचा करने के लिये जो सोने की ईंटें रक्खी हुई हैं उनमें से एक ईंट ले चलूं परन्तु कौन से पाये के नीचे से ईंट निकालूं और उसे किस ढग से निकालूं जिससे राजा की निद्रा भंग न हो जाय? यह तर्क-वितर्क करते ही उसे वहाँ रात्रि बीत गई। प्रातःकाल हुआ और राजा अपने पलंग पर बैठकर नित्य नियम के अनुसार संस्कृत का श्लोक बनाने लगा। उसने नीचे श्लोक के ३ चरण बना लिये—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः,
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्तिदन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः।

राजा इन तीनों चरणों को बार बार बोले किन्तु चौथा चरण न बना पाये। इन तीनों चरणों का अर्थ यह है कि राजा अपनी सम्पत्ति का वर्णन करता हुआ श्लोक में कहता है—

'मेरे अनेक सुन्दरी नवयुवती मनोहर स्त्रियां हैं, मेरे अनेक सच्चे मित्र और भाई हैं, मेरे बहुत से मीठा बोलने वाले विनीत नौकर हैं, मेरे पास अनेक हाथी गर्जते रहते हैं और बहुत से शीघ्र दौड़ने वाले घोड़े मौजूद हैं।

श्लोक के तीन चरण सुनकर चोरी करने के लिये आये हुए उस ब्राह्मण विद्वान् से नहीं रहा गया तब उसने झट चौथा चरण बना कर राजा को सुना दिया कि—

'सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति ॥'

यानी—नेत्र बन्द हो जाने पर (मर जाने पर) इन घोड़े, हाथी, स्त्रियों, मित्रों, नौकर, चाकरों में से अपना कुछ भी न रहेगा ।

राजा अपने अधूरे श्लोक की ऐसी सुन्दर पूर्ति सुनकर विस्मित हुआ उसने आश्चर्य से आये हुए उस विद्वान् चोर की ओर देखकर पूछा कि विद्वान् ! तुम यहाँ कैसे, क्यों आये ? ब्राह्मण ने अपने आने का कारण कह सुनाया । राजा ने प्रसन्न होकर अच्छा द्रव्य देकर उसको विदा किया ।

कहने का सारांश यह है कि यह भौतिक लक्ष्मी तभी तक अपनी रहती है जब तक कि यह श्वास चलते रहते हैं, श्वास रुकते ही यह सारा धन यहां का यहां पड़ा रह जाता है, इसके स्वामी दूसरे ही लोग बन जाते हैं ।

धर्मात्मा पुरुष इस धन की दशा को अच्छी तरह समझता है तथा इसको अपने पूर्व भव के कमाये हुए पुण्य कर्म का फल समझ कर धन लक्ष्मी के समागम में अधिक प्रसन्न नहीं होता न वह उस समय धर्म करना ही छोड़ता है । भविष्य में भी सुख सामग्री मिलती रहे इसके लिये वह धर्म कार्य सदा करता रहता है । भगवान् और मृत्यु को कभी नहीं भूलता है ।

धन-संचय करने में भी वह कभी अनीति नहीं करता है, ग्राहक से जैसा दाम लेता है उसको वैसा ही माल देता है । ठीक तौलता है, ठीक नापता है, ठीक गिनता है । उसके पास चाहे छोटा बच्चा आवे, चाहे बड़ा आदमी आवे, चाहे हिसाब का जानकर आवे, चाहे हिसाब न समझने वाला आदमी माल खरीदने आवे, कभी किसी से अधिक रकम नहीं लेता, अपने माल का नियत मूल्य ही लेता है । असली माल में कभी भी घटिया या नकली वस्तु मिलाकर ग्राहकों को धोखा नहीं देता ।

धर्मात्मा व्यापार में न असत्य बोलता है, न किसी को धोखा देता है, कभी चुंगी कर (महसूल) की चोरी नहीं करता, न आयकर (इन्कमटैक्स), बिक्रीकर (सेलटैक्स) से बचने या कमी कराने के अभिप्राय से दुकान का हिसाब, बही खाते गलत बनाता है, सही जमा खर्च किया करता है । यानी—न्याय से धन-उपार्जन करता है, अन्याय का पैसा अपने घर में नहीं आने देता । यद्यपि न्याय नीति सचाई से व्यापार करने में धार्मिक व्यापारी को प्रारम्भ में अनेक कठिनाइयां आती हैं । ग्राहकों की प्रेरणा करने पर भी माल के निश्चित भाव में कमी न करने के कारण जनता उससे माल खरीदना पसन्द नहीं करती । परन्तु धीरे धीरे जैसे ही उसकी सचाई का पता लोगों को लग जाता है त्यों त्यों जनता उस पर विश्वास करके उसकी पक्की ग्राहक बन जाती है और फिर उसका इतना भारी व्यापार चलता है कि वह सब व्यापारियों से आगे हो जाता है, अचिन्त्य लाभ उसे होता जाता है ।

धन के समागम के साथ उसका हृदय लोक उपकार में अधिक बढ़ता जाता है । धन को पूर्व पुण्य

कर्म का फल समझकर अपने संचित धन को दान तथा धार्मिक कार्यों में व्यय करता रहता है। जहाँ पर मन्दिर की आवश्यकता हो वहाँ पर मन्दिर बनवा देता है जहाँ का मन्दिर जीर्ण हो गया हो उसकी मरम्मत (जीर्णोद्धार) करा देता है। जहाँ स्वाध्याय के लिये ग्रन्थ नहीं होते वहाँ शास्त्रों को भिजवा देता है। अनाथ बच्चों, निराश्रय स्त्रियों की सहायता करता है। पाठशाला, विद्यालय खोलकर ज्ञान प्रचार करता है, बुद्धिमान निर्धन विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति (स्कालरशिप) देकर उच्च शिक्षा देने की सुविधा कर देता है। गरीब रोगियों के लिये औषधालय खोल देता है। नंगे गरीब स्त्री पुरुषों को वस्त्र बांटता है, भूखों को भोजन देता है। परदेशियों को सुख सुविधा के लिये धर्मशाला बनवा देता है। यानी—वह व्यापार करके जो धन संचय करता है उसको पात्रदान, विद्यादान, औषधिदान, अभयदान, भोजनदान, दीन दुःखी कष्ट निवारण आदि लोक कल्याण के कार्यों में यथाशक्ति खर्च करके भविष्य के लिये पुण्य बन्ध करता रहता है उसके हृदय में यह धारणा कार्य करती रहती है 'बहु धन बुरा हू भला कहिये, लीन पर उपकार सौं।'

इसके साथ ही धर्मात्मा पुरुष आत्मा तथा शरीर का भेद भाव जानता है अतः वह इस जड़ धन को शरीर के लिये तो कुछ सहायक समझता है किन्तु चेतन आत्मा के लिये उसे निरर्थक समझता है। 'आत्मा का धन आत्मा के ज्ञान क्षमा सत्य शौच आदि गुण हैं, अतः वह उन गुणों को विकसित करने के लिए स्वाध्याय, पूजन, ध्यान करता है। सयम, तप, गुरुभक्ति, अहिंसा आदि का आचरण करता है। सब के साथ नम्रता से व्यवहार करता है, हितमित प्रिय वचन बोलता है, दया की धारा उसके हृदय में सदा बहती रहती है। वह कभी किसी स्त्री को (अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय) बुरी दृष्टि से नहीं देखता। इस तरह भौतिक धन के साथ साथ वह आत्मा का धन भी बढ़ाता जाता है जिससे शरीर के साथ आत्मा को भी पुष्ट करने वाला भोजन (ज्ञान आदि) देकर आत्मा को सुखी सन्तुष्ट करता है।

केवल धन सचय करते रहने से न यश मिलता है, न आत्मा सन्तुष्ट होती है।

एक सेठ अच्छा धनिक था, फिर भी व्यापार से और अधिक धन संचित करता जाता था, परन्तु खर्च करने में महान कृपण था। न किसी दीन दुःखी की सहायता करता था, न धर्म कार्य में खर्च करता था और न कभी किसी सामाजिक कार्य में कुछ रकम देता था। यहां तक कि अपने पहनने, ओढने, खाने, पीने में भी कृपणता करता रहता था। इस कारण उसका न कोई मित्र था, न कोई हितैषी। घर में भी सेठानी के सिवाय और कोई न था।

लोग उससे घृणा करने थे, उसका मुख देखना भी अपशकुन समझते थे। सेठानी जब मकान से बाहर मन्दिर आदि कहीं को जाती थी तो स्त्री पुरुष अनेक तरह के व्यंग (ताने) कसा करते थे। इस कारण सेठानी को घर से निकलते ही लज्जा आती थी।

एक दिन सेठ को स्वप्न आया कि 'उसके मकान में डाकू घुस आये हैं, उन्होंने उसका सारा धन लूटकर सेठ की तथा सेठानी को गोली मार दी है।' सेठ स्वप्न देखकर उसी समय भयभीत होकर जग गया। उसी समय उसने सेठानी को जगाया और स्वप्न का हाल सुनाया। सेठानी ने रोते हुए कहा कि स्वप्न सच दिखाई देता है, हमारा धन इसी तरह जावेगा। मुझे तो घर से निकलने में भी शर्म आती है, यदि मैं गरीब होती तो इससे अधिक सुखी होती, घर में कोई बच्चा भी नहीं है फिर पता नहीं तुम किसके लिये धन जमा कर रहे हो, इससे तो डाकू ही लाभ उठावेंगे।

सेठानी की बात सुनकर सेठ को विवेक जाग्रत हुआ उसने रात में ही अपने सब धन की सूची बनाई और औषधालय, विद्यालय, अनाथालय, विधवाश्रम, सेवा समिति, अपाहिज आश्रम को वह सब नकद सम्पत्ति दान में लिख दी, एक रहने का मकान अपने निर्वाह के लिये एक किराये का मकान रख लिया। इतना काम करके सेठ सेठानी आनन्द से सो गये। प्रातः होते ही नित्य नियम से निवृत्त होकर अपनी बनाई हुई सूची के अनुसार समस्त द्रव्य उन संस्थाओं को भेज दिया। सब धन दान करके सेठ सेठानी को बहुत सन्तोष तथा आनन्द हुआ।

अगले ही दिन उन समस्त संस्थाओं के अधिकारी और कर्मचारी सेठजी का आभार प्रगट करने आये उनका नाम सब पत्रों में छप गया, उनका यश सर्वत्र फैल गया, अब सब जनता उन का आदर करने लगी।

कुछ दिन बाद रात को डाकू सेठ का धन लूटने आ धमके। सेठ ने डाकुओं का स्वागत सत्कार किया और अपनी समस्त सम्पत्ति दान कर देने का वृत्तान्त उन्हे कह सुनाया। अखबारों में छपे समाचार पढ़कर सुनाये। डाकू सब कुछ सुनकर निराश तो हुए, परन्तु साथ ही प्रसन्न भी हुए, डाकुओं के सरदार सेठ का अभिनन्दन किया और चुपचाप वे सब चले गये। अब सेठ को अनुभव हुआ कि भौतिक धन के ग्रहण संचय में उतना आनन्द नहीं है जितना कि उसके त्याग में है।

प्रवचन नं० ५४

स्थान:—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ दिल्ली

तिथि:—
श्रावण शुक्ला १० शुक्रवार, २९ जुलाई १९५५

भय क्यों और किसका

श्री पं० आशाधरजी ने ससारी जीवों के विषय में लिखते हुए सागारधर्मामृत में एक वाक्य खण्ड दिया है 'चतु:संज्ञाज्वरातुरा:' यानी—संसारी जीव आहार, परिग्रह, भय और मैथुन इन चार संज्ञाओं रूपी ज्वर से पीड़ित हैं अर्थात् ये चारों सज्ञाएं प्रत्येक जीव को पीड़ा प्रदान किया करती हैं। सो ये बात प्रत्यक्ष देखने में आ रही है। प्रत्येक जीव वह चाहे एकेन्द्रिय वृक्ष आदि स्थावर हो और चाहे द्वीन्द्रिय आदि त्रस हो, मनुष्य हो या पशु पक्षी, देवनारक हो आहार अवश्य करता है। क्योंकि इस भौतिक शरीर की प्राकृतिक बनावट इस तरह की है कि कुछ समय पीछे (केवलज्ञानी के परम औदारिक शरीर के सिवाय) भूख लगती रहती है उस भूख को उपशम करना प्रत्येक जीव को अनिवार्य हो जाता है, उत्पन्न होते ही बच्चा सब से पहले यदि कोई पदार्थ चाहता है तो वह भोजन ही है, उसकी इच्छा को उस की माता समझ लेवे इसके लिये वह रोना प्रारम्भ कर देता है, और पूर्वभव के संस्कार से दूध पीने आदि प्रक्रिया द्वारा अपनी भूख मिटाना उसे बिना किसी के सिखाये स्वयं आ जाता है। एकेन्द्रिय पेड़ भी अपनी जड़ों के द्वारा पृथ्वी से पानी और खाद खींचकर अपनी भूख शान्त किया करते हैं, उन्हें यदि खाद पानी अपनी भूख के योग्य नहीं मिलता तो वे मुरझाकर सूखकर मर जाते हैं, जैसे कि अन्य जीवों को भूख मिटाने के लिये भोजन न मिलने से उनकी मृत्यु हो जाती है। इस तरह प्रत्येक जीव को आहार संज्ञा होती है।

अपने लिये भोजन आदि सामग्री एकत्र करने की आदत भी सब किसी को होती है, प्रत्येक जीव मनुष्य पशु पक्षी अपने लिये रहने का मकान, घोंसला, बिल आदि स्थान अवश्य बनाते हैं और उस स्थान में अपनी जीवनोपयोगी वस्तुए भी एकत्र किया करते हैं। चूहों के बिल में बहुत सा अनाज इकट्ठा होता है चींटियाँ भी रात दिन भोजन एकत्र करती रहती हैं। प्रत्येक जीव को अपने शरीर से तो मोह ममता होती है पर-पदार्थ से मोह ममता का नाम ही परिग्रह है। इस तरह समस्त जीव परिग्रह संज्ञा के चक्कर में भी पड़े हुए हैं।

एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीव, सम्मूर्छन जीव तथा नरक निवासी तो सभी केवल नपुंसक लिंग वाले होते हैं, देवों में स्त्री-वेद पु वेद ही है, नपुंसक वेद उन में नहीं होता। शेष सभी पशुओं तथा मनुष्यों में स्त्री पुरुष नपुंसक पाये जाते हैं। अपने अपने लिंग के अनुसार सभी जीवों को कामवासना होती है। पुंवेद की कामवासना फूँस की अग्नि की तरह शीघ्र उग्र होने वाली तथा शीघ्र शान्त होने वाली होती है, स्त्री-वेद की कामवासना कडे (उपले) की अग्नि-समान ऊपर से शान्त किन्तु भीतर से उग्र होती है और नपुसक वेद की कामवासना ईंटों के भट्टे के समान ऊपर से प्रतीत न होकर भीतर उग्रता से धधकने वाली होती है। इस तरह विभिन्न सभी ससारी जीवों को काम वेदना हुआ करती है, विभिन्न दो प्राणियों का परस्पर काम-सेवन करना मैथुन सज्ञा है। यह निम्न श्रेणी के जावों में अधिक और उच्च श्रेणी के जोवों में अल्पमात्रा में पाई जाता है। पशुओं में सिंह सबसे अधिक बलवान् होता है। अतः वह पशुओं का राजा कहलाता है। वह सिंह वर्ष में केवल एक बार सिंहनी से कामसेवन करता है उसी से सिंहनी गर्भवती हो जाती है तदनन्तर दोषों पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहते हैं। गाय भैंस आदि के विषय में भी ऐसी ही बात है। १६ स्वर्ग से ऊपर के अहमिन्द्र देव १६ स्वर्गवासियों की अपेक्षा अधिक सुखी होते है किन्तु न वहाँ कोई देवी होती है, न वे कभी आयु भर किसी से मैथुन किया करते हैं। फिर पुंवेद कर्म के कारण उनके मैथुन सज्ञा का अस्तित्व माना गया है। इस कारण न मिलने से वह वहाँ पर कार्यकारी नहीं होती। इस तरह मैथुन सज्ञा भी ससार के प्रत्येक प्राणी के पाई जाती है।

चौथी संज्ञा 'भय' है। अन्य संज्ञाओं की तरह यह सज्ञा भी समस्त जीवों के होती है इसी कारण निर्बल बलवान्, छोटे बड़े, स्थावर जगम, नर, पशु, नारकी, देव, सभी जीवों को सदा किसी न किसी तरह का भय बना रहता है। सिंह सबसे बलवान पशु है किन्तु मृत्यु से, अग्नि से वह भी डरता है, सरकश में रिंग मास्टर के चाबुक की फटकार के भय से उसी बलवान् सिंह को अग्नि में से निकालना पड़ता है। मक्खियों के काटने के डर से वह अँधेरी गुफा में जाकर सोता है। मृत्यु भय तो देव इन्द्र अहमिन्द्र को भी भीरु बना देता है। जरा जरा सी बात पर नेत्रों के पलकों की झपकी भय का चिन्ह है। इस तरह भय संज्ञा से भो कोई भो जीव छूटा हुआ नहीं है।

भय के सात भेद हैं—१. इस लोक सम्बन्धी भय, २. परलोक सम्बन्धी भय, ३. मरण भय, ४. वेदना भय, ५. अरक्षक भय, ६. अगुप्ति भय, तथा ७. अकस्मात् भय।

प्रत्येक जीव अपने वर्तमान भव में अनेक प्रकार के भयों से सदा भयभीत बना रहता है। पुत्र, स्त्री, मित्र आदि न छूट जायें, मेरा धन नष्ट न हो जावे, मेरी मान प्रतिष्ठा मिट्टी में न मिल जावे. मेरा कोई अग भग न हो जावे, मेरी पुत्री बहिन को वैधव्य न आ जावे, मेरी स्त्री पुत्री आदि का

अपमान न हो जावे, मेरे पुत्र की आजीविका छिन्न भिन्न न हो जावे। मेरा मकान, जमीन आदि न छिन जावे, मेरी अपकीर्ति न फैल जावे, मेरा या मेरे परिवार का कोई अंग भंग न हो जावे, मेरा शरीर लकवा आदि से निष्क्रिय न बन जावे, मैं असहाय न हो जाऊँ, इत्यादिक इस लोक-सम्बन्धी अनेक प्रकार के भय मनुष्य को सतत सताते रहते हैं।

परलोक में पता नहीं मुझे कैसा कुल मिलेगा, कैसे घर में मेरा जन्म होगा, कैसा मेरा परिवार होगा, कैसा मेरा शरीर रूप रंग तथा अंगोपाग होंगे, पुत्र भार्या आज्ञाकारी होंगे या नहीं, धन होगा या नहीं ? दीर्घायु होगी या नहीं ? जीवन में सुख शान्ति प्राप्त हो सकेगी या नहीं ? कहीं नरक में तो न जाना पड़ेगा ? पशुगति का शरीर तो न मिलेगा, कीडे, मकोडों की योनि में तो कहीं जन्म न लेना पड़ेगा, कहीं फिर निगोद भव में तो दुर्दशा न उठानी होगी ? इत्यादि अनेक प्रकार से परभव के विषय में दुःखदायक अशान्तिजनक परिस्थितियों से भयभीत होना 'परलोक भय' है।

संसारी जीव को और कोई भय हो या न हो किन्तु अपने मरने का भय तो प्रत्येक जीव को होता ही है, मरण से बचने के लिए यह जीव यथा सम्भव सभी यत्न करता है। टट्टी का कीड़ा भी मृत्यु से उतना डरता है जितना कि देवों का अधिपति इन्द्र।

अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताकांक्षा समं मृत्युभयं द्वयोः ॥

यानी—टट्टी में रहने वाले कीड़े तथा स्वर्ग में रहने वाले इन्द्र को जीवन की इच्छा और मृत्यु का भय एक समान है।

अपने आप को मृत्यु से बचाने के लिए मनुष्य या अन्य कोई जीव अपनी समस्त सम्पत्ति यहाँ तक कि सभी परिवार का त्याग करने के लिये तैयार हो जाता है।

शरीर में जरा सा कांटा चुभता है, उसकी पीडा भी कोई नहीं उठाना चाहता तो जीवन में अनेक तरह की दुर्घटनायें हो जाती हैं जिस से शरीर क्षत विक्षत हो जाता है उसकी भारी वेदना तो जीव स्वप्न में भी नहीं सहना चाहता इसी कारण ससारी जीवों को सदा भय बना रहता है कि कहीं मुझे आंख, कान, नाक शिर में पीडा न हो जाय, दांत, गले, छाती, पेट में किसी तरह की वेदना न हो, हाथ पैर आदि अग उपांग में कोई ऐसा भयानक रोग न हो जावे जिसके दर्द से बेचैन हो जाऊँ ? इत्यादि वेदना (शारीरिक पीड़ा) का भय जीव को सदा बना रहता है।

प्रत्येक जीव अपने जीवन को सुख शान्तिमय बनाने के लिये रक्षा के अनेक साधन मिलाता है फिर भी उसे भय लगा रहता है कि कभी कोई ऐसी आपत्ति मेरे ऊपर न आ जावे जिससे बचाने वाला कोई न हो, मेरे अनेक शत्रु हैं, कहीं अकेले होने पर मुझे कोई मार पीट न दे, सोते समय रात में आकर कोई मेरा माल न उठा ले जावे। कोई ऐसा पापकर्म के उदय से दुःख न आजाय जिससे कि छुटकारा न मिल सके। इस तरह अरक्षा भय से जीव भयभीत बने रहते हैं।

मनुष्य अपने परिवार, धन सम्पत्ति आदि की रक्षा के लिये अच्छा मजबूत मकान बनाता है, दृढ़ किवाड़ फाटक लगाता है, मजबूत ताले लगाता है फिर भी उसे डर लगा रहता है कि कोई सेन्ध लगा

कर, सीढ़ी लगाकर या कमन्द से मकान में न घुस आवे, किसी तरह ताला टूट न जावे, तिजोड़ी खोलकर माल न निकाल ले जावे, अपने माल को सुरक्षित रखने के प्रबन्ध किए हैं वे पर्याप्त नहीं हैं। इत्यादि अगुप्ति भय जीव को सदा लगा रहता है।

मनुष्य पर अनेक बिना सोची विचारी अचानक अनेक प्रकार की आपत्ति आ जाती हैं उनसे भी सब कोई डरता रहता है कि कहीं घर में आग न लग जाय, कहीं आते जाते कोई मकान मेरे ऊपर न गिर पड़े, मोटर गाड़ी आदि की दुर्घटना में न फंस जाऊँ, अचानक कोई ऐसी विपत्ति न आ खड़ी हो जिसमें मेरा सन्मान (इज्जत) चला जावे मैं मुख दिखाने योग्य न रहूँ। इत्यादि अनेक प्रकार के अकस्मात् भय से यह जीव सदा भयभीत रहता है।

इस तरह इन सात प्रकार के भयों से संसारी जीव सदा भयभीत रहते हैं। किन्तु भयभीत वही होता है जिस का हृदय स्वच्छ नहीं होता, पापवासना जिसके हृदय में बनी रहती है। ससार में प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि पापी सदा भयभीत रहता है। वह लुक छिपकर हिंसा कत्ल, चोरी, व्यभिचार, बेईमानी करता है अतः उसका हृदय कॉपता रहता है कि कहीं भेद खुल गया तो इसी भव में फांसी, जेल आदि का दण्ड भुगतना पड़ेगा, कहीं परभव में भी दुर्गति न जाना पड़े, कहीं हटरों की मार न खानी पड़े। पापकर्म जो बांधा है उस से कोई आपत्ति न आ जावे इत्यादि सातों तरह के भय पापी को सदा डराते रहते है।

धर्मात्मा का हृदय शुद्धस्वच्छ रहता है, वह निश्चिन्त होकर सर्वत्र घूमता है। उसको पुलिस, सेना आदि का कुछ भी भय नहीं होता। सत्य व्यवहार के कारण वह सदा निर्भय रहता है, धर्म कार्य करते रहने से संसार में उस का कोई शत्रु नहीं होता सभी जीव उसके मित्र होते हैं। पुण्य कर्म उपार्जन करता है अत उसे न इस लोक में कोई भय होता है, न वह मरने से डरता है क्योंकि उसे निश्चय होता है कि मरने के पश्चात् मुझे पशु नरक आदि में न जाना पड़ेगा। इस तरह उसे अरक्षा, अकस्मात् वेदना आदि कोई भी भय नहीं होता।

जिस मनुष्य को आत्म श्रद्धा हो जाती है, उस मनुष्य को शरीर से ममता नहीं होती, वह तो इस शरीर को अपने लिए कुछ दिन तक का किराये का मकान समझता है, उसे तो अपने आत्मा की ओर ही लगन होती है। उसको दृढ़ श्रद्धा होती है कि मेरा आत्मा अजर अमर है न वह कभी मरता है न जन्म लेता है, आत्मा को कोई शस्त्र न काट सकता है, न अग्नि जला सकती है, न पानी गला सकता है। जलना, कटना, गलना, सूखना, आदि शरीर का होता है, सो मुझे कुछ प्रयोजन नहीं, मेरे आत्मा में जिस कार्य से अशान्ति पैदा हो ऐसे रागद्वेष मोह क्रोध लोभ हिंसा आदि मुझे न करना चाहिये।

जैसी मैने पहले भव में कर्मों की कमाई की है उसका वैसा फल मुझे अवश्य मिलेगा, यदि अपने अशुभ कर्म के फल में कुछ धन की हानि, शरीर का कष्ट, पुत्र आदि का मरण मुझे हो तो उस फलको शांति भाव से सह लेना चाहिये क्योंकि रोने पीटने से वह दुःख कम न होगा, अधिक मालूम होगा और आर्त ध्यान से आगे के लिये दुःखदायक बंध होगा। धन आदि से उसे मोह नहीं होता। इस लिए न उसको इस लोक का भय होता है, न परलोक का, न मरण का, न वेदनाका, न अरक्षाका, न अगुप्ति का और न अकस्मात् भय से वह डरता है। वह अपने अजर अमर आत्मामें तन्मय रहता है। इसलिये निर्भय बनने के लिये आत्मश्रद्धा तथा धर्म का आचरण करना चाहिये।

प्रवचन नं० ५५

स्थान:— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ दिल्ली

तिथि:— श्रावण शुक्ला ११ शनिवार, ३० जुलाई १६५५

नीति से धन संचय

इस बात में कोई सन्देह नहीं है एक आत्मा ही चेतन पदार्थ है उसके सिवाय संसार के समस्त पदार्थ जड़ हैं, इस कारण जड़ पदार्थ आत्मा का न कुछ उपकार कर सकते हैं, न अपकार। आत्मा का उपकार या अपकार आत्मा ही कर सकता है और जड़ पदार्थों का उपकार या अपकार जड़ पदार्थ कर सकते हैं। इसी आत्मा के सिवाय संसार के अन्य पदार्थों से जीव को इष्ट मानकर उनसे राग भाव करने की आवश्यकता नहीं, और न किसी पदार्थ को अनिष्ट मान कर उससे द्वेष या घृणा करने की आवश्यकता है। यह बात भी सुनिश्चित यथार्थ है कि आत्मा स्वतंत्र एव सुखी भी तभी होता है जब कि वह संसार के सब पदार्थों से राग द्वेष छोड़कर अपने आत्मा मे ही तन्मय हो जाता है। ऐसा किये बिना न उसे पूर्ण स्वतंत्रता मिल सकती है न पूर्ण शान्ति और न वह पूर्ण सुखी हो सकता है।

परन्तु संसार में भटकने वाला यह आत्मा आज से नहीं बल्कि अनादि काल से जड़ पदार्थ कर्म से मिश्रित होकर परतन्त्र बना हुआ है, कार्माण शरीर इसके साथ लगा सदा लगा रहता है, उस शरीर के साथ रहता हुआ यह संसारी आत्मा अपने लिये औदारिक (मनुष्य पशुओं का रस रक्त हड्डी आदि धातुओं वाला) शरीर या वैक्रियिक (रस रक्त मांस आदि धातु रहित देव नारकियों का) शरीर में से किसी भी एक शरीर में रहा करता है। ओदारिक वैक्रियिक शरीर इस आत्मा के लिये रहने के मकान की तरह काम देते हैं, बिना इन शरीरों में से किसी एक शरीर के भी यह संसारी जीव निर्वाह नहीं कर सकता।

कार्माण वर्गणायें यद्यपि जड़ पौदगलिक हैं परन्तु संसारी जीव के विकृत भावों का निमित्त पाकर वे उसकी ओर आकर्षित होती हैं तथा कर्म रूप होकर जीव के साथ मिश्रित हो जाती हैं। उन कर्मों का प्रभाव जीव के परिणमन पर पड़ा करता है। यानी—जीव के विकृत भावों से कर्म बनते हैं और कर्मों से जीव के भाव विकृत होते हैं। इसी बात को पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में निम्नलिखित श्लोकों द्वारा व्यक्त किया गया है—

> जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
> स्वयमेव परिणमन्तेऽपुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
> परिणममानस्यचितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
> भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

यानी—जीव के विकृत भावों का निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माण वर्गणाएं कर्मरूप स्वयं परिणत हो जाती हैं। तथा अपने भावों द्वारा परिणमन करते हुए जीव को वे पौद्गलिक कर्म निमित्त रूप हो जाते हैं।

इस तरह यह संसार की खेती जीव और पुद्गल की साझेदारी (पार्टनरशिप) में चलती है।

परिणमन करता हुआ जीव अपने विवेक से कार्य ले तो वह कर्म बन्धन से छूट सकता है, कम से कम दुःखदायक कर्मबन्धन से तो बच ही सकता है। कर्मबन्धन के पश्चात् वह अधिकतर परतन्त्र बन जाता है और तब उसे न चाहते हुए भी कर्म उदय द्वारा अनिष्ट परिस्थिति में से भी गुजरना पड़ता है। कर्म द्वारा प्राप्त होने वाली पहली मुख्य परतन्त्रता तो भौतिक शरीर में अनिवार्य रूप में रहने की है, संसार दशा में जीव शरीर के बिना नहीं रह सकता। जीव को जब शरीर में रहना पड़ता है तो उसे शरीर का पालन पोषण रक्षण भी करना पड़ता है क्योंकि जिस मकान में जब तक रहना पड़ता है तब तक उस मकान की देख रेख, सार सम्हाल करनी ही पड़ती है। इसके सिवाय शरीर-उत्पादन तथा शिशु अवस्था में पालक पोषक माता पिता के साथ एवं भाई बहिनो आदि के साथ भी इस शरीर के कारण सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। इस तरह कर्म के योग से शरीर मिलता है और शरीर के योग से माता पिता पुत्र स्त्री भाई बहिन आदि का परिवार बन जाता है।

तब इस शरीर और परिवार के पालन पोषण निवास आदि के लिये भोजन वस्त्र मकान आदि वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति सरकार द्वारा निर्द्धारित रुपया पैसा आदि मुद्राओं (सिक्कों) तथा सुवर्ण चांदी आदि धन की आवश्यकता होती है, बिना धन के गृहस्थ परिवार का निर्वाह नहीं हो सकता। मुनि जिस धन धान्य, सुवर्ण चांदी, जमीन मकान, वस्त्र बर्तन आदि पदार्थों को त्याग कर अपनी मुनिचर्या करते हैं, गृहस्थ उन्हीं पदार्थों का संग्रह करके अपनी गृहस्थचर्या करता है। मुनि के पास यदि रुपये पैसे हो तो वह दो कौडी का (तुच्छ, नगण्य) माना जाता है और यदि गृहस्थ के पास रुपये पैसे न हों तो वह गृहस्थ भी दो कौड़ी का समझा जाता है।

इसके सिवाय गृहस्थ को धर्म परम्परा चलाने के लिये मंदिर निर्माण, पूजन प्रक्षाल, जिनवाणी प्रचार, मुनि आदि धर्मपात्रों को आहारदान आदि, विद्या प्रचार, समाज सेवा, देश सेवा, लोक कल्याण, दीन दुःखी सेवा आदि सुकृत कार्यों के लिये भी धन की आवश्यकता होती है, बिना धन के ये धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, लोक सेवा के कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते। अतः धन-उपार्जन गृहस्थ का एक परम-आवश्यक कार्य हो जाता है। धन की आवश्यकता का अनुभव कराते हुए नीतिकार ने कहा है—

'अर्थस्य दासः पुरुषो नार्थो दासो हि कस्यचित्'

यानी—मनुष्य धन का दास है क्योंकि धन पाने के लिये मनुष्य को सब कुछ करना पड़ता है, किन्तु धन मनुष्य का दास नहीं है।

धन व्यापार, कला कौशल, उद्योग, परिश्रम, नौकरी आदि उद्यम के द्वारा सचय किया जाता है, उद्यम के बिना लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती, नीतिकार ने कहा है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥

यानी—उद्योगी पुरुषसिंह को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है, भाग्य से लक्ष्मी चाहने वाले कायर पुरुष

होते हैं। इस लिये पुरुषार्थी व्यक्ति को भाग्य भरोसे न रहकर धन के लिए अपनी शक्ति के अनुसार उद्यम करना चाहिए, उद्यम करने पर भी लक्ष्मी प्राप्त न हो सके तो इस में उस मनुष्य का क्या दोष है।

अतः धन-उपार्जन करने के लिये मनुष्य को अच्छा शारीरिक, मानसिक, वाचनिक परिश्रम करना चाहिए। जो मनुष्य परिश्रम से जी चुराता है, वह धन-उपार्जन में सफलता नहीं पा सकता। परिश्रम द्वारा पसीना बहा कर जो धन प्राप्त होता है, वह मनुष्य के पास ठहरता है बिना परिश्रम का आया हुआ धन यों ही बर्बाद हो जाता है।

परिश्रम के साथ ही व्यापार में न्याय नीत का व्यवहार होना भी बहुत आवश्यक है जो मनुष्य नीति और सचाई के साथ व्यापार करते हैं जनता का विश्वास उन पर जम जाता है अतः अन्य व्यापारियों की अपेक्षा उनकी बिक्री बहुत अधिक होती है। छोटे बच्चे, हिसाब न जानने वाले अशिक्षित लोग तथा स्त्रीवर्ग उन के पक्के ग्राहक बन जाते हैं, इस तरह अधिक माल बिकने के कारण उनको अच्छा लाभ होता है।

व्यापारी यदि अपनी दुकान के बहीखाते ठीक रक्खे, जमा खर्च सही करे, लोभ वश लाभ कम जमा करने, दुकान का खर्च अधिक लिखने की दुर्नीति न करे तो दुकानदार निश्चिन्त निर्भय रहता है उसे इन्कमटैक्स आफीसर सेलटैक्स आफीसर, आदि का रंचमात्र भी भय नहीं रहता। जो लोग बही खातों में अनीति (बेईमानी) करते हैं इनका हृदय सदा भयभीत रहता है और कभी न कभी वे पकड़ में आ जाते है उस समय उनको इतना अधिक दण्ड (जुर्माना) देना पड़ता है कि बेईमानी की बचत के अतिरिक्त और पूंजी भी उसमें चली जाती है तथा भविष्य के लिये उनका नाम काला सूची में लिख लिया जाता है। इस कारण व्यापारीको अपने भाग्य पर भी कुछ विश्वास रखकर अनीति से बचते रहना चाहिये।

जिस समय किसी पदार्थ का भाव सरकार द्वारा निश्चित नहीं है उस समय व्यापारी अवसर देखकर चाहे जितना मुनाफा ले सकता है, जवाहरात के व्यापार मे रत्न मोती पन्ना आदि का मूल्य कुछ निश्चित नहीं होता तो उसमें एक हजार रुपये की खरीदी हुई वस्तु एक लाख रुपये में भी बेचने में न अनीति है, न कोई अपराध है परन्तु यदि खांड का मूल्य सरकार ने ३०) मन निश्चित कर दिया है तो उसे लुकछिप कर ३५) मन बेचना भी अन्याय है तथा सरकारी अपराध है। अतः व्यापार करते समय ऐसे अन्याय से सदा बचते रहना चाहिए, इस बात का जो ध्यान नहीं रखते हैं वे कभी कभी ऐसे बुरी तरह फसते है कि उनका सन्मान और धन दोनों बर्बाद हो जाते हैं। लक्षाधीश होकर भी जेल तक जाते है।

उद्योगपतियो को सफलता पाने के लिये अनीति से बचने की और भी अधिक आवश्यकता है। वे जैसा माल दिखायें उसी तरह का तैयार करके आगे दूसरे नगरो तथा दूसरे देशो को भेजना चाहिये। यूरोप तथा अमेरिका के उद्योगपतियों ने जो अपार सम्पत्ति उपार्जित की है वह विश्वस्त नीति तथा सच्चाई के कारण ही की है। वे अपने भेजे हुए नमूने के अनुसार ही माल तैयार कर भेजते है उसमें रत्ती भर भी कमी नहीं करते। प्रतियोगिता (कम्पीटीशन) आने पर वे दूसरे चिन्ह (मार्क) का घटिया माल बनाकर कममूल्य में भेजेंगे किन्तु पहले माल की अच्छाई (क्वालिटी) में कमी न आने देंगे। हमारे उद्योगपतियों को भीयही सुनीति अपनानी चाहिए।

इसके सिवाय व्यापारी को लोक हित के विरुद्ध अपनी भावना न रखनी चाहिये, कोई व्यक्ति अनाज का व्यापार करता है तो उसे ऐसा दुर्विचार कदापि न करना चाहिये कि दुष्काल पड़ जावे जिससे अन्न के व्यापार में मुझे अनेक गुणा लाभ हो, यदि कोई औषधियों का व्यापार करता है तो उसकी दुर्भावना ऐसी न होनी चाहिये कि कोई व्यापक महामारी प्लेग आदि फैल जावे जिससे मुझे अनापशनाप लाभ हो। ऐसी दुर्भावनाओं से लाभ नहीं होता पापकर्म का बन्ध होकर भारी हानि होती है।

व्यापारी को अपने वचन का भी पक्का होना चाहिये, व्यापार वचन की सच्चाई और विश्वास पर ही फलता फूलता है, जो लोग अपने वचन के पक्के नहीं होते वे थोड़े से लोभ के पीछे ही पलट जाते हैं व्यापारीवर्ग में उनका विश्वास मारा जाता है वे फिर बिना हस्ताक्षर किये या नकद रकम दिये बिना व्यापार नहीं कर सकते। अतः व्यापारी को विश्वासपात्र होना चाहिये।

लेन-देन में जो व्यक्ति सच्चे होते हैं वे व्यापार में अचिन्त्य लाभ उठाते हैं। स्व० सेठ माणिकचन्द्र जी जे० पी० बम्बई, प्रारम्भ में ८) मासिक पर नौकर थे किन्तु उनको अभ्युदय और अचिन्त्य लाभ १६००) रु० ठीक जमा खर्च कराने के कारण हुआ। मथुरा वाले सेठ के पूर्वज अपनी ऐसी विश्वासपात्रता के आधार पर भी अनायास करोड़ों रुपये की सम्पत्ति के स्वामी बन गये।

अतः जैनधर्म गृहस्थ को धन संचय से रोकता नहीं है, किन्तु अर्थ संचय में की जाने वाली अनीति, बेईमानी, धोखेबाजी, झूठ, अन्याय आदि दुर्नीति, दुर्भावना को रोकता है। वह नाप तोल, गिनती, हिसाब, दस्तावेज, ग्राहकों को निन्दनीय ठगने, नौकर मजदूरों को अनुचित कम रकम देने आदि त्याग करने का आदेश देता है। इसके साथ ही उद्देश्य की ओर सकेत करता है, कि 'भौतिक धन सम्पत्ति को ही सब कुछ न समझलो आत्मा की निधि प्राप्त करने का भी सदा ध्यान रक्खो, वही सम्पत्ति परभव में तुम्हारे साथ जावेगी, उसके लिये इस न्यायपूर्वक कमाए हुए धन का दान करो।

प्रवचन नं० ५६

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली।

तिथि—
श्रावण शुक्ला १२ रविवार, ३१ जुलाई १९५५

त्याग का फल

संसार में जीवों की यात्रा दो तरह के मार्गों पर हुआ करती है—१. राग, २. विराग। साधारण तौर से संसारी जीव शरीर धन परिवार मित्र आदि के मोह में फंसे हुए इन सब संसारी जड़ चेतन पदार्थों से राग करते हुए अपनी सारी प्रवृत्ति जीवन का सारा कार्यक्रम राग द्वेषमय बना लिया करते हैं और उसी के अनुसार चला करते हैं। जो चीजें उन्हें अपने शरीर को सुख, आल्हाद देने वाली प्रतीत होती हैं उनसे स्वभावत: प्रेम होता है, अत: उन चीजों को प्राप्त करने के लिये हर तरह से चेष्टा करते हैं, उनको प्रिय इष्ट मानकर उनकी ओर सदा लालायित रहते हैं, और जिन पदार्थों से उन्हें अपने शरीर के लिये दु:ख या हानि प्रतीत होती है उन पदार्थों से उनको द्वेष या घृणा होती है उनसे वे सम्पर्क नहीं रखते, उनसे दूर रहे आते हैं और यदि उनको फिर भी ऐसी वस्तुओं का मिलाप हो जावे तो उसको जैसे बने वैसे अपने मार्ग से हटा देने की कोशिश करते हैं। इसी शारीरिक मोह की प्रवृत्ति में मोही जीवों के जीवन का रहस्य छिपा हुआ है।

स्वादिष्ट भोजनों को प्रत्येक जीव इसी कारण दौड़ता है क्योंकि उस भोजन से केवल उसकी भूख ही नहीं मिटती बल्कि उसकी जीभ (रसना) भी बहुत सन्तुष्ट होती है। सिनेमा देखने का शौक लोगों को इसी कारण लग गया है उनके चित्र देखकर उनके नेत्र और हृदय प्रसन्न होते हैं। अच्छे गायन सुनने की रुचि मनुष्यों को इसी कारण होती है क्योंकि उससे उनके कानों को आनन्द मिलता है। स्त्रियाँ पुरुषों से और पुरुष स्त्रियों से अटूट गाढ़ प्रेम भी प्राय: विषय भोगों के आधार पर करते हैं, एक दूसरे के लिये प्राण अर्पण करने के लिये तैयार रहते हैं। ऐसे ही विषय सुखाभिलाषी एक कवि ने नीति निर्धारित की है—

न विषं नामृतं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्।
सैवामृतमयी रक्ता विरक्ता विषरूपिणी॥

यानी—इस संसार में एक स्त्री के सिवाय और कोई विष या अमृत नहीं है। वह स्त्री यदि अनुरागिणी होकर प्रेम करे तो वही अमृतमयी है। और यदि विरक्त होकर स्त्री प्रेम करना छोड़ दे तो वही स्त्री विष रूप है।

पुरुष कवि ने श्लोक बनाया इस कारण उसने विषय सुख का आधार स्त्री को मानकर श्लोक में स्त्री को विष अमृत बता दिया यदि कोई कवयित्री स्त्री इस नीति को श्लोकबद्ध करे तो सम्भव है कि वह भावुकता में आकर पुरुष जाति को विष अमृत रूप लिख डाले। स्त्रियों का रूप रंग देखने के लिये, आते जाते उनको छेड़ने के लिये दुर्जन लोग जो लालायित रहते हैं उसके मूल में भी यही विषय भोगों की तथा अपने मन और नेत्रों को सन्तुष्ट करने की भावना काम करती है। मनुष्य या किसी भी जीव की इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने वाले पदार्थ भोजन, मकान, धन, स्त्री आदि पदार्थों को छीनने छुटाने

हानि पहुंचाने की कोई चेष्टा करता है तो उसी राग भावना के आधार पर उस छीनने झपटने वाले व्यक्ति के साथ युद्ध ठन जाता है।

रामायण का महान राम रावण युद्ध सीता हरण के कारण हुआ, पांडव कौरवों का महाभारत युद्ध द्रौपदी के अपमान के कारण हुआ। जर्मनी के दो महायुद्ध राज्य विस्तार की भावना पर हुए। आज पाकिस्तान काश्मीर को धनागम की लालसा से लेना चाहता है, रूस अमेरिका की तनातनी भी आर्थिक लाभ हानि से सम्बन्धित है। सारांश यह है कि शारीरिक मोह के कारण तथा शरीर सम्बन्धी अन्य पदार्थों से मोह या राग द्वेष के कारण ही जर (धन सम्पत्ति), जोरू (स्त्री) और जमीन संसार में विवाद के कारण बन गई हैं।

इस मोह या राग द्वेष से आत्मा में अशान्ति, व्याकुलता, चिन्ता, क्षोभ होता है, इससे जो विवेकी जन राग मार्ग को हितकारी नहीं समझते वे विराग पथ पर चलते हैं। यानी—आत्मज्ञानी पुरुष संसार, शरीर और विषय भोगों से रागभाव छोड़कर उनके त्याग करने की परम्परा अपनाते हैं उनका रास्ता सर्व-साधारण जनता से भिन्न होता है। जनता जिन बातों को अपने लिये कठिन, अहितकर समझती है। विरागी लोग उन बातों को ग्रहण करते हैं उनका आचरण करते हैं। और जनता जिन आध्यात्मिक श्रद्धा ज्ञान आचरण से दूर सांसारिक विषय भोगों को बड़ी लालसा और परिश्रम से अपनाती हैं विरागी जन उन विषय वासनाओं को शक्ति अनुसार त्यागते जाते हैं।

जैनधर्म संसारी जीवों को सांसारिक दुख से मुक्त करना चाहता है अत: वह प्रारम्भ से विराग मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता है अपने सब से जघन्य श्रेणी के अनुयायी से भी (पाक्षिक श्रावक से) शराब पीने, मांस अंडा खाने, शहद खाने, रात्रि भोजन, बिना छना जल पीने का त्याग जैनधर्म कराता है। इसी कारण जैन के छोटे बच्चे भी इन बातों से दूर होते हैं। न्यायालय (अदालत) तथा अन्य सरकारी कार्यालयों में भी जैनों को इसी कारण दिन में भोजन करने की सुविधा का ध्यान रक्खा जाता था। परन्तु सुनने में आ रहा है कि हमारे कुछ भाई अन्य व्यक्तियों की संगति से अब रात्रि में भोजन करने लगे हैं। पहले यदि किसी जैन अग्रवाल के पुत्र का विवाह वैष्णव अग्रवाल के घराने में होता था तो कन्यापक्ष वाले बरात को दिन में भोजन कराने का प्रबन्ध रखते थे, जीमनवार में आलू आदि अभक्ष्य पदार्थों का शाक नहीं बनाया जाता था। परन्तु अब कुछ जैन कन्या पक्ष के लोग भी बरात को रात में भोजन कराने की सुव्यवस्था करते हैं और वरपक्ष के लोग नि संकोच रात्रि को भोजन कर लेते हैं, कितने खेद और दुःख एव लज्जा की बात है।

लोग कहते हैं कि कलिकाल में चारों ओर से आफतें आ रही हैं, इस तरह वे काल को तो दोष देते हैं किन्तु अपनी ओर नहीं देखते। उन्हें सदा याद रखना चाहिये 'धर्मो रक्षति रक्षित' यानी—यदि धर्म की रक्षा की जावे अर्थात् ठीक रूप से आचरण किया जावे तो धर्म भी विपत्तियों से रक्षा करता है। जब हम लोग धर्म की रक्षा न करें तो धर्म भी हमारी रक्षा क्यों करेगा। इस कारण मैं दिल्ली तथा दिल्ली से बाहर के प्रमुख जैनों से कहता हूँ कि आपको अपने पवित्र कुलाचार का ध्यान रखकर रात्रि भोजन न तो अपने घर में होने देना चाहिये और न विवाह शादियों के अवसर पर पंचायती जीमनवारें रात में होने देना चाहिये। अपनी अच्छी बात को छोड़ना सदा हानिकारक होता है।

सांसारिक विषय भोगों का अथवा किसी असत् आचरण के त्याग से अनेक इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों ने महान् लाभ प्राप्त किये हैं। उन कथाओं से एक कथा इस प्रकार है—

एक महान् तपस्वी मुनि विचरण करते हुए एक नगर के बाहर एक बाग में आकर ठहरे। उन की वन्दना के लिये नगर के समस्त नर नारी मुनि महाराज के पास आये और उन को नमस्कार करके मुनि महाराज के निकट बैठ गये। मुनि महाराज ने सबको हित-उपदेश दिया, जिसका सारांश यह था कि "सांसारिक विषय भोगों के ग्रहण से आत्मा की आकुलता बढ़ती है और विषय भोगों के त्याग से आत्मा को शान्ति सुख मिलता है।"

मुनि महाराज का उपदेश सुनकर सभी स्त्री पुरुषों ने अपनी अपनी शक्ति अनुसार व्रत नियम मुनि महाराज से ग्रहण किये और अपने अपने घर चले गये। जब वहाँ से समस्त नर नारी चले गये तब सबसे पीछे बैठा हुआ एक मनुष्य मुनि महाराज के पास आया, उसने हाथ जोड़कर गद्‌गद् स्वर में मुनि महाराज से प्रार्थना की कि महाराज! मुझे भी कोई व्रत दीजिये जिससे मेरा उद्धार हो।

मुनि महाराज ने उससे मीठी भाषा में पूछा कि भाई! तुम क्या काम करते हो? उस मनुष्य ने उत्तर दिया कि 'मैं चोरी किया करता हूं।' तब मुनि महाराज ने कहा कि भाई! 'चोरी करना छोड़ दो।' उस मनुष्य ने नम्र वाणी में उत्तर दिया कि महाराज! मुझे अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण करने के लिये और कुछ करना नहीं आता, अतः चोरी करना नहीं छोड़ सकता। इस पर मुनि महाराज ने उससे कहा कि अच्छा, झूठ बोलना तो छोड़ सकते हो? चोर ने प्रफुल्ल मुख से प्रसन्न होकर उत्तर दिया कि महाराज! झूठ बोलने का त्याग कर सकता हूँ। तब मुनिवर ने उसको झूठ बोलने का त्याग कराया और उसे 'धर्म-वृद्धि' की आशीष देकर उसे विदा किया, चोर बहुत प्रसन्न होकर चला आया।

चोर उसी दिन रात के समय राजा की अश्वशाला में चोरी करने के लिये पहुंचा। 'अश्वशाला' (घुड़सार) के बाहर सोते हुए सईस आदि नौकरों ने चोर को देखकर पूछा कि 'तू कौन है?' चोर ने ली हुई प्रतिज्ञा के अनुसार सत्य उत्तर दिया कि 'मैं चोर हूं।' उन नौकरों ने समझा कि हँसी मजाक में इसने ऐसा कहा है, यहीं का कोई नौकर होगा। इसलिये उसको किसी ने भी न रोका। चोर घुड़सार में घुस गया और उसने राजा की सवारी का सफेद घोड़ा खोल लिया और उस पर सवार होकर बाहर निकला। तब फिर नौकरों ने पूछा कि घोडा कहाँ ले जाना है? चोर ने सत्य उत्तर में कहा कि घोड़ा चुराकर ले जाता हूं। नौकरों ने तब भी उसकी बात हँसी मजाक ही समझी, यों विचार किया कि शायद यह दिन में घोड़े को पानी पिलाना भूल गया होगा सो अब पानी पिलाने जाता होगा।

चोर घोड़े को चुराकर एक जंगल में पहुँचा और एक पेड़ से घोड़ा बाँधकर आप एक अन्य पेड़ के नीचे सो गया। उधर जब प्रातःकाल हुआ तब घुड़सार में सफेद घोड़ा दिखाई न दिया बड़ी खल-बली मच गई, घुड़सार के नौकरों ने परस्पर में कहा कि रात को जो आदमी आया था वह यथार्थ में चोर था और वही घोड़े पर चढ़कर उसे चुरा ले गया है। घोड़े की चोरी की खबर राजा के पास पहुंची। राजा ने चारों ओर घुड़सवार चोर की खोज में दौड़ाये। दो घुड़सवार उस जंगल में भी पहुचे, उन्होंने एक पेड़ से बँधा हुआ एक लाल घोडा देखा। कुछ दूर पर पेड़ के नीचे सोता हुआ एक आदमी मिला उन्होंने उस आदमी को जगाया और उससे पूछा कि तू कौन है?

चोर ने उत्तर दिया कि 'मैं चोर हूँ।' राजकर्मचारियों ने पूछा कि रात को तूने कोई चोरी की है? चोर ने उत्तर दिया कि हाँ, राजा की घुड़सार से एक सफेद रंग का घोड़ा चुराया है। राजा के नौकरों ने पूछा कि घोड़ा कहां है? चोर ने उस पेड़ की ओर संकेत करके कहा कि उस पेड़ से बँधा हुआ है। राजकर्मचारियों ने कहा कि भाई! वह तो लाल घोड़ा है। चोर ने दृढ़ता के साथ कहा कि 'नहीं, मैं तो सफेद घोड़ा चुराकर लाया हूँ।'

उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'चोर सत्य कह रहा है।' तथा चोर पर फूलो की वर्षा हुई। उधर घोड़े का रंग भी सफेद हो गया। राजकर्मचारियों को बहुत आश्चर्य हुआ। और वे चोर को राजा के पास बड़े सन्मान के साथ ले गये। राजा से उन्होंने चोर के सत्य बोलने की, उस पर आकाश से फूलों की वर्षा होने आदि की सब बात कही।

राजा ने चोर का अपराध क्षमा कर दिया और सत्य बोलने के पारितोषिक में बहुत सा धन देकर चोर का सन्मान किया।

तदनन्तर वह चोर उन मुनि महाराज के पास पहुंचा और सत्य व्रत लेने से जो उसका सन्मान हुआ तथा जो उसे पारितोषिक मिला उसका सब समाचार मुनिराज को कह सुनाया। तत्पश्चात् उसने चोरी करने का भी त्याग कर दिया।

इस तरह चोर ने केवल असत्य बोलने के त्याग से महान् लाभ उठाया। इससे स्त्री पुरुषों को यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आत्मा का उत्थान विषय भोगों या पापों के त्याग से होता है। यदि कुलाचार से मासभक्षण मदिरापान आदि का त्याग स्वयं हो जाता है क्योंकि घर में वे वस्तुयें न आती हैं, न कोई उन्हे खाता है, तो भी उन पदार्थों के खाने पीने का जब तक त्याग न किया जावे तब तक उस मद्य, मास त्याग को दृढ़ता नहीं रहती। अतः अपने कुलाचार से प्रचलित धर्मक्रियाओं का भी नियम ग्रहण करना चाहिये जिससे उनके पालन में कभी शिथिलता न आने पावे।

कदाचार त्याग करने में आत्मा को इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है आत्मा का बल विक्रम प्रगट होता है, आत्म शुद्धि का प्रारम्भ होता है। अतः अपनी शक्ति अनुसार विषय भोगों का त्याग अवश्य करते जाना चाहिये। जिन मन्दिर में आकर असत्य बोलने, लड़ाई झगड़ा करने, कुदृष्टि रखने तथा चोरी का त्याग अवश्य करना चाहिये।

~~~~~~

प्रवचन नं० ५७

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि— श्रावण शुक्ला १३ सोमवार, १ अगस्त १९५५

सन्तोष का महत्त्व

जिस तरह मनुष्य के शरीर में समस्त धातु उपधातुओं का राजा वीर्य है। वीर्य की वृद्धि से शरीर की वृद्धि होती है, वीर्य की क्षीणता से शरीर क्षीण होता है, और वीर्य के क्षय हो जाने से शरीर
~~~~~~

का क्षय हो जाता है, इसी कारण बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत लेकर अपने वीर्य को सुरक्षित रखते हैं जिस से कि उन का शरीर स्वस्थ बलवान् और कान्तिमान रहता है, छोटे मोटे रोग उन्हें प्रायः नहीं होते, उनका दिमाग अच्छा कार्य करता है। जो व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत नहीं ले सकते वे केवल अपनी विवाहित पत्नी के साथ अच्छी गुणी सन्तान उत्पन्न करने के अभिप्राय से अपना ब्रह्मचर्य भंग करते हैं, अपनी पत्नी के सिवाय अन्य सब स्त्रियों के साथ उन का पूर्ण ब्रह्मचर्य रहता है। ऐसे एकदेश ब्रह्मचारी पुरुष भी अपने वीर्य की रक्षा अच्छी कर लेते हैं और वे भी बलवान् स्वस्थ बने रहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति अपने वीर्य की सुरक्षा नहीं करते रात दिन काम क्रीड़ा के कीड़े बने रहते हैं। उनका शरीर और दिमाग निर्बल हो जाता है, स्वास्थ्य नष्ट भ्रष्ट हो जाता है और उनमें कान्ति नहीं रहती, ऐसी ही दशा उनकी पत्नी की भी हो जाती है क्योंकि कामक्रीड़ा में पुरुषों की तरह स्त्रियों का भी बल क्षीण हुआ करता है।

उसी तरह ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों में सबसे प्रधान कर्म मोहनीय है। इस कर्म को हम समस्त कर्मों का मूल भी कह सकते हैं क्योंकि इसी कर्म के कारण अन्य समस्त कर्म फलते फूलते हैं। जब मोहनीय कर्म का सत्यानाश हो जाता है तो शेष कर्मों की वही दशा होती है जो कि पेड़ की जड़ कट जाने पर उस के पत्ते टहनी आदि की होती है यानी कुछ समय में वे भी सूख कर निर्जीव हो जाते हैं। तथा मोहनीय कर्म सब का राजा भी है क्योंकि यह सब कर्मों से अधिक बलवान है, उसकी स्थिति, अनुभाग अन्य सब कर्मों से अधिक है, जीव को सबसे अधिक परतन्त्र दुःखी और मूर्ख बनाने में मुख्य भाग मोहनीय कर्म का ही है। अन्य ज्ञानावरण आदि कर्म तो जीव के ज्ञान दर्शन आदि गुणों का विकास या प्रकाश कम कर देते हैं उसके सिवाय उन गुणों की स्वाभाविक शक्ति का कुछ बिगाड़ नहीं करते, परन्तु मोहनीयकर्म जीव के गुणों को सर्वथा विपरीत कर देता है इस कारण जीव का सबसे प्रधान शत्रु मोहनीय कर्म है।

मोहनीय कर्म में सब से जहरीला अंश दर्शन मोहनीय में है, संसार-परिभ्रमण का मूल कारण दर्शन मोहनीय है, जीव जिस समय दर्शन मोहनीय को छिन्न भिन्न कर देता है। उसी समय से मोहनीय कर्म की कमर टूट जाती है, वह फिर अधिक समय तक नहीं टिक सकता, उस की जड़ में राजयक्ष्मा का घुन लग जाता है और अवश्यम्भावी सर्वनाश होने की सूचना पर मुहर लग जाती है। चारित्र मोहनीय की अनेक शाखाएँ और उपशाखाएं हैं, उन शाखाओं में कषाय अधिक शक्तिशाली है, और कषायों में भी यानी चारित्र मोहनीय की उपशाखाओं में सब से अधिक बलवान् तथा जीव को दुःखदायक लोभ कषाय है।

लोभ के कारण जीव की सबसे अधिक दुर्दशा होती है। लोभ के ही कारण जीव को परिग्रह की इतनी भारी प्यास या भूख लगती है कि यह एक जगत् क्या ऐसे अनन्तों जगत् भी उसकी भूख प्यास को शांत नहीं कर सकते। श्री गुणभद्राचार्य ने लोभ की रूप रेखा संक्षेप से आत्मानुशासन ग्रन्थ के एक ही श्लोक में कितनी अच्छी खींची है।

आशागर्तः प्रतिप्राणि यत्र विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥

यानी—संसार के प्रत्येक प्राणी का आशागर्त (लोभ का गड्ढा) इतना गहरा है कि उसमें समस्त

जगत् परमाणु के समान दिखाई देता है, अर्थात् ऐसे अनन्त जगत भी एक जीव के आशागर्त को पूरा नहीं कर सकते, तब किस जीव के हिस्से में कितना क्या पदार्थ आ सकता है ? अर्थात् किसी की भी इच्छा इस विशाल जगत् के पदार्थों से तृप्त नहीं हो सकती। ऐसी दशा में लोभवश विषय भोगों की इच्छा करना व्यर्थ है।

अतएव लोभी मनुष्य अपनी व्याकुलता व इच्छा शान्त करने के लिये बुरे से बुरे, नीच से नीच निंद्य से निंद्य और भयानक से भयानक कार्य करने के लिये उद्यत हो जाता है। लोभ वश माता अपने पुत्र का वध (हत्या) कर देती है, पिता अपनी पुत्री को दुःखों में धकेल कर उसका जीवन नरकमय बना देते देता है। पत्नी अपने सौभाग्य के आधारभूत पति की हत्या भी लोभ के नशे में कर डालती और प्यारी बहिन लोभवश अपने सहोदर भाई का अपने ही हाथों से वध करती सुनी गई है । लोभ के कारण ही ब्राह्मण नीच चांडाल से भी अधिक घृणित कार्य करते कथाओं में दिखाई देते हैं।

पृथ्वी के भीतर हजार हजार फीट गहरी कोयले सोने आदि की खानों में खुदाई का खतरनाक काम लोभ ही कराता है, अतलस्पर्श समुद्र के तल में भी मनुष्य को लोभ ही पहुँचने के लिये विवश करता है। ४०-५० हजार फुट ऊँचे आकाश में जाने का साहस लोभ के आधीन ही किया जाता है। क्रूर जगली पशुओं से भरे बन पर्वतों में मनुष्य लोभ का गुलाम होकर ही प्रवेश करता है। अयोग्य नीच पुरुषों की चाटुकारिता यह लोभ ही कराता है, स्त्रियां अपना सतीत्व लोभ के कारण ही बेचती हैं। लोभ के निमित्त से ही मनुष्य अपनी मान-मर्यादा खो देता है, लोभ ही मनुष्य को दीन हीन बनने की प्रेरणा करता है, लोभ ही जन-संहार कराता है, लोभ ही मनुष्य को चोर, डाकू बनाता है, लोभ का भूत ही पुरुष को विश्वासघाती बना देता है, लोभ से ही अनीति अन्याय अत्याचार फलता फूलता और फैलता है। संसार में ऐसा कौन सा पाप है जिसको कि यह प्राणी लोभ की छाया में करने के लिये तैयार नहीं हो जाता ? इसी कारण 'लोभ पाप का बाप' बखाना है।

लोभ केवल धन का ही नहीं होता है उससे भी अधिक विषैला लोभ यश, प्रशंसा, प्रसिद्धि पाने का होता है। धन का लोभ तो धन मिल जाने पर कदाचित शान्त भी हो जावे परन्तु यश, प्रशंसा, प्रसिद्धि पाने का लोभ तो किसी तरह शान्त नहीं हो पाता। इसीके कारण मनुष्य लोक-कल्याण के लिये नहीं बल्कि नाम पाने की तीव्र अभिलाषा से दान भी कर डालता है, जनता भी धन के लोभ से 'मानवीर' की बजाय 'दानवीर' की पदवी दे डालती है (सभी दानी ऐसे नहीं होते) दूसरे के साहित्य को काट छांट कर अपने नाम से प्रकाशित करने का निन्द्य कार्य भी इसी नाम पाने के लोभ से हुआ करता है।

यह लोभ तब समाप्त होता है जब कि अन्य सब क्रोध, अहंकार, कपट आदि दुर्भाव नष्ट हो जाते हैं। दशवें गुण स्थान तक लोभ बना रहता है ।

ऐसे जघन्य दुर्भाव लोभ की शान्ति बाहरी पदार्थों के मिलने से नहीं हुआ करती, धन आदि बाहरी चीजें मिलते जाने से तो लोभ की मात्रा और अधिक बढ़ती है जैसे कि खारा पानी पीने से प्यास और बढ़ती है- अथवा लकड़ियों के डालने से अग्नि शान्त नहीं हो पाती, लोभ को शान्त करने की औषधि तो मन का नियन्त्रण करके इच्छाओं को रोकना है, परिग्रह (धन मकान वस्त्र आदि सांसारिक पदार्थों का मोह) त्याग कर अपरिग्रह व्रत दृढ़ता से पालन करना लोभ की सब से बड़ी चिकित्सा है । यदि

इतना न हो सके तो अपने उद्योग और भाग्य से जितनी धन सम्पत्ति प्राप्त हुई है उसमें सन्तोष करने से भी लोभ की व्याधि शांत हो जाती है।

जैन गृहस्थ को लोभ की मात्रा कम करने के लिये ही परिग्रह परिमाणव्रत, भोगोपभोग परिमाण व्रत पालन करने का उपदेश दिया है। सन्तोषी मनुष्य का मन अनीति से आये हुए अन्य व्यक्ति के धन की ओर आकर्षित नहीं होता। गरीब दरिद्र मनुष्य सन्तोष के कारण अच्छे ईमानदार बने रहते है और सन्तोष न होने पर धनिक मनुष्य भी अधार्मिक (बेईमान) बन जाते है।

अभी १०-११ वर्ष पहिले की घटना है समाचार पत्रों में प्रकाशिक हो चुकी है पंजाब के एक नगर में बाहर की ओर हिन्दू घसियारे घास लाकर बेचा करते थे। एक दिन एक मुगल जमींदार उधर होकर निकला। अचानक उसकी जेब में से उसका बटुआ निकल कर एक घसियारे के सामने सड़क पर गिर पड़ा। उस जमींदार को कुछ मालूम न हुआ, वह आगे चला गया. बटुआ उस युवक घसियारे ने अन्य मनुष्यों से आख बचाकर उठा लिया। बटुआ लेकर तत्काल वह अपने घर पहुँचा और उसने उसे अपने पिता को दिखलाया। बटुए में सौ सौ के १२ नोट थे। उसने कहा कि बापू! हमारी गरीबी दूर हो गई।

उसके पिता ने नाक सिकोड़ कर मीठे स्वर में कहा 'बेटा! गरीबी ऐसे दूर नहीं हुआ करती गरीबी तो अपने पसीने की कमाई से दूर होती है। हम लोग घसियारे हैं, घास खोद कर बेचना ही हमारा काम है, भगवान् हमारी इच्छा उसी कमाई में पूरी कर देता है। हम इन सौ सौ रुपयों के नोटों का क्या करेंगे। तू इस बटुए को वहां ले जा, जो कोई इसकी खोज करता हुआ आवे, उसको दे देना, कोई न आवें तो थाने में जमा करा देना।

अपने पिता की आज्ञा मानकर वह युवक घसियारा वहीं घास के गट्ठे के पास जा बैठा। थोड़ी देर पीछे वही जमींदार अपने गुम हुए बटुए को सडक पर देखता भालता उसके सामने आया। घसियारे ने पूछा कि क्या देख रहे हो?

जमींदार ने कहा कि मेरा बटुआ कहीं गिर गया है उसे ढूँढ़ रहा हूँ।

घसियारे ने बटुआ उस जमींदार को दिखाया, जमींदार ने प्रसन्न होकर कहा, हां, यही मेरा बटुआ है। घसियारे ने वह बटुआ उसे दे दिया। जमींदार ने अपने नोट गिने, फिर उस घसियारे का आभार (अहसान) मानने के बजाय उसको झिड़ककर कहा कि तूने २००) रुपयों के दो नोट इसमें से निकाल लिये हैं सो और दे दे, नहीं तो पुलिस को लाता हूं। घसियारे ने कहा कि यदि मैं आपके रुपये ही लेना चाहता तो आपको बटुआ ही वापिस क्यों करता? सभी रख लेता, मैंने इसमें से कुछ नहीं निकाला।

इस जमींदार ने थाने में रिपोर्ट की, पुलिस ने आकर घसियारे की खाना-तलाशी ली किन्तु उसके पास कुछ न निकला, तब पुलिस उसको पकड कर थाने ले गई और रात भर उसको मारती पीटती रही। परन्तु घसियारे ने कुछ लिया ही न था, वह २००) की चोरी स्वीकार कैसे करता।

दूसरे दिन पुलिस ने घसियारे को हथकड़ी लगाकर मजिस्ट्रेट के सामने कचहरी में पेश किया।

जज था तो मुसलमान, नाम था 'नादिरखां' परन्तु था बहुत न्यायप्रिय। उसने जमींदार का, पुलिस का तथा घसियारे का सारा बयान सुना। सब के बयान सुनकर उसने जमींदार को कहा कि तुम याद कर लो, शायद तुमने २००) खर्च किये हों। जमींदार ने दृढ़ता के साथ कहा कि नहीं, मेरे पूरे १४००) चौदह सौ रुपये बटुए में थे। मैंने उस में से एक भी रुपया नहीं निकाला।

फिर घसियारे से नादिरखा ने पूछा कि भाई! तूने २००) दो सौ रुपये निकाले हो तो बतला दे, तुझे छोड़ देंगे। घसियारे ने हाथ जोड़कर गद्गद् स्वर में कहा कि दो सौ रुपये छिपाने के लिये हमारे पास जगह भी नहीं, यदि हम चाहते तो सभी रुपये क्यों न रख लेते, उसके पिता ने भी रोते हुए ऐसा ही कहा।

जज ने पूछा कि पुलिस ने तुझे मार भी लगाई होगी, घसियारे ने अपने शरीर पर पुलिस की मार के चिन्ह दिखाकर कहा कि रात भर मैं पिटता रहा हूं।

तब जज ने पुलिस की भर्त्सना करते हुए घसियारे को छोड़ दिया और उसकी ईमानदारी पर प्रसन्न होकर वह बटुआ उसे दिला दिया और कहा कि ये रुपये तुम्हारे हैं।

जमींदार को कहा कि जाओ अपना १४००) रुपये वाला बटुआ तलाश करो यह बारह सौ रुपये वाला बटुआ तुम्हारा नहीं है। तब जमींदार हड़बड़ा कर कहने लगा हुजूर अब मुझे याद आ गई २००) मैंने खर्च कर दिये थे, अतः बटुए में १२००) ही थे।

जज ने कहा कि अब यदि दूसरा बयान दिया, तो झूठ बोलने की सजा भुगतनी पड़ेगी। जमींदार खिसिया कर चुपचाप चला गया।

प्रवचन नं० ५८

स्थान.—	तिथि:—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली	श्रावण शुक्ला १४ मंगलवार, २ अगस्त १९५५

देव मूढ़ता

संसार में जीव अपने विकृत—राग द्वेष मोह आदि परिणामों द्वारा कर्मबन्ध किया करता है। उन विकृत भावों में से कुछ भाव शुभ होते हैं—जैसे कि वीतराग देव की भक्ति, निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा, जिनवाणी का स्वाध्याय, तीर्थयात्रा, व्रतनियम आचरण, दया, दान, परोपकार, दीन दुःखी सेवा आदि; ऐसे भाव शुभ कहलाते हैं। इन शुभ भावों के द्वारा जीव अपने भविष्य के लिये कुछ सुख शान्ति के साधन मिलाने वाला पुण्य कर्म का उपार्जन करता है जिस से अन्य भव में अच्छा शरीर, अच्छी आयु, अच्छा परिवार, अच्छा कुल, गुणों का विकास, सत्संगति आदि अच्छे साधन मिला करते है जिनके द्वारा वह अन्य असंख्य दुःखी प्राणियों की अपेक्षा सुख शान्ति अनुभव करता है।

अन्य प्राणियों को दुःख देना, अभक्ष्य—मांस मदिरा आदि खाना पीना, असत्य बोलना, चोरी करना, व्यभिचार करना, धन सचय करके उसके द्वारा अपना तथा जनता का कुछ उपकार न करना, दान न करना, तीर्थयात्रा, भगवत् पूजा, गुरुवन्दना न करना, व्रत नियम आदि न करना, सदा विषय भोगों में लगे रहना। क्रोध, अभिमान, धोखेबाजी, विश्वासघात आदि करना इत्यादि बुरे भाव हैं। ऐसे बुरे भावों के द्वारा जीव पाप कर्मों का उपार्जन करता है। पाप कर्म के उदय से दुःख व्याकुलताकारक अनिष्ट सामग्री मिलती है। जैसे कि रोगी, कुरूप शरीर मिलना, नीच कुल में जन्म लेना, दुर्गुणी कलहकारक परिवार मिलना, दरिद्रता प्राप्त होना इत्यादि।

संसारी जीवों को मध्यम दर्जे की सुख सामग्री मनुष्य गति में अच्छे कुल में जन्म लेकर मिला करती है, अधिक पुण्य कर्म के योग से जीव को देवगति प्राप्त होती है, अत्यन्त अशुभ कार्य करने से जीव नरक जाता है और मध्यम श्रेणी का पापकर्म उपार्जन करने से पशु पक्षी आदि होता है। पुण्यकर्म असख्य तरह के होते हैं अत उनके फलस्वरूप सुखदायक शरीर भी असंख्य तरह के होते है, इसी कारण न सब देव एक समान होते हैं और न सब मनुष्य एक सरीखे होते हैं मनुष्य तथा देवों में अनेक उच्च कोटि के सुखी होते हैं, अनेक मध्यम श्रेणी के सुखी होते हैं और अनेक निम्न श्रेणी के होते हैं जिन का जीव दुःखमय होता है, इसी पापकर्म की असंख्य श्रेणियां हैं और उनके फलस्वरूप पशु पक्षियों में दुःख सुख की तरतमता तथा नारकियों में दुख का तारतम्य प्राप्त होता है।

यद्यपि देव, मनुष्य, पशु, नरक ये चार गतियां हैं और इनमें जन्म लेने के स्थान रूप योनि ८४ लाख प्रकार की हैं, परन्तु शरीर असंख्य प्रकार का होता है और कुल-जाति, परिवार आदि उपलब्ध सामग्री भी असंख्य तरह की अपने अपने उपार्जित पुण्य पाप रूप कर्मों के उदय अनुसार मिला करती है।

इनमें से हमको मनुष्य तथा पशु पक्षी आदि तिर्यंच जीव तो यहाँ दिखाई देते हैं परन्तु नारकी तथा देव दिखाई नहीं देते। उन दोनों तरह के जीवों की सत्ता अर्हन्त सर्वज्ञ की वाणी अनुसार शास्त्रीय प्रमाण से मानी जाती है। इसके सिवाय अनेक स्त्री पुरुषों पर भूतों प्रेतों की बाधा होते भी देखी जाती है इसलिये देवों का अस्तित्व अनुमान से भी सिद्ध होता है।

दिव् धातु से देव शब्द बना है। दिव धातु के क्रीड़ा करना, जीतने की इच्छा करना आदि अनेक अर्थ हैं। देवों के वैक्रियिक शरीर होता है, हमारी तरह हड्डी, मांस आदि सात धातुओं वाला औदारिक शरीर नहीं होता। इसी कारण वे अनेक तरह की विक्रिया (रूप) कर सकते हैं। यह विक्रिया ऋद्धि अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अन्तर्धान, अप्रतिघात, कामरूपित्व आदि अनेक प्रकार की हैं।

अपना शरीर परमाणु जैसा छोटा बना लेने की शक्ति <u>अणिमा</u> है।

पहाड़ जैसा तथा उससे भी बड़ा अपना शरीर बनाने की शक्ति <u>महिमा</u> है।

रुई की तरह अपना शरीर हलका बना लेने की शक्ति <u>लघिमा</u> है।

लोहे पत्थर की तरह अपना बहुत भारी शरीर बना लेने की शक्ति <u>गरिमा</u> है।

पृथ्वी पर बैठे बैठे अपनी उंगली से सूर्य चन्द्र आदि छू लेने की शक्ति प्राप्ति है।

पृथ्वी पर जल में डूबकी सी लगाते हुए और जल में पृथ्वी की तरह चल सकने की शक्ति प्राकाम्य है।

अपना खूब अच्छा राजा महाराजाओं से भी अधिक ठाट-बाट बना लेने की शक्ति ईशित्व है।

अन्य जीवों को अपने वश में कर लेने की शक्ति वशित्व है।

तत्काल अपना शरीर अदृश्य (न दिखने वाला) बना लेने की शक्ति अन्तर्धान है।

पर्वत आदि में से भी बिना रुकावट के आने जाने निकल जाने की शक्ति अप्रतिघात है।

अनेक प्रकार के रूप और अनेक शरीर बना लेने की शक्ति कामरूपित्व है।

इस प्रकार विक्रिया ऋद्धि के कारण देवों के शरीर में मनुष्य की अपेक्षा अनेक महत्वपूर्ण विशेषताएँ पाई जाती हैं, उनमें बल भी मनुष्य की अपेक्षा अधिक होता है, इसी कारण वे अनेक चमत्कार-पूर्ण कार्य कर डालते हैं। देव स्वर्गों में, मध्य लोक तथा पाताल में भी रहते हैं उनकी अनेक जातियाँ हैं। वैमानिक देव स्वर्गों में रहते हैं। ज्योतिषी देव मध्य लोक में रहते हैं। भवनवासी अधोलोक में रहते हैं और व्यन्तर देवों में से कुछ अधोलोक में और कुछ मध्यलोक में ही रहते हैं। भूत पिशाच आदि व्यन्तर देवों के ही भेद हैं।

विक्रिया ऋद्धि के कारण देवों में यद्यपि साधारण मनुष्यों से अधिक बल विक्रम तथा विशेषता होती है, उन्हें जन्म भर कोई रोग नहीं होता, बुढ़ापा नहीं आता, भूख प्यास लगते ही उनके गले से स्वयं अमृत झर कर उनकी भूख प्यास को शान्त कर देता है। उनको जन्म भर कोई शारीरिक कष्ट नहीं हुआ करता, इस दृष्टि से देवों का जीवन मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सुखी समझा जाता है। परन्तु मनुष्य शरीर में आध्यात्मिक गुणों का विकास देवों की अपेक्षा भी अधिक हो सकता है।

मनुष्य ही उन शुभ कर्मों का उपार्जन कर सकता है जिनके द्वारा देवयोनि प्राप्त होती है। देव कोई भी वैसे शुभ काम का उपार्जन नहीं कर सकता। इसी कारण देव मरकर पुन. देव शरीर नहीं पा सकते। इसके सिवाय तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण आदि भी मनुष्य ही होते हैं जिनकी सेवा देवगण किया करते हैं। अनेक मन्त्रवादी अपने मन्त्रबल से देव देवियों को अपने वश में कर लेते है। इसके सिवाय जन्म मरण की परम्परा समाप्त करके मुक्तिपद भी मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। इस कारण देवों में यद्यपि साधारणतः शारीरिक विशेषताएं होती हैं किन्तु आध्यात्मिक विशेषताएं मनुष्य में ही विकसित होती हैं। मनुष्य ही अपने आत्मा के समस्त गुणों का पूर्ण विकास करके त्रिलोक-पूज्य परमात्मा बन जाता है। वह अर्हन्त परमात्मा समस्त देवों से भी पूज्य होने के कारण देवाधिदेव कहलाता है।

आत्मा को महात्मा और परमात्मा बनाने के लिए उन्हीं देवाधिदेव अर्हन्त भगवान् की आराधना की जाती है। अर्हन्त भगवान् की पूजा भक्ति करने से सौधर्मेन्द्र, यक्ष यक्षिणी आदि देवी देवियों को आत्म श्रद्धा होकर सम्यग्दर्शन हो जाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टी देव कभी कभी धर्मात्मा स्त्री पुरुषों पर,

मुनियों पर तथा तीर्थंकरों पर कोई विपत्ति या उपसर्ग आजाने पर धर्मानुराग से सहायता करके उपद्रव दूर कर दिया करते हैं। जैसे कि भगवान् पार्श्वनाथ का उपसर्ग धरणेन्द्र पद्मावती ने दूर किया था, सीता के अग्निकुण्ड को पानी में परिणत कर दिया था, सुदर्शन सेठ की शूली सिंहासन बना दी थी। अतः मन्त्र-वादी मनुष्य मन्त्र सिद्ध करके ऐसे देवों की सहायता से लौकिक कार्य सिद्ध किया करते हैं, तथा चमत्कार दिखला कर जनता में धर्म का प्रभाव फैलाते हैं।

यदि आत्मा को शुद्धता की दृष्टि से देखें तो सम्यग्दृष्टी देव तथा शासन देव चौथे गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टी होते हैं। अतः जो मनुष्य सम्यग्दृष्टी नहीं है वही मनुष्य उनको नमस्कार कर सकता है, सम्यग्दृष्टि मनुष्य को सांसारिक इच्छाएं या सांसारिक सुख अभीष्ट नहीं होते अतः वह अर्हन्त भगवान् के सिवाय अन्य किसी देव को न नमस्कार करता है, न आत्मशुद्धि के लिये उसे आदर्श मानता है। कभी धर्म प्रभावना के लिये उन देवों की सहायता से चमत्कार दिखला देते है। जैसे मुसलमानी शासन के समय अनेक बार भट्टारकों ने दिखलाये थे।

ऐसे चमत्कारों को देखकर कुछ अज्ञानी पुरुष ऐसे देवी देवताओं की पूजा करने लगते हैं और उससे धन, सम्पत्ति, स्त्री पुत्र आदि पदार्थ पाने की प्रार्थना किया करते हैं। यह देव मूढ़ता है।

धन सम्पत्ति पुत्र मित्र स्त्री आदि सुख सामग्री पुण्य कर्म के उदय से मिलती है यदि पूर्व भव में पुण्य कर्म का उपार्जन न किया हो तो चाहे जितने देवी देवताओं को पूजा उपासना की जावे, चाहे जितने मन्त्र साधन किये जावें, सुख सामग्री नहीं मिल सकती। रावण ने रामचन्द्र लक्ष्मण को युद्ध में जीतने के लिये कितने मन्त्र सिद्ध किये, बहुरूपिणी विद्या भी सिद्ध करली परन्तु राम लक्ष्मण के तीव्र पुण्य के सामने कोई भी काम न आया। देवाधिष्ठित सूर्यहास खड्ग शम्बुकुमार ने सिद्ध किया परन्तु उससे भी अधिक पुण्यशाली लक्ष्मण ने उसे सहज में प्राप्त कर लिया। इस सुख शान्ति पाने के लिये अर्हन्त भगवान् की पूजा उपासना तथा दान व्रत आदि धर्म सेवन करना चाहिये जिससे पुण्य कर्म उपार्जन हो और जिसके द्वारा सुख प्राप्त हो।

शासन देवी देवताओं के सिवाय संसार में और भी अनेक मिथ्यादृष्टी देवी देवता हैं उनकी पूजा आराधना तो और भी अधिक बुरी है क्योंकि उससे आत्मा का और भी पतन होता है। आत्मा के पतन का कारण मिथ्यात्व है मिथ्या देवी देवताओं की भक्ति पूजा से मिथ्या श्रद्धा (मिथ्यात्व) मिलती है। मिथ्या श्रद्धा से ही लोग बकरा, मुर्गी, भैंसा आदि जीव-जन्तुओं का निर्दयता से कत्ल करके देवी देवताओं को भेंट करते हैं और अनेक मान्यताए मानते हैं। यह सब देवमूढ़ता है। आत्म श्रद्धालु सम्यग्दृष्टी धर्मात्मा किसी भय, आशा, लोभ से रागद्वेषी देवी देवताओं की पूजा भक्ति नहीं करता है।

अज्ञानता के कारण भोले लोग सड़क पर लगे हुए मील के पत्थरों को भी पूजने लगते हैं।

एक बार एक नगर में एक सडक से एक राजा की सवारी निकलनी थी, अतः उस सड़क की खूब सफाई और पानी का छिड़काव किया गया। म्युनिसिपालिटी (नगरपालिका) के कर्मचारी सफाई का ध्यान बराबर रख रहे थे। इधर राजा हाथी पर सवार होकर आरहा था, उधर उसी समय सड़क पर एक कुत्ते ने टट्टी करदी। म्युनिसिपालिटी के सफाई कराने वाले अधिकारी ने देख लिया, उसने इधर उधर देखा

परन्तु वहाँ पर कोई मेहतर दिखाई न दिया। तब उसने उस टट्टी को छिपाने के लिये अपने गले में से फूलों की माला उतार कर उस कुत्ते की टट्टी पर डाल दी। राजा की सवारी वहाँ से निकल गई।

लोगों ने देखा कि यहाँ पर फूलों की माला रक्खी हुई है तो यहाँ कोई देव होगा अतः दूसरे मनुष्य ने भी उस पर फूल चढ़ा दिये, तीसरा मनुष्य भी कोई नया देव मानकर फूल चढ़ा गया, इस तरह देखा देखी जो भी मनुष्य उधर आया उसने वहाँ फूल देखकर किसी नये देव का उदय उस स्थान पर जानकर फूल चढ़ा दिये, इस तरह वहाँ थोड़ी ही देर में फूलों का ढेर लग गया और उसका नाम भी फूलों का देवता प्रसिद्ध हो गया।

तब एक बुद्धिमान मनुष्य आया उसने सोचा कि दो घंटे पहले यहां कोई देवी देवता न था अब अचानक कहाँ से कोई देव आगया ? अपनी शंका दूर करने के लिए उसने जब सब फूलों को हटाया तो वहाँ पर कुत्ते की टट्टी निकली।

ऐसे ही देखा देखी पीपल, जंडी, दुइया, चौराया आदि में भी अज्ञानी स्त्री पुरुष देवी देवता की कल्पना करके उनको पूजते हैं। यह सब देव मूढ़ता है। देवमूढ़ता से बचकर शुद्ध बुद्ध वीतराग सर्वज्ञ अर्हन्त परमात्मा के सिवाय अन्य किसी देवी देवता की पूजा आराधना भक्ति न करनी चाहिये।

प्रवचन नं० ५६

स्थान:— श्री दिगम्बर जैन लालमन्दिर, दिल्ली।

तिथि:— श्रावण शुक्ला १५ बुधवार, ३ अगस्त १९५५

रक्षाबन्धन

आज के दिन श्री विष्णुकुमार मुनिवर ने अपनी विक्रिया ऋद्धि से श्रीअकम्पनाचार्य के ७०० मुनिसंघ की प्राणघातक उपसर्ग से रक्षा की थी, उसी के स्मारक रूप में आज का दिन रक्षाबन्धन के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुआ है। यह शुभ दिवस अपने साधर्मी व्यक्तियों से वात्सल्य रखने तथा उनकी विपत्ति निवारण करने की शिक्षा देता है। इस ऐतिहासिक घटना का विवरण इस तरह है—

आज से बहुत प्राचीन समय में उज्जैन में एक राजा राज्य करता था, उसके चार ब्राह्मण मन्त्री थे जिनका नाम बली, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद था। वे चारों मन्त्री अच्छे बुद्धिमान् थे परन्तु उनको जैन-धर्म के साथ बहुत द्वेष और घृणा थी।

एक बार श्री अकम्पन आचार्य अपने संघ के ७०० मुनियों के साथ विहार करते हुए उज्जैन नगर के बाहर ठहरे। उन्हे लोगों से मालूम हुआ कि यहा के राजमन्त्री जैनधर्म के साथ द्वेष करते हैं, अतः निमित्त ज्ञान से आने वाली दुर्घटना विचार कर के उन्होंने समस्त मुनियों को आदेश दिया कि आज राजा और मन्त्री यहाँ दर्शन करने के लिये आने वाले हैं, उस समय सब मौन भाव से रहना, आत्म-ध्यान करना, उनसे कुछ नहीं बोलना। आचार्य महाराज ने जिस समय सघ को यह आदेश दिया उस

समय वहां पर श्रुतसागर नामक एक मुनि नहीं थे वे भोजन करने नगर में गये हुए थे, अत उन्होंने आचार्य महाराज की आज्ञा नहीं सुनी।

कुछ देर पीछे उज्जैन का राजा अपने मन्त्रियों सहित उन साधुओं की वंदना के लिये आया। उस समय सभी साधु आचार्य महाराज की आज्ञानुसार आत्मध्यान में लीन होगये, राजा ने सभी साधुओं के क्रम से दर्शन किये और नमस्कार किया किन्तु आत्मध्यान में तन्मय होने से किसी भी साधु ने राजा से न कुछ वार्तालाप किया, न कुछ आशीर्वाद दिया, राजा जब मुनियों के दर्शन करके घर को लौटा तो मन्त्रियों ने उससे कहा कि ये सब बड़े अभिमानी, ढोंगी और मूर्ख हैं इसी कारण इन्होंने ध्यान का ढंग कर के आपको आशीर्वाद तक न दिया। मन्त्रियों की बात सुन कर राजा चुप रहा। इतने में उन्हें भोजनचर्या से निवृत्त होकर आते हुए श्रुतसागर मुनि मार्ग में मिले।

उन दुष्ट मन्त्रियों ने श्रुतसागर को देखकर व्यङ्गरूप से उनको तरुण बैल कह कर उन से छेड़खानी की। श्रुतसागर मुनि अपने नाम के अनुरूप महान् विद्वान् थे, उन्होंने मन्त्रियों के व्यङ्ग का उचित उत्तर दिया। तब मंत्रियों ने वहीं पर जैन सिद्धान्त पर आक्षेप कर के वाद विवाद (शास्त्रार्थ) प्रारम्भ कर दिया। श्रुतसागर मुनि कब पीछे हटने वाले थे, उन्होंने तार्किक युक्तियों और स्याद्वाद न्याय से मन्त्रियों के युक्तिजाल को छिन्नभिन्न कर के मंत्रियों को निरुत्तर कर दिया जिस से राजा के हृदय पर जैनधर्म का अच्छा प्रभाव पड़ा। मन्त्री वाद विवाद में हार कर बहुत लज्जित हुए। उधर श्रुतसागर ने संघ में पहुँच कर आचार्य महाराज से शास्त्रार्थ की घटना कह सुनाई। अकम्पनाचार्य ने कहा कि संघ के लिये यह घटना विपत्ति का कारण हो सकती है, तुमको ऐसा न करना था। अस्तु आज रात्रि को तुम उसी शास्त्रार्थ के स्थान पर जाकर आत्म ध्यान करो। श्रुतसागर मुनि ने ऐसा ही किया।

मन्त्रियों को एक तो वैसे ही जैनधर्म से द्वेष था, दूसरे वे श्रुतसागर मुनि से वाद विवाद में हार कर राजा के सामने लज्जित हुए, अतः उन्होंने अपने अपमान का बदला लेने का विचार किया। तदनुसार रात्रि के समय सभी मुनियों को तलवार से मार डालने का निश्चय किया। जब रात हुई तो वे चारों मन्त्री तलवार लेकर मुनि सघ को तलवार के घाट उतार देने के लिये मुनिसघ की ओर चल पड़े। मार्ग में उनको उसी स्थान पर, जहां कि मुनि श्रुतसागर के साथ शास्त्रार्थ हुआ था, उन्हीं श्रुतसागर मुनि को ध्यान निमग्न देखा। मन्त्री उन्हें देख कर बहुत प्रसन्न हुए कि हमको अपना असली शत्रु अपने आप सब से पहले मिल गया, उन्होंने निश्चय किया कि सबसे पहले इसका काम तमाम कर देना चाहिये। तदनुसार चारों मंत्रियों ने अपनी अपनी तलवार म्यान से निकाल कर श्रुतसागर मुनि को मारने के लिये एक साथ उठाई, उसी समय उस वन में रहने वाले देवता ने उन चारों मंत्रियों को ज्यों का त्यों कील दिया। जिससे वे मंत्री ज्यों के त्यों तलवार उठाये पत्थर के खम्भ की तरह खड़े रह गये, वहां से हिल चल न सके।

रात बीत कर जब प्रातःकाल हुआ तब उस मार्ग से आने जाने वाले स्त्री पुरुषों ने चारों मन्त्रियों को श्रुतसागर मुनि के ऊपर तलवार ताने हुए निश्चेष्ट देखा। यह बात बिजली तरह सारे उज्जैन में फैल गई, राजा के कानों में भी जा पहुंची, तब उज्जैन की जनता और राजा आदि सभी लोग यह कौतुक देखने वहाँ पर पहुंचे।

राजा ने मन्त्रियों को बहुत धिक्कारा , राजा की प्रार्थना पर बन देवता ने मंत्रियों का कीलना रोक दिया । तब राजा उन मंत्रियों को इस कुकृत्य का दण्ड देने के लिये नगर में ले गया । वहां उन चारों का मुख काला कर दिया और उन्हे गधों के ऊपर बिठा कर नगर में घुमाया तदनन्तर उन को अपने राज्य से बाहर निकाल दिया । मन्त्रियों को यों अपमानित होने से बहुत लज्जा आई । वे वहां से निकल कर घूमते फिरते हस्तिनापुर आये । हस्तिनापुर आकर उन्होंने वहाँ के शासक राजा पद्मराय को अपनी बुद्धिमानी का परिचय दिया जिससे प्रसन्न होकर पद्मराय ने उन चारों को अपना मन्त्री बना लिया ।

एक दिन उन मन्त्रियों ने राजा पद्मराय को उदास देखा, आग्रह करके मन्त्रियों ने राजा से उदासी का कारण पूछा, राजा ने कहा कि राजा सिंहबल मेरे राज्य में लूटमार करके अपने दुर्ग में बैठ गया है, उसका अत्याचार मुझे दुःख दे रहा है । मन्त्रियों ने कहा कि यह कौन सा बड़ा काम है, हम उसे जीवित पकड़ कर आप के सामने लाकर खड़ा कर देंगे । तदनन्तर वे चारों मन्त्री सेना लेकर सिंहबल से जा भिड़े । सिंहबल भी सेना के साथ मैदान में आ डटा, दोनों ओर से घोर युद्ध छिड़ गया । मन्त्रियों ने छल बल से राजा सिंहबल को पकड़ कर बांध लिया और उसे राजा पद्मराय के सुपुर्द किया । अपने शत्रु को बन्दी बना देख पद्मराय मन्त्रियों पर बहुत प्रसन्न हुआ । उसने उन से कहा कि तुम मुझसे जो कुछ मांगो सो मैं तुमको दे सकता हूँ । मन्त्रियों ने परस्पर सलाह करके कहा कि आप अपना बचन अपने पास जमा रखिये, हमको जब कभी किसी वस्तु की आवश्यकता प्रतीत होगी, तब आप से मांग लेंगे । राजा ने यह बात स्वीकार कर ली ।

आचार्य अकम्पन अपने मुनिसंघ के साथ इधर उधर बिहार करते हुए वहाँ हस्तिनापुर आ पहुंचे । नगर के बाहर बन में ठहरे । हस्तिनापुर के समस्त नर नारी उनकी बंदना करने गये, राजा पद्मराय ने भी उनके दर्शन किये । उन मंत्रियों को जब अकम्पनाचार्य के साधुसंघ सहित वहां आ पहुँचने का समाचार मिला तब उनको पुराना वैरभाव याद आ गया । उन्होंने उस अपमान का बदला लेने का यह एक अच्छा अवसर देखा । वे चारों राजा पद्मराय के पास गये और राजा से कहा कि अब आप हमारा इच्छित वर प्रदान करें ।

पद्मराय ने प्रसन्नता से साथ कहा कि जो कुछ मांगना चाहो, मुझ से मांग लो ।

मन्त्रियों ने कहा कि आप सात दिन को अपना राज्य अधिकार दे दीजिये । पद्मराय ने मन्त्रियों की बात स्वीकार कर ली और अपना सारा राज्य-अधिकार मन्त्रियों को देकर आप राज्य भवन में जा बैठा । राज-अधिकार पाकर उन दुष्ट मन्त्रियों ने समस्त मुनिसघ को जीवित जला देने की योजना बनाई ।

उन्होंने मुनियों के चारों ओर गीली लकड़ियों का बाडा लगवा कर नरमेध-यज्ञ के लिये उन लकड़ियों में अग्नि लगादी, लकड़ियां गीली होने से उन से बहुत धुआँ निकलने लगा तथा यज्ञ में चर्बी आदि पदार्थ आदि डालने शुरू किए जिनके धुएं से मुनियों के गले तथा नेत्र रुंधने लगे । अपने आचार्य के आदेशानुसार समस्त मुनि अपने ऊपर महान् उपसर्ग आया अनुभव करके आत्मध्यान में बैठ गये । मुनियों पर ऐसा प्राणघातक उपसर्ग अपने दुर्जन मन्त्रियों द्वारा होता देखकर राजा पद्मराय को बहुत दुःख हुआ, किन्तु सात दिन के लिये वचन-बद्ध होने के कारण उपसर्ग दूर करने में असमर्थ रहा । समस्त जनता में हा-हाकार मच गया किन्तु राजसत्ता-प्राप्त मंत्रियों के सामने कोई कुछ न बोल सकता था ।

श्री विष्णुकुमार मुनि के गुरु मिथिला नगरी में ठहरे हुए थे, उन्होंने रात्रि में श्रवण नक्षत्र को कांपते हुए देखा तब दिव्यज्ञान से हस्तिनापुर अकम्पनाचार्य के मुनिसंघ पर महान् उपसर्ग होता जान कर अकस्मात् उनके मुख से दुःख चिन्ता सूचक हाय-हाय शब्द निकल पड़ा। रात्रि में अपने गुरु के मुख से 'हाय-हाय' शब्द सुनकर वहां निकट मे बैठे हुए पुष्पदन्त विद्याधर क्षुल्लक ने उनसे इसका कारण पूछा, तब उन्होंने कहा कि हस्तिनापुर में राजा पद्मराय के दुष्ट मंत्रियों ने नर-मेघ यज्ञ रचकर अकम्पनाचार्य के संघ के ७०० मुनियों को जीवित जला देने की योजना बनाई है। तत्काल यह उपसर्ग शान्त न किया गया तो मुनियों का जीवित बचना कठिन हो जायगा।

क्षुल्लक ने पूछा कि महाराज ! इसका उपाय क्या है।

गुरु बोले कि धरणी तिलक पर्वत पर विष्णुकुमार मुनि तपस्या कर रहे हैं। उनको विक्रिया ऋद्धि सिद्ध होगई है, अतः विष्णुकुमार उस ऋद्धि द्वारा यह उपसर्ग दूर कर सकते हैं। गुरु की बात सुन कर तथा गुरु की आज्ञा लेकर क्षुल्लक पुष्पदन्त तत्काल आकाशगामिनी विद्या के द्वारा आकाश मार्ग से चल कर थोड़ी ही देर में धरणी तिलक पर्वत पर जा पहुंचे और विष्णुकुमार मुनि से समस्त वृत्तान्त कहा।

क्षुल्लक की बात सुन कर विष्णुकुमार मुनि के हृदय में करुणाभाव तथा वात्सल्यभाव उमड़ आया, वे विद्याधर के साथ उसी समय हस्तिनापुर चल पड़े। हस्तिनापुर पहुंच कर पहले तो अपने संसारी भाई राजा पद्मराय को फटकारा। फिर बलि मन्त्री का गर्व दूर करने के लिये विष्णुकुमार ने अपना बहुत छोटा वामन (बौना) शरीर बनाया और ब्राह्मण का रूप बनाकर वेदों के मन्त्र स्पष्ट बोलते वहां पहुचे, जहां पर बलि आदि मंत्री यज्ञ कर रहे थे।

लघुकायधारी उस ब्राह्मण के मुख से वेद मन्त्रों का स्पष्ट उच्चारण सुनकर बलि मंत्री बहुत प्रसन्न हुआ और बोला कि द्विज ! मुझ से जो कुछ मांगना चाहो, इस समय मुझ से माग लो। वामन रूप धारी विष्णुकुमार ने बलि से तीन वार वचन लेकर कहा कि मुझको अपने रहने के लिये केवल तीन पैंड (तीन कदम) पृथ्वी चाहिये। बलि ने कहा कि विप्र तुमने बहुत थोड़ा मागा है तुम्हारे छोटे छोटे पैरों से तीन पैंड पृथ्वी बहुत थोड़ी, होगी अतः कुछ और माग लो। ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि बस, मुझे इतनी ही पृथ्वी की आवश्यकता है और कुछ नहीं चाहिये। बलि ने कहा—कि अच्छा, तीन पग पृथ्वी नाप कर ले लो।

तब विष्णुकुमार ने विक्रिया ऋद्धि से अपना शरीर बहुत बड़ा कर लिया, तदनुसार अपना एक पैर सुमेरु पर्वत के ऊपर रख दिया और दूसरा पग मानुषोत्तर पर्वत के ऊपर रख दिया फिर बलि से कहा कि अब तीसरे पग के लिये पृथ्वी ला। बलि विष्णुकुमार का विराट् रूप देख कर चकित रह गया और उनके चरणों में गिर कर क्षमा मांगने लगा।

विष्णुकुमार ने अपने असली रूप में आकर अकम्पनाचार्य के मुनि संघ का उपद्रव दूर कराया। समस्त श्रावकों ने धुएं से रुंधे हुए मुनियों के गलों को लाभकारी सेवइयों के रूप में कोमल भोजन तैयार किया और बड़ी भक्ति के साथ उनको आहार कराया। तदनन्तर समस्त जनता ने मुनिसंघ की रक्षा के

स्मरण में एक दूसरे ने कलाई में सूत्र का धागा बांधा। विष्णुकुमार मुनि प्रायश्चित्त लेकर फिर तपस्या करने चले गये।

वह पवित्र दिन श्रावण सुदी पूर्णमा का था। उसी दिन से प्रतिवर्ष यह दिन रक्षा बन्धन के नाम से मनाया जाता रहा है। हम को यह दिन केवल परम्परा के अनुसार ही केवल अनुकरण के रूप में ही न मनाना चाहिए, बल्कि प्रातःस्मरणीय विष्णुकुमार मुनि के समान साधर्मी जनता की विपत्ति हटाने के लिये सर्वस्व समर्पण करने के लिये तैयार रहना चाहिए। तथा अकम्पनाचार्य की तरह दृढ़ता से धर्म-पालन करना चाहिए।

प्रवचन नं० ६०

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली।

तिथि—
प्रथम भाद्रपद कृष्णा १ गुरुवार, ४ अगस्त १९५५

श्रद्धा ज्ञान आचरण

संसारी जीव को ऐसी दृढ़ श्रद्धा जमी हुई है कि यह भौतिक शरीर मेरा है, इसके बिना मैं नहीं हूँ और मेरे बिना यह नहीं है, यदि मैं जन्म लेता हूं तो शरीर जन्म लेता है और मैं मरता हूँ तो शरीर मरता है, अथवा शरीर की उत्पत्ति के साथ मेरी उत्पत्ति है और शरीर के विनाश के साथ मेरा विनाश है, शरीर बचपन में होता है तो मैं बच्चा होता हूँ, यदि शरीर युवा हुआ तो मैं भी युवक बन गया, शरीर के बुढापे के साथ में बूढा हो जाता हूँ। शरीर में बल आता है मैं बलवान बन जाता हूँ और यदि शरीर निर्बल होता है तो मैं निर्बल बन जाता हूं। शरीर प्रसन्न होता है तो मैं प्रसन्न होता हूँ यदि शरीर दुःख पाता है तो मैं दुःख पाता हूँ।

स्त्री पुरुष के समागम से शरीर आल्हादित होता है तो मुझे आल्हाद होता है, गर्मी के दिनों में गर्म वायु और सर्दी की ऋतु में शीतल वायु शरीर को कष्ट देती है तो मुझे कष्ट होता है, तथा ग्रीष्म ऋतु में शीतल वायु से, शीतल ऋतु में उष्ण स्पर्श से शरीर सुखी होता है तो वह सुख मुझे भी अनुभव में आता है। यदि मिष्टान्न आदि स्वादिष्ट भोजन से मेरी जीभ तृप्त होती है तो वह तृप्ति मुझे मिलती है, यदि कड़वी आदि चीज जीभ को अरुचिकर होती है तो अरुचि मुझे भी होती है। अगर सुगन्धित फूल तेल इत्र आदि से नाक को सुख मिलता है तो मैं सुखी होता हूँ, दुर्गन्धित चीजें नाक को दुःखकारी होती हैं. तो वे चीजें मेरे लिये भी दुःखप्रद हैं। यदि अच्छे रंगीन पदार्थ, खेल, सुन्दर चित्र आँखों को प्रिय लगते हैं तो वे मुझे भी प्रिय हैं यदि खराब घिनावनी चीजों को देखकर आँखें घृणा करने लगती हैं तो उन पदार्थों से मुझे भी घृणा होती है। यदि सुरीले रसीले गाने, बाजे, शब्द मेरे कानों को प्रिय लगते हैं तो वे मुझे भी प्यारे प्रतीत होते हैं तथा यदि दुःस्वर, रूक्ष शब्दों से कानों को कष्ट होता है तो वैसे शब्द मुझे भी कष्टदायक होते हैं।

इस तरह माता पिता पुत्र स्त्री मित्र आदि जिन व्यक्तियों को यह जीव अपने शरीर के सुखदाता समझता है उनसे प्रीति करता है और जिन जीवों को शरीर के लिये दुःखदाता समझ लेता है उनको

अपना शत्रु मान बैठता है अतः उनसे वैर करता है। इस तरह से शरीर में अपनेपन की श्रद्धा से यह जीव राग द्वेष घृणा क्रोध लोभ अभिमान आदि सभी दुर्भावों में फंस जाता है।

उस श्रद्धा के अनुरूप ही इसका ज्ञान परिणत होकर किसी को अपना शत्रु और किसी को अपना मित्र जानता है।

श्रद्धा और ज्ञान के अनुसार ही इसका आचरण होता है इसी कारण संसारी जीव किसी से लड़ता झगड़ता है, किसी को मारता कूटता नष्ट भ्रष्ट करता है, दूर कर देता है, घृणा करता है और किसी की रक्षा करता है, सदा अपने पास रखने का यत्न करता है, अपने मनोरंजन के कार्य में लेता रहता है, सहायता करता है।

इसी विपरीत या मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या आचरण या असदाचार के कारण यह जीव ज्ञानावरण मोहनीय आदि आठों कर्मों का बन्ध करता रहता है। इस तरह इस जीव को इस संसार में रुलाने वाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं है स्वयं इसका मिथ्या श्रद्धान (मिथ्या दर्शन), मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र ही इस संसार में भ्रमण कराने वाला है।

लौकिक कार्यों में भी श्रद्धा ज्ञान आचरण से ही कार्यवाही चला करती है। एक रोगी मनुष्य को किसी वैद्य पर श्रद्धा करनी पड़ती है कि यह मेरा रोग दूर कर देगा। उस श्रद्धा के अनुसार ही वह उसकी औषधि को अपने रोग को दूर करने वाली समझता है। इस श्रद्धा तथा ज्ञान के साथ यदि वह रोगी उस औषधि को सेवन करने रूप आचरण न करे तो वह अपना रोग अच्छा न कर सकेगा।

इसी तरह कर्मों का रोग दूर करने के लिये मनुष्य को प्रथम ही अपने आत्मा की श्रद्धा ठीक करनी होगी। शरीर पौद्गलिक है, जड़ है, अन्य जड़ पदार्थों वस्त्र, घड़ा, मकान आदि—की तरह विभिन्न अनेक पदार्थों (रज वीर्य, भोजन पानी वायु आदि) के सयोग से इस शरीर का निर्माण होता है और उन संयुक्त पदार्थों में जब वह शक्ति बिखर जाती है तभी शरीर नष्ट हो जाता है। परन्तु आत्मा न विभिन्न अंशों को जुड़कर कभी बनता है, न अपने किन्हीं अंशों के बिखरने से वह कभी नष्ट होता है। अतः शरीर का तो जन्म मरण होता है आत्मा का कभी नहीं होता।

इसी तरह शरीर दुबला पतला छोटा निर्बल हो तो इससे आत्मा भी दुबला पतला छोटा निर्बल हो ऐसा भी नियम नहीं है। बहुत से दुबले पतले मनुष्यों में भी आत्मबल ज्ञान आदि गुणों की शक्ति अच्छी बलवान् विकसित होती है जैसे गांधी जी। और बहुत से व्यक्ति शरीर में बहुत लम्बे चौड़े बलवान होते हैं परन्तु उनका आत्मा भयभीत, अल्पज्ञान वाला होता है। जैसे अफ्रीका के हब्शी। इस कारण की शक्ति के साथ शरीर की शक्ति का कोई साथ नहीं है।

इसी तरह विषय भोगों से शरीर को कुछ लाभ होता हो तो होता हो परन्तु उन से आत्मा को तो कुछ लाभ नहीं होता, आत्मा के तो ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं, विषय भोगों से ज्ञान का कुछ भी विकास नहीं होता उलटी उस का ह्रास होता है। आत्मा की कर्मठता, साहस, धैर्य आदि भी विषय भोगों के कारण क्षीण हीन पतित हो जाते हैं। राजसुखों को त्याग कर जो निर्ग्रंथ साधु दीक्षा लेते हैं ऐसे मुनियों को

बिना सांसारिक विषय भोगों के भी बहुत आनन्द आता है, आत्मचिन्तन से उन्हें परमसन्तोष तथा आह्लाद प्राप्त होता है।

इस प्रकार शरीर में आत्मा की श्रद्धा तथा विषयभोगों में हितकरता का विश्वास एवं सांसारिक पदार्थों में इष्ट अनिष्ट का श्रद्धान मिथ्या है। तथाच उस मिथ्या श्रद्धान का अनुवर्ती ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान है। इस मिथ्या श्रद्धा को छोड़कर आत्मा का शरीर से भेद भाव समझकर आत्मा का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर ज्ञान की धारा भी ठीक दिशा में प्रवाहित होने लगती है इस कारण सम्यग्दर्शन होते ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते ही सांसारिक पदार्थों के साथ मोह ममता दूर हो जाती है, भेद विज्ञान प्रगट हो जाने से शरीर से ममत्व नहीं रहता, विषय-भोगों में रुचि नहीं रहती संसार के सुखों को हेय समझने लगता है। उस समय इन्द्रपद और नारायण, चक्रवर्ती की विभूति भी उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं करती, आत्मा की विभूति के सामने वे उसे हेय प्रतीत होते हैं। निम्नलिखित दोहे में सम्यग्दृष्टि जीव की मान्यता कवि ने यों प्रगट की है—

चक्रवर्ति की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।

काक बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टी लोग।

यानी—जिनको आत्मा की अनुभूति हो जाती है उन सम्यग्दृष्टी पुरुषों को चक्रवर्ती की ९ निधि, १४ रत्न आदि विभूति तथा सौधर्म इन्द्र के अनुपम भोग कौए की टट्टी के समान तुच्छ अग्राह्य प्रतीत होते हैं।

इस दशा में सम्यग्दृष्टी जीव के पहले संचित कर्मों की निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है, मिथ्यात्व के कारण जिन कर्मों का आस्रव होता है उन कर्मों का संवर होने लगता है तथा जिन कर्मों का बन्ध होता है उनकी स्थिति और अनुभाग में कमी हो जाती है, कालान्तर में मुक्ति होना निश्चित हो जाता है, इस तरह सम्यग्दृष्टी की परिणति में महान अन्तर आ जाता है।

किन्तु फिर भी जब तक सम्यग्दृष्टी जीव अणुव्रत, महाव्रत रूप कोई चारित्र धारण न करे तब तक आत्मा को वास्तविक सफलता नहीं मिला करती क्योंकि जैसे अज्ञानी मनुष्य की तपस्या अकार्यकारी है उसी तरह चारित्रहीन व्यक्ति का ज्ञान भी व्यर्थ है। केवल औषधि (दवा) के ज्ञान से रोग दूर नहीं होता, रोग हटाने के लिये तो औषधि का विधि पूर्वक सेवन करना आवश्यक है।

एक बन में एक अंधा पुरुष रहता था, उसको यद्यपि नेत्रों से कुछ दिखाई न देता था परन्तु उसके हाथ पैर खूब काम करते थे, अच्छा बलवान था। उसी बन में एक लंगडा मनुष्य भी रहता था जिसके नेत्र ठीक थे, उसे दूर दूर तक स्पष्ट दिखाई देता था परन्तु उसके पैर काम न करते थे अत वह बिना सहारे के ठीक चल फिर न सकता था।

एक बार उस बन में अग्नि लगी तो बेचारा अंधा मनुष्य आग से बचने के लिये बहुतेरा दौड़ा

भागा परन्तु दिखाई न देने से अग्नि में फंस कर जल मरा और बेचारा लङ्गड़ा अग्नि को देखते भालते भी चल न सकने से जल मरा।

इसी तरह ज्ञानहीन की तपस्या और चारित्रहीन का ज्ञान आत्मा की सफलता को नष्ट कर देता है। यदि कोई तीसरा मनुष्य उस अन्धे को लङ्गड़े से मिला देता तो लङ्गड़ा अन्धे के कन्धे पर बैठ जाता और उसको मार्ग बतलाता जाता, अन्धा उसके संकेत अनुसार चलता जाता, तो उन दोनों के प्राण बच जाते। तदनुसार यथार्थ श्रद्धा वाले ज्ञान को सम्यक्चारित्र का योग मिलते ही आत्मा का बेड़ा संसार सागर से पार हो जाता है। इसी को लक्ष्य करके तत्वार्थराजवार्तिक में कहा है—

संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टस्तौ संप्रयुक्तो नगरं प्रविष्टौ॥

अर्थात्—ज्ञान और चारित्र के मेल को ही तत्ववेत्ता भगवान् ने कार्यकारी बताया है। जिस तरह एक पहिये से रथ नहीं चलता उसी तरह अकेले ज्ञान या चारित्र से आत्मा मुक्ति में नहीं पहुँच पाता है। बन में भटकते हुए अन्धे और लगड़े परस्पर में मिलकर कार्य करें तो वे सुगमता से नगर में पहुँच जाते हैं।

अतएव सम्यग्दृष्टी पुरुष को अपने योग्य चारित्र अवश्य आचरण करना चाहिये। ज्ञान की वास्तविक सफलता सच्चरित्र आचरण करने पर ही मिला करती है।

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।

यानी—अनेक शास्त्रों का अध्ययन करके भी यदि आत्मा का उत्थान करने के लिये आचार पालन न किया तो वह विद्वान नहीं है मूर्ख ही है।

सम्यग्दृष्टी पुरुष जब मुनि दीक्षा लेकर आत्मध्यान में बैठता है तब शुक्लध्यान के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्त हो जाता है। यदि वह सयम धारण करके शुक्लध्यान करने का उद्योग न करे, केवल स्वाध्याय करता रहे, आत्म, गुणस्थान मार्गणा कर्मबन्धन कर्ममोचन की चर्चा करता रहे तो उससे कर्मों की मुक्ति नहीं हुआ करती। अनादिकालीन कर्ममल छुड़ाने के लिये कठिन परिषहें सहकर कठिन तपस्या करनी पड़ती है, खड्गधार पर नृत्य करने के समान संयम को पालन करना पड़ता है। अचल आत्मध्यान का अभ्यास करना पड़ता है तब पूर्ण आत्मशुद्धि होती है।

यदि कोई स्त्री पुरुष मुनि सयम धारण नहीं कर सकते तो उनको अपनी शक्ति के अनुसार श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी प्रतिमा का आचरण करना चाहिये। कम से कम सात दुर्व्यसनों का त्याग, मद्यपान, मांसभक्षण, मधु चाटने का परित्याग करना चाहिये। ५ उदम्बर फलों को न खाना चाहिये तथा रात का भोजन और कपड़े से विना छाना हुआ जल न पीना चाहिये। एवं प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान् का दर्शन पूजन करना चाहिये। इसके साथ ही दीन दुःखी जीवों को दया भाव से और व्रती त्यागियों को भक्ति भाव से यथाशक्ति दान भी करते रहना चाहिये।

इस तरह थोड़ा सा चारित्र का अभ्यास भी मनुष्य को मुनि संयम धारण करने के योग्य बना

देता है। चारित्र का संस्कार अन्य भव में मुनिचर्या को सुगम बना देता है, अत: इस भव में आत्मा यदि अपने अंतिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच पावे तो अन्य भव में तो पहुँच ही जाता है।

इसलिए यह अमूल्य मनुष्य भव एक क्षण भी चरित्र बिना व्यर्थ न खोना चाहिये सच्चारित्र आत्मा का महान् वैभव है इसके बिना आत्मा दरिद्र बना रहता है, जैसे इस शरीर को पुष्ट करने के लिये भोजन खिलाते हो इसी तरह आत्मा को पुष्ट करने के लिये चारित्र ग्रहण करना चाहिये। प्रमाद को अपने पास भी न फटकने देना चाहिये।

~~~~~~

प्रवचन नं० ६१

स्थान:— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि:— भाद्रपद कृष्णा २ शुक्रवार, ५ अगस्त १९५५

जैनधर्म

'वत्थुसहावोधम्मो' यानी—वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं, जिस तरह जल का स्वभाव शीतल है। जल चाहे आकाश से गिरा हो, कूएं या बावड़ी से निकाला हो, किसी झील, नदी या समुद्र से लिया जाय, शीतल ही होगा। हां कुछ सोतों से गर्म जल भी आता है परन्तु वह स्वभाविक नहीं होता। इस पृथ्वी में अनेक स्थानों पर दहनशील अग्निमय पदार्थ भी पाये जाते हैं अनेक पर्वत ऐसे होते है जिन से अग्नि-ज्वाला निकलती रहती है, पृथ्वी के भीतर कहीं पर गन्धक की खानें होती हैं, किसी जल के सोते के नीचे पृथ्वी में ऐसी कोई अग्निमय पदार्थ की खानि हो तो वह उस जल को उष्ण करती रहती है इस कारण उन सोतों में पानी गर्म ही निकला करता है, जैसे कि राजगृही के कई कुण्डों में निकलता है। परन्तु सोते का वह गर्म जल भी थोड़ी देर पीछे स्वयं ठण्डा होकर अपने स्वभाव में आ जाता है। इस कारण जल का धर्म या स्वभाव शीतल मानना पड़ता है।

आत्मा का स्वभाव आत्मा का धर्म कहलाता है। आत्मा ज्ञान दर्शन, क्षमा, धैर्य आदि अनन्त गुणों का अखंड पिण्ड है। यद्यपि संसारी जीवों का आत्मा कर्मों के कारण पराधीन बना हुआ है उसके स्वाभाविक गुण विकृत हो गये हैं उसके गुणों में से अनेक गुण अविकसित हैं अनेक विकृत हो गये हैं। किन्तु फिर भी उनकी स्वाभाविक झलक सर्वथा नहीं छिप सकती। जिस तरह सूर्य पर चाहे जितने बादल आ जावें परन्तु उसके द्वारा होने वाला जगत् में प्रकाश तो हो ही जाता है जैसे कि वर्षा के दिनों में होता है। ज्ञानावरण कर्म के द्वारा संसारी आत्मा का ज्ञान बहुत कम हो गया है परन्तु ऐसा नहीं है कि वह सर्वथा अस्त हो गया हो, कुछ न कुछ ज्ञान प्रत्येक जीव में पाया ही जाता है। निगोदिया जीव में सब से कम ज्ञान होता है वह अक्षर ज्ञान के अनन्तवें भाग होता है। यानी—ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है अत: वह आत्मा में अवश्य सदा रहता है।

क्षमा आत्मा का स्वाभाविक गुण है, क्रोध स्वाभाविक गुण नहीं है, इसी कारण क्रोध थोड़ी देर ठहरता है उतनी देर में क्रोध से आत्मा व्याकुल हो जाता है। क्षमा आत्मा में सदा बनी रहे तो भी
~~~~~~

आत्मा को कोई कष्ट नहीं होता इस प्रकार आत्मा के और भी स्वाभाविक गुण हैं। वे स्वाभाविक गुण जिस मार्ग पर चलने से प्रगट हो जाते हैं उसी का नाम धर्म है। कर्मों के कारण आत्मा के गुण विकृत या अल्प विकसित हो रहे हैं जिससे कि आत्मा को संसार में जन्म-मरण, भूख-प्यास, रोग, बुढ़ापा, खेद, शोक आदि अनेक तरह के शारीरिक, मानसिक कष्ट मिल रहे हैं, आत्मा दुर्गतियों में चक्कर लगा रहा है। आत्मा जिस मार्ग पर चलने से इन कष्टों से बिल्कुल छूट जावे उसका नाम धर्म है। श्री समन्तभद्र आचार्य ने कहा है—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे॥

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

यानी—धर्म कर्म जाल को नष्ट करके तथा संसार दुःख से छुड़ाकर उत्तम सुख में पहुँचाने वाला होता है, ऐसे धर्म को मैं बताता हूँ।

श्री समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में जिस धर्म की रूपरेखा बतलाने का संकेत किया है वह धर्म जैनधर्म के नाम से विख्यात है। जो कि संसार का सबसे प्राचीन धर्म है क्योंकि प्रचलित अवसर्पिणी युग में सबसे प्रथम इसी धर्म का उदय हुआ था। जिसका संक्षिप्त इतिहास यों है—

आज से करोड़ों वर्ष पहले अयोध्या के शासक राजा नाभिराय की रानी मरुदेवी के उदर से परम तेजस्वी पुत्र ऋषभनाथ का जन्म हुआ था। ऋषभनाथ जन्म से ही अवधिज्ञानी थे। जब वे बड़े हुए तो उन्होंने अपने एक सौ पुत्रों को तथा जनता को खेती बाड़ी, युद्ध, राजनीति, वस्त्र बुनना, नाट्यकला, चित्रकला आदि अनेक कलाए सिखलाई, अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अक्षर विद्या और छोटी पुत्री सुन्दरी को अंकविद्या सिखलाई। इस तरह गृहस्थ दशा में उन्होंने लौकिक विद्याओं की शिक्षा सर्वसाधारण जनता को दी। फिर जब वे संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर योगी बने तब एक हजार वर्ष तक अनेक कठिन तपस्याएं करने के बाद वे सर्वज्ञ वीतराग जीवन्मुक्त परमात्मा बन गये। राग, द्वेष, क्रोध, मद, मोह, माया, काम आदि विकारों को आत्मा से दूर कर दिया तथा आत्मगुण घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों कर्मों पर विजय प्राप्त करली। उक्त दुर्भावों और कर्मों को जीत लेने के कारण भगवान ऋषभनाथ का उपाधिनाम 'जिन' (जयतिइतिजिनः—यानी जीतने वाला) प्रसिद्ध होगया।

उस जीवन्मुक्त जिन अवस्था में उन्होंने विशाल समवशरण नामक व्याख्यान सभा द्वारा समस्त सुर नर पशु पक्षी आदि जीवों को कर्मों तथा दुर्भावों से आत्मा को शुद्ध करने वाला अनुभूत मार्ग (धर्म) का उपदेश दिया, जिसका आचरण करके अनेक मनुष्यों ने दीक्षा लेकर परमात्मा पद को प्राप्त किया। जो मुनि न बन सकते थे उनके लिये गृहस्थ अवस्था में रहते हुए उससे नीची श्रेणी सुगम आचरण बतलाया, इस कारण उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म का नाम उनसे प्रसिद्ध नाम 'जिन' के अनुसार 'जैनधर्म' विख्यात हुआ।

इस तरह भगवान् ऋषभनाथ सब से प्रथम लौकिक कलाओ के शिक्षक हुए और सबसे पहले वे योगी बने तथा अपने योग में पूर्ण सफल होकर इस युग की अपेक्षा सबसे प्रथम धर्म-प्रचारक आद्य तीर्थंकर हुए। आत्मा को महात्मा तदनन्तर परमात्मा बनाने की विधि बतलाई। इस प्रकार जैन धर्म का उदय जगत् में अन्य सब धर्मों से पहले हुआ है। इस कारण समय की अपेक्षा ससार का सब से प्राचीन धर्म जैन धर्म है।

आत्मा को पूर्ण शुद्ध करके परमात्मा बनाने का विधान केवल जैनधर्म ने बतलाया है। अन्य धर्मों में परमात्मा केवल एक व्यक्ति को माना है, उन के सिद्धात के अनुसार परमात्मा अन्य कोई नहीं बन सकता वह चाहे जितनी तपस्या क्यों न करे। परन्तु जैन धर्म ने आत्मा का सामान्य स्वरूप बतलाकर ससारी आत्मा की विशेष रूप से खुलासा करके बतलाया कि आत्मा संसार में कर्मबन्धन के कारण अशुद्ध विकृत परतन्त्र होकर विविध योनियों में जन्म मरण करता हुआ घूमता फिरता है। किस तरह कर्मबन्धन बनता है? कितने उसके भेद हैं, वह जीव को फल किस तरह देता है, किस तरह वह कम होता है, किस तरह बढ़ता है, वह कर्म बन्धन जीव के किस किस गुण को क्या हानि पहुंचाता है, किस तरह उसका वेग हल्का होता है, किस तरह कर्म छूटता है? इत्यादि कर्म सिद्धान्त बड़े विस्तार के साथ जैन दर्शन में बतलाया गया है। जिस सिद्धान्त के अनुसार जो व्यक्ति कर्म दूर करने की जितनी कोशिश करता है उतना ही शुद्ध उसका आत्मा होता है। घर बार छोड़ साधु दीक्षा लेकर जो अपना सारा समय आत्म शुद्धि के लिये ध्यान स्वाध्याय आदि में लगाते हैं, काम क्रोध आदि को बहुत कुछ शांत कर देते हैं, वे आत्मा से महात्मा बन जाते हैं।

वे ही महात्मा आत्मध्यान करते करते जब अपने कर्मों को निर्मूल नष्ट करके अपना आत्मा पूर्ण शुद्ध बना लेते हैं तब उनके समस्त आत्मगुण कर्म-आवरण हट जाने से पूर्ण विकसित हो जाते हैं, अतः वे सर्वज्ञाता द्रष्टा, पूर्ण सुखी निरंजन निर्विकार परमात्मा सदा के लिये बन जाते हैं। इस तरह आत्मा, महात्मा और परमात्मा आत्मा की ही तीन श्रेणी हैं। अतः जितने भी आत्मा पूर्ण शुद्ध, पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण सुखी निर्विकार बन चुके हैं वे सभी परमात्मा हैं। इस तरह आत्मा के पूर्ण विकास का स्पष्ट विवरण जैन-धर्म के सिवाय अन्य किसी दर्शन ने नहीं बतलाया।

हिन्दुस्तान टाइम्स के सम्पादक, गांधीजी के सुपुत्र श्री देवीदास गांधी जब इङ्गलैण्ड गये तो वहां के प्रसिद्ध विचारशील लेखक जार्जबर्नार्डशा से मिले। बातचीत करते हुए देवीदास गांधी ने बर्नार्डशा से पूछा कि आप को सब से अधिक प्रिय धर्म कौन सा प्रतीत होता है? बर्नार्डशा ने उत्तर दिया कि "जैन धर्म", देवीदासजी ने इस का कारण पूछा तो जार्जबर्नार्डशा ने उत्तर दिया कि—

जैनधर्म में आत्मा की पूर्ण उन्नति तथा पूर्ण विकास की प्रक्रिया बताई गई है इस कारण मुझे जैनधर्म सबसे अधिक प्रिय है।

तीसरे—जैनधर्म विश्वहितङ्कर धर्म है। संसार के प्रचलित धर्मों में कोई धर्म केवल अपने धर्मानुयायियों की रक्षा करने का उपदेश देता है। जो नर नारी उस धर्म के अनुयायी न हों उन को अपना शत्रु समझकर या तो उन्हे मार काट कर नष्ट करने का उपदेश दिया है या बल पूर्वक उन्हें अपना धर्म

मनवाने की शिक्षा दी है। दूसरे धर्मानुयायियों के साथ कुछ कम या कुछ अधिक कठोर बर्ताव करने का उपदेश प्राय: सभी धर्मों (जैन धर्म के सिवाय) के ग्रन्थों में दिया गया है। किसी धर्म ने यदि दया भाव का क्षेत्र कुछ बढ़ाया है तो समस्त मनुष्यों की रक्षा करने का विधान उसने कर दिया है, किसी धर्म ने मनुष्य के सिवाय कुछ काम आने योग्य पशुओं की रक्षा करने का विधान कर दिया है। अपने परमात्मा देवी देवताओं का प्रसाद (प्रसन्नता) पाने के लिये अनेक धर्मों में गाय, बकरा, भैंसा, सूअर, मुर्गा, घोडा यहाँ तक कि मनुष्य को भी मार कर भेंट करने का उपदेश दिया है। सभी पशु पक्षी, कीड़े मकोड़े, वृक्ष आदि जीवों की रक्षा करने का विधान किसी भी धर्म में नहीं पाया जाता। यह प्राणीमात्र पर दया करने का उपदेश जैनधर्म में पाया जाता है। कोई भी प्राणी वह चाहे सर्प, सिंह, भेड़िया, बीछू आदि दुष्ट प्रकृति का हो अथवा कबूतर, खरगोश, हिरण आदि भोली प्रकृति का हो, हाथी ऊँट आदि बड़े आकार का हो अथवा चींटी, मकोडा. मच्छर आदि छोटे आकार का हो, एकेन्द्रिय धारी हो, अथवा पंचेन्द्रिय हो, जलचर हो, थलचर हो या नभचर हो, समस्त जीवों की रक्षा करने का उपदेश जैनधर्म में दिया गया है। अत: विश्व धर्म कहलाने का अधिकार केवल जैनधर्म को ही है।

इसी 'अहिंसा परमोधर्म:' का सिद्धान्त महात्मा बुद्ध ने मान करके पशुयज्ञ का विरोध अवश्य किया परन्तु मांस भक्षण को अपनाकर प्रकारान्तर से हिंसा का अंश रहने दिया। आज विदेशी बौद्ध साधु मांस भक्षण करते हैं जैनधर्म ने अपने सबसे निम्न कोटि के अनुयायी को भी मांस का न खाना नियमित रक्खा, इस कारण संसार के जहाँ प्राय: सभी धर्मानुयायियों में मांस भक्षण प्रचलित है वहाँ केवल जैन धर्मानुयायी ही मांस भक्षण से अछूते रहे हैं।

इसके सिवाय खान पान के विषय में जैनधर्म का सुनिश्चित सिद्धान्त है, कौन पदार्थ किस दशा में भक्ष्य खाने योग्य है और किस दशा में वह भक्ष्य नहीं है, पानी दूध आदि पेय पदार्थों में से कौन कौन पेय ग्राह्य हैं और कौन २ से अग्राह्य हैं, कौन से सर्वथा अभक्ष्य अपेय हैं और क्यों हैं? इसका सुनिश्चित वैज्ञानिक विवरण जैनधर्म के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

जीवों का वर्गीकरण जैन सिद्धान्त में जिस सुन्दर ढंग से किया गया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। कौन जीव किस श्रेणी का है उसकी कितनी इन्द्रियाँ और कितने प्राण हैं कितनी उनमें ज्ञान शक्ति है, उसमें कहाँ तक उत्थान और पतन की शक्ति है इसका वैज्ञानिक उल्लेख जैन सिद्धान्त में पाया जाता है। वृक्षों में जीव प्राय. किसी भी धर्म ने नहीं माना, यदि किसी ने माना है तो वह इस विषय में पूरा खुलासा नहीं दे सकता। परन्तु जैनधर्म इस विषय में बहुत अच्छा विज्ञान सम्मत खुलासा बतलाता है। वनस्पतियों का वर्गीकरण बड़े अच्छे ढंग से जैन दर्शन ने किया है, उनकी ग्राह्यता अग्राह्यता पर अच्छा सुन्दर प्रकाश डाला है।

जैनधर्म का आचार शास्त्र बहुत सुन्दर है, उसके समस्त नियम श्रेणीवार सुनिश्चित है, उनमें कहीं भी कमी या बेशी करने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

मनुष्य को उच्चध्येय की सिद्धि के लिये अपने जीवन्मुक्त अर्हन्त भगवानों तथा तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ बनवा कर उनका विधिवत् सन्मान पूजन करना, दर्शन करना जैनसिद्धान्त ने ही सब से प्रथम

संसार के समक्ष रक्खा। मूर्ति मन्दिर, शिखरवेदी का निर्माण उनकी प्रतिष्ठा आदि के निश्चित नियम जैनशास्त्रों में बताये गये हैं।

बुद्धि को परिपक्व करने के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त तो जैनधर्म का एक अनुपम महान् सिद्धान्त है। इस तरह जैनधर्म ने प्रत्येक दिशा में बहुत स्पष्ट दिग्दर्शन किया है।

प्रवचन नं० ६२

स्थान— तिथि—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली प्रथम भाद्रपद कृष्णा ३ शनिवार, ६ अगस्त १६५५

हितकर गूढ़ शिक्षा

संसार में वैसे तो बहुत मित्र बन जाते हैं, परन्तु उनमें अधिकतर स्वार्थ के साथी हुआ करते हैं, जैसे वेश्या बड़े हावभाव विलास विभ्रम दिखाकर ऐसा प्रेम प्रगट करती है कि कामातुर पुरुष उसके उस प्रेम को सच्चा प्रेम समझ लेता है और अपनी प्रेममयी सच्चरित्र सुशील गृहिणी की उपेक्षा करके उस वेश्या से तन्मय हो जाता है, उसके संकेत पर घर का सब द्रव्य, अपनी स्त्री के भूषण आदि बेचकर उस वेश्या से चित्त प्रसन्न करता है, किन्तु जैसे ही उसका सब द्रव्य समाप्त हो जाता है कि उस वेश्या का प्रेम भी समाप्त हो जाता है, फिर वह अपने नौकर से कहकर अपने घर में भी नहीं घुसने देती। इसी प्रकार धन को देख कर अपना स्वार्थ साधने वाले मित्र, हितैषी तो बहुत बन जाते है, परन्तु सच्चा हितकारक मित्र तो ससार में कोई विरला ही होता है। नीतिकार ने कहा है—

> पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटी करोति।
> आपद्गतंच न जहाति ददाति काले, सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

अर्थात्—सच्चे मित्र के लक्षण ये हैं—१. जो पाप कार्यों से बचावे, २. हितकारी कार्य में लगावे, ३. गुप्त बात को गुप्त ही रक्खे, ४. गुणों को प्रगट करे, ५. विपत्ति के समय साथ न छोड़े, और कठिन समय आने पर उसको आवश्यक द्रव्य प्रदान करे।

स्वार्थी मित्र जुआ, वेश्या, परस्त्री आदि व्यसनों में लगा देते हैं। धर्मकार्यों से, सदाचार से दूर रखते हैं, गुप्त रहस्य प्रगट कर देते है, आफत के समय साथ छोड़ जाते हैं, जो रुपया पैसा अपने मित्र से लेना तो जानते हैं, परन्तु विपत्ति के समय भी उसे देना नहीं जानते। ऐसे दुष्ट स्वार्थी मित्रों से सदाकाल बचते रहना चाहिये।

यद्यपि कोई कोई माता पिता भी स्वार्थवश अपनी संतान का अहित कर देते हैं, परन्तु ऐसे स्वार्थी विरले ही होते हैं। वैसे प्रायः सभी माता पिता अपनी संतान के हितैषी होते हैं। वे यदि स्वय कोई बुरा कार्य करते होंगे तो अपने पुत्र को वैसा काम करने की शिक्षा कभी न देंगे, वे तो उस कार्य के करने से अपनी संतान को रोकने की चेष्टा करेंगे।

पिता यदि जुआ खेलता होगा तो वह अपने पुत्र को जुआ खेलने की सम्मति कभी न देगा। यदि वह स्वय शराब पीता होगा तो पुत्र को शराब पीने से बचाता रहेगा। यदि कुसंग के कारण उसे वेश्या सेवन या पर स्त्री सेवन की आदत पड़ गई होगी तो अपने पुत्र को उस ओर से रोकता ही रहेगा। अनेक वेश्याएं अपनी पुत्रियों को वेश्याएँ बनाना पसन्द नहीं करती। चोरी करने वाला, तम्बाकू भंग चरस पीने वाला पिता अपने पुत्र को वैसा काम करने की प्रेरणा नहीं करेगा। इस कारण संसार में अपने माता पिता प्राय: सबसे अधिक सच्चे हितकारी हुआ करते हैं। अनेक अयोग्य पुत्र अपने माता पिता का अपमान करते हैं, उनकी आज्ञा नहीं मानते, उनको अनेक कष्ट देते हैं, परन्तु माता पिता अपनी संतान का स्वप्न में भी बुरा नहीं चाहते।

अनेक माता पिता मरते समय भी अपनी संतान को ऐसा गूढ़ रहस्यमय उपदेश दे जाते हैं जिसके अनुसार उन की सन्तान दुर्गुणों से बची रहती है।

एक मनुष्य अपने दुष्ट मित्रों की संगति से जुआ खेलना, शराब पीना तथा वेश्या से दुराचार करना सीख गया, उसने बहुतेरा चाहा कि मैं इन बुरे कार्यों से बच जाऊँ जिससे मेरा पुत्र इन बुरी आदतों में न फँसने पावे, दुर्व्यसन उससे न छूट सके। जब उसकी मृत्यु का समय निकट आया तब उसने अपने पुत्र को अपने पास बुलाकर बड़े प्रेम से समझाया कि—

"बेटा! जुआ खेलना शराब पीना और वेश्या के घर जाना बहुत बुरा काम है. तुम इससे बचते रहना। यदि मेरे देखादेखी कभी तुम्हारा मन भी इन कार्यों को करने के लिये आकुल हो उठे तो ऐसा करना कि जुआ खेलना चाहो तो जुआरियों में अपना कोई गुरु बनाकर जुआ खेलना। यदि शराब पीने को मन चंचल हो जाय तो शराब की दूकान में पीछे की ओर से घूमना तथा यदि तुम वेश्या के पास जाने को विचलित हो उठो, तो सूर्य उदय के समय वेश्या के पास जाना।"

लडके ने अपने पिता की शिक्षा अपने हृदय में अंकित कर ली। पिता के मर जाने के कुछ दिनों पीछे एक दिन उसने कुछ लोगों को जुआ खेलते देखा, उसके मन में उमङ्ग उठी कि एक बार मैं भी जुआ खेलकर देखूँ। दूसरे दिन वह जुआरियों के अड्डे पर जाने को तैयार हुआ, उसी समय उसे अपने पिता की सीख याद आ गई कि 'कोई गुरु बनाकर जुआ खेलना।' तदनुसार जुआरियों के पास वह पहुँचा अपने यहाँ खिलाडी आया देखकर जुआरी प्रसन्न हुए। उसने जुआरियों से कहा कि "मैं तुम में से किसी को गुरु बना कर जुआ खेलूंगा।" वे सब जुआरी एक दूसरे का मुख देखने लगे। तब उनमें से एक बूढ़ा जुआरी बोला कि भाई! जुआ तो बिना शिष्य बने खेलना पडता है, इस बुरे काम का गुरु कौन बन सकता है? यहाँ तो हार जीत की बाजी लगी रहती है।

वह युवक बोला कि यदि जुआ खेलना इतना बुरा काम है कि इस का गुरु बनने को भी कोई तैयार नहीं है तब मैं ऐसा बुरा भयानक काम क्यों करूँ? यह कह कर वह चला आया।

एक बार बाजार से जाते हुए एक शराब की दुकान मिली। शराबियों को खड़ा देखकर उसे अपने पिता का स्मरण हो आया, अत उसे भी शराब पीने की उत्सुकता हुई। दूसरे दिन वह घर से कुछ रुपये लेकर उस दुकान की ओर चल पड़ा। मार्ग में उसे अपने पिता की शिक्षा याद आ गई कि 'शराब की

दुकान पर पिछले द्वार से जाना चाहिये' तदनुसार वह शराबखाने के पिछले दरवाजे से घुसा। तब उस ने देखा कि कोई शराबी अड बड़ बक रहा है, कोई बेहोश, औंधा पड़ा है, कोई लड़खडाता हुआ चल रहा है, कहीं बोतल टूटी पडी है तो कहीं प्याली। ऐसा विभत्स दृश्य देखकर वह तुरन्त वापिस लौट आया, कि ऐसी दुर्दशा करने वाली शराब मुझे नहीं चाहिए।

एक दिन एक विवाह के अवसर पर उसने एक तरुणी सुन्दर वेश्या का हावभाव भरा नृत्य देखा और मधुर कण्ठ से मीठा गाना सुना। उसे देखकर उस का मन वेश्या की ओर आकर्षित हुआ।

अपने पिता की शिक्षा उसे पुनः स्मरण हो आई कि 'यदि वेश्या के घर जाना तो सूर्य उदय के समय जाना।' तदनुसार वह दूसरे दिन प्रातःकाल वेश्या के यहाँ गया। वहाँ जाकर देखा कि उसके दो तीन गुण्डे शराब पिये बेहोशी में इधर उधर लुढक रहे हैं, शराब की बू फैल रही है, रात्रि भर दुष्कर्म करते कराते वेश्या विरूपी हुई पड़ी है, न उसके मुख आदि शरीर के अग उपांगों पर सुन्दरता दिखाई देती है, न वस्त्र उसके ठीक हैं अस्त व्यस्त वस्त्र हैं और सब सामान अस्त व्यस्त पड़ा है रात्रि की समस्त खराबियां घिनावने रूप में दिखाई दे रही है।

वेश्या का ऐसा कुरूप देखकर उसे अपनी स्त्री का ध्यान आया जो कि स्नान करके, वस्त्र भूषण पहन कर मन्दिर जाने के लिये तैयार थी, साक्षात् देवी दीख रही थी, जिस के शरीर पर सर्वत्र सौन्दर्य छाया हुआ था। वह वेश्या के घर से दबे पांव तत्काल घर लौट आया।

इस प्रकार उसके पिता ने जुआ खेलने, शराब पीने और वेश्यागमन के विषय में जो अनुभव तथा युक्ति पूर्ण शिक्षा दी उस के अनुसार चलने पर वह तीनों दुर्व्यसनों से स्वय छूट गया। इस कारण माता पिता की आज्ञा में महान् हित प्राप्त हुआ करता है, उसमें जीवन के अनुभवी वे रहस्य भरे होते हैं जो कि नवयुवकों के लिये बहुत काम के होते हैं।

आज कल का नवयुवक स्कूल और कालेज में कुछ पढ़ लिखकर अपने आप को अपने माता पिता से अधिक बुद्धिमान समझने लगता है, वह अपने पुस्तकीय ज्ञान की तुलना में माता पिता के अनुभव भरे ज्ञान को तुच्छ बेकार समझता है, कितना आर्थिक कष्ट उठाकर उसके माता पिता उसे पढ़ा रहे हैं, स्वयं घटिया वस्त्र पहन कर उसे अच्छे वस्त्र पहना रहे हैं, स्वय सादा भोजन खाकर उसे बढ़िया भोजन कराने का प्रबन्ध कर रहे हैं। इन सब बातों को आज का युवक अपने अनुभवहीन किताबी ज्ञान के अभिमान में भूल जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उस को पग पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं। इस कारण प्रत्येक पुत्र पुत्री का कर्तव्य है कि अपने माता पिता का प्रत्येक वचन ध्यान से सुनें, वे जैसा कहें उस का पालन करें। माता पिता यदि कोई कडा शब्द कहते हैं, फटकार कर कुछ कहते हैं तो उसे अमृत के समान मीठा हितकारी समझकर मानना चाहिए।

राम कितने पराक्रमी बलवान् महापुरुष थे, उनके राज्याभिषेक की सब तैयारी हो चुकी थी किन्तु उनके पिता राजा दशरथ ने केकयी रानी को दिये वरदान के अनुसार उन्होंने अपना वचन रखने के लिये अपने हृदय पर पत्थर रखकर कहा—कि 'बेटा! राजगद्दी तुमको नही तुम्हारे सौतेल लघुभ्राता, केकयी के पुत्र भरत को दी जायगी। तुम १४ वर्ष तक अयोध्या राज्य की सीमा से बाहर वनों में जाकर रहो, जिससे कि मैं केकयी को दिए हुए वरदान को पूरा कर सकूँ।'

पिता के वचन सुनकर राम के हृदय पर रंचमात्र भी खेद या निराशा की छाया नहीं आई, बड़ी प्रसन्नता और उत्साह से अपने पिता का सन्मान स्थिर रखने के लिये वन की ओर चल दिये। पिता की आज्ञापालन में जरा भी आनाकानी नहीं की।

भरत को जब इस काण्ड का पता चला तब उसे महान् दुःख हुआ, वह अपनी माता पर बड़ा अप्रसन्न हुआ, और तत्काल वन में जाकर राम को वापिस अयोध्या लाने के लिये बड़ी प्रेरणा की, अनुनय विनय की, उनके सामने रोकर प्रार्थना की। परन्तु राम ने अयोध्या चलकर राज्य करना स्वीकार न किया, प्रत्युत बड़े गम्भीर शब्दों में भरत को सम्बोधन किया कि हे भाई! भावुकता में मत आओ, कर्तव्य का पालन करो, भावना से कर्तव्य का पद ऊँचा है, पिता के मुख से निकला हुआ वचन अन्यथा न होना चाहिये।

राम के उस आज्ञा पालन की प्रशंसा हजारों वर्ष पीछे आज तक सन्मान के साथ की जाती है। नीतिकार ने पुत्र शब्द के प्रत्येक अक्षर की व्याख्या करते हुए लिखा है—

पुनाति त्रायते चैव कुलं स्वं योऽत्रशोकनः।
एतत्पुत्रस्य पुत्रत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

यानी—'पु' अक्षर के अनुसार जो अपने आपको बुरे कार्यों से दूर रखता है। पवित्र रखता है तथा ('त्र' अक्षर के अनुसार) जो अपने कुल को शोक से बचाता है। उसी पुत्र का यथार्थ पुत्रपना है।

औरंगजेब ने राज्य के स्वार्थ में अन्धा बनकर अपने पिता शाहजहाँ बादशाह को बन्दी बनाकर कैद कर दिया, अपने भाई का शिर काट कर अपने बूढ़े कैदी पिता शाहजहाँ के पास यह कह कर भेजा कि 'लो खरबूजा खालो।' उस औरंगजेब का अपयश सदा बना रहेगा।

एक किसान के पुत्र आलसी थे, खेतीबाड़ी में परिश्रम न करते थे। जब वह मरने लगा तब उसने पुत्रों को बुलाकर कहा कि बेटा! मेरा धन खेत में गड़ा हुआ है सो उसको आपस में बराबर बांट लेना। पुत्रों ने रहस्य की बात न समझी। पिता के मरजाने पर उन्होंने अपने सारे खेत को खूब खोद डाला परन्तु उनको एक पैसा भी न मिला। तब उन्होंने निराश होकर उस खेत में, पटेरा चलाकर बीज बो दिया। वर्षा होने पर उनका खेत और दूसरे किसानों के खेतों की अपेक्षा खूब उगा क्योंकि धन से लोभ के उन्होंने सारा खेत अच्छी तरह खोदा था। इस तरह उनके खेत में पहले की अपेक्षा कई गुना अन्न उत्पन्न हुआ। जिसको बेचकर उनके पास खूब धन एकत्र हो गया।

तब उनको अपने पिता के हितकारी गूढ़ वचनों का बोध हुआ। फिर तो प्रति वर्ष प्रत्येक फसल पर बड़े परिश्रम के साथ खेत जोतकर, गोडकर, खाद डालकर खेती करने लगे, जिससे कुछ ही वर्षों में अच्छे धनवान हो गये। अब उनकी समझ में आगया कि खेत में सचमुच बड़ा भारी धन गड़ा हुआ है।

प्रवचन नं० ६३

स्थान:— तिथि:—

श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली प्रथम भाद्रपद कृष्णा ४ रविवार, ७ अगस्त १९५५

काललब्धि

संसारी जीवों का संसार भ्रमण का कारण भूत कर्मों का बन्ध दो कारणों से होता है—१. योग, २. कषाय। मन, वचन, काय का हलन चलन योग है और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार भाव कषाय कहलाते हैं। आत्मा शरीर के प्रत्येक अंश में इस तरह रहता है जिस तरह तिलों में तेल रहता है। अतः जब संसारी आत्मा अपने हृदय में विराजमान आठ पाखुडी वाले कमलाकार मन के द्वारा विचार करता है उस समय आत्मा में हलन चलन क्रिया होती है, या जब दो इन्द्रिय आदि आत्मा बोलता है तब उस वचन द्वारा आत्मा को हरकत होती है, अथवा शरीर द्वारा जब कोई कार्य किया जाता है तब आत्मा की परिस्पंदात्मक (हलन चलन रूप) क्रिया होती है आत्मा की इस क्रिया का नाम ही योग है। इस योग के द्वारा आत्मा अपने समीपवर्ती कार्माण वर्गणाओं को इस प्रकार खींचता है जिस तरह लोहे का गम गोला पानी में रख दिये जाने पर पानी को अपनी ओर खींचता है। मन वचन शरीर की क्रिया जिस अच्छे (दान, पूजा, आत्मशुद्धि, पर उपकार आदि) या बुरे (मारने पीटने, धोखा देने, चोरी, व्यभिचार करने, दुःख करने, रोने आदि) ढंग की होती है आकर्षित (योग द्वारा खींची गई) कार्माण वर्गणाओं में वैसी ही अच्छी या बुरी छाप पड़ जाती है।

इसके सिवाय मन वचन शरीर द्वारा होने वाली क्रिया के साथ जैसा भी तीव्र, मन्द या मध्यम श्रेणी का क्रोध, मान, माया या लोभ होता है उसी प्रकार का कम, अधिक या मध्यम श्रेणी का अच्छा बुरा फल देने की शक्ति तथा काल की अवधि (स्थिति) भी उस कार्माण वर्गणा में अंकित हो जाती है। इस तरह आत्मा के साथ एकमेक हुई वे कार्माणवर्गणाए कर्म कहलाती है। कुछ समय पीछे से उन कर्मों का उदय होना प्रारम्भ होता है, तो अपने स्वभाव और शक्ति के अनुसार वे कर्म अपना अच्छा या बुरा फल देते हुए आत्मा से अलग होते रहते हैं। प्रति समय कुछ कर्म उदय आते हैं और कुछ कर्म बंधते रहते हैं। इस तरह कर्म बधने तथा छूटने की परम्परा चलती रहती है।

जब शुभ कर्म का उदय होता है तब सुखकारी सामग्री का समागम जीव को हुआ करता है और जब अशुभ कर्म का उदय होता है तब जीव को दुःखदायक कारण कलाप मिला करते हैं। इस तरह से यह कर्मों की खेती जीव के द्वारा होती रहती है। इसी को कहावत में कहते हैं 'जैसी करनी वैसी भरनी'। इसी को अंग्रेजी में यों कहते हैं 'As you sow, so shall you reap' यानी—'जैसा बीज बोओगे वैसा फल पाओगे'।

बीज बो देने के बाद यदि किसान खेत में पानी अच्छा दे आस पास की घास काटता रहे आदि विशेष परिश्रम करे तो अनाज अधिक उत्पन्न होता है और वैसा परिश्रम न करके लापर्वाही करे तो अन्न जितना उत्पन्न होना चाहिये उस से भी कम उत्पन्न हो पाता है। इसी कर्म बन्ध हो जाने के बाद

यदि जीव प्रयत्न करे तो अपने कर्मों की शक्ति, स्थिति, प्रकृति में फेर फार भी कर सकता है। कोई कर्म कभी ऐसे भी बन्ध जाते हैं जिन में कि ऐसा कोई फेर फार होता ही नहीं। हजारों यत्न करने पर भी वे जैसे के तैसे बने रहते हैं। इस तरह कर्म बनने में अनेक प्रकार की बातें हुआ करती हैं।

बांधे हुए कर्मों को ही भाग्य, तकदीर, प्रारब्ध, भवितव्यता आदि नामों से कहते हैं, सुखदायक शुभकर्म भाग्य या सौभाग्य कहलाते हैं और अशुभ दुःखदाता कर्म अभाग्य या दुर्भाग्य कहे जाते हैं।

इस तरह संसारी जीव अपनी परतन्त्रता के लिये कर्मों का जाल स्वयं बनाता और स्वयं उसमें फंसता है, जब उसे अपने पहले बांधे गये कर्मों के अनुसार उसे फल मिलता है तब कहता है मेरी ऐसी ही भवितव्यता थी।

कर्म की इसी परतन्त्रता को कवि ने यों कहा है—

सासासम्पद्यते बुद्धिः सम्मतिः सा च भावना।
सहायास्तादृशाःसन्ति यादृशी भवितव्यता॥

यानी—जैसी भवितव्यता (कर्म का उदय) होती है उसी के अनुसार मनुष्य की बुद्धि, मति और भावना होती है और वैसे ही सहायक कारण मिल जाते हैं। इसका सारांश यह है कि यदि शुभ कर्म का उदय होता है तो बुद्धि में अच्छे लाभकारक विचार उत्पन्न करने की क्षमता होती है, भावना तथा मति शुभ कार्य करने की होती है, एवं सहायक कारण भी अच्छे मिलते है। और जब अशुभ कर्म फल देता है तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उस पर पर्दा पड़ जाता है, उससे बुरे दुःखदायक विचार उत्पन्न होते हैं, उलटी समझ हो जाती है, भावना और मति खराब हो जाती है, सज्जन तथा मित्र भी दुर्जन और शत्रु बन जाते हैं।

इसी को कहते हैं 'विनाशकाले विपरीत बुद्धि' यानी—अशुभ कर्म के उदय से विनाश के समय बुद्धि विपरीत हो जाती है। इसी को तुलसीदास कवि ने कहा है—

प्रभू जाहि दारुण दुःख देहीं, मति ताकी पहले हर लेहीं।

यानी—कर्म जिसको भयानक दुःख देता है उसकी बुद्धि को पहले बिगाड देता है।

हां तो जिस समय शुभकर्म उदय से कोई अच्छा कार्य बनना होता है उसको 'काललब्धि' भी कहते हैं। यानी—जब शुभकर्म उदय से जीव का भला होना होता है तब अचानक सुखदायक परिस्थिति बन जाती है, लाभदायक वातावरण हो जाता है। नन्दिमित्र की कथा इस पर अच्छा प्रभाव डालती है—

नन्दिमित्र था तो अच्छे कुल का परन्तु अशुभ कर्म से वह बहुत दरिद्र था, प्रतिदिन जंगल में जा कर लगड़ी काट कर लाता था और उन लकड़ियों को बेचकर अपना पेट भरता था, कुछ कभी बच जाता तो पहनने के लिये कुछ वस्त्र ले लेता।

एक दिन उसने बन में से निकलते हुए एक दिगम्बर मुनि देखे, तपस्या के कारण उनका शरीर

सूख गया था, उनकी हड्डियां दिखाई देती थीं। नन्दिमित्र ने पहले कभी कोई मुनि नहीं देखा था, अतः उनके विषय में उसे कुछ ज्ञात न था। इसी कारण मुनि महाराज को देखकर उसे उन पर बहुत दया आई। उसने अपने मन में सोचा कि मै तो संसार में अपने आपको ही सबसे अधिक दरिद्र समझता था, परन्तु मुझ से भी अधिक दरिद्र मनुष्य इस जगत् में पड़े हुए हैं । देखो यह बेचारा (मुनि) कितना दरिद्र है इसके पास पहनने को एक लगोटी भी नहीं है, बेचारे को कुछ खाने पीने को भी नहीं मिलता, इसकी हड्डियां दिखाई दे रही हैं। बेचारा मुझ से भी अधिक दु खी है।

इस तरह नन्दिमित्र के हृदय में उन मुनि महाराज के लिये दया भाव उमड़ आया। वह अपनी लकड़ी काटना तो भूल गया और उन मुनि महाराज के पीछे हो लिया कि देखूं इस बेचारे को खाने के लिये कोई मनुष्य रोटी भी देता है या नहीं। यदि इसको किसी ने कुछ खाने को न दिया तो आज मैं ही इसको भोजन करा दूंगा चाहे मुझे भूखा रह जाना पडे।

मुनि महाराज कमण्डलु पीछी लिये धीरे धीरे जगल से निकल कर नगर में घुसे, मुनि महाराज को आते देख कर नगर के धार्मिक श्रावक अपने अपने द्वार पर अपने हाथों में फल, जलपात्र आदि लेकर खड़े होगये। जिस द्वार के सामने से वह निकलते उसी द्वार के स्त्री पुरुष बहुत सन्मान और विनय से मुनि महाराज को शिर झुका नमस्कार करके कहते कि 'महाराज! ठहरिये, हमारे यहां भोजन शुद्ध है।' मुनि महाराज क्षण भर उनकी ओर देखते और अपने व्रत परिसंख्यान में कुछ कमी देख कर आगे चल देते।

नन्दिमित्र मुनि महाराज का बड़े धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा आदर सन्मान होता देख कर आश्चर्य-चकित हुआ, कि मैं इसको भूखा दरिद्र समझता था, इसकी सेवा तो सभी सेठ साहूकार करते हैं, यह फिर भी किसी के घर भोजन नहीं करता, क्या इसे भूख नहीं है? अच्छा देखूं आज किस के घर किस तरह भोजन करेगा। यह विचार कर वह मुनिराज के साथ ही चलता रहा।

अंत में मुनिराज एक द्वार पर रुके और वहां अपने नियम की विधि देखकर उस घर में भोजन करने चले गये। नन्दिमित्र भी उनके साथ घर में चला गया, घरवालों ने समझा कि यह मुनि महाराज का सेवक होगा। मुनि महाराज ने वहाँ नवधा भक्ति से आहार ग्रहण किया। वे तो भोजन कर के वन में चले गये और घर वालों ने नन्दिमित्र को भी आदर से अच्छा स्वादिष्ट भोजन कराया। भोजन कर के नन्दिमित्र बहुत सन्तुष्ट हुआ। उसने सोचा कि ऐसा सुन्दर भोजन तो मैंने अभी तक नहीं किया। मैं व्यर्थ लकड़ी काट कर बोझा ढोता हूँ। इतना कडा परिश्रम कर के मुझे रूखा सूखा ही भोजन मिल पाता है। क्यों न जगल में मुनि महाराज के साथ रहूँ। इनकी देखभाल तथा सेवा शुश्रूषा कर दिया करूंगा और इनके साथ बढ़िया भोजन किया करूंगा।

यह सोच कर वह जंगल में पहुंचा और मुनिराज के पास ही रहने लगा, मुनि महाराज ने दिव्यज्ञान से जान लिया कि यह निकट भव्य है, इसका अच्छा होनहार है। नंदिमित्र प्रतिदिन मुनिराज के साथ नगर में जाता और खूब डटकर भोजन कर आता। भोजन कर के वन में पहुँच कर मुनिराज के पास ठहर जाता।

एक दिन मुनि महाराज ने उपवास किया, अतः वे भोजन के लिये नगर में नहीं गये। तब नंदिमित्र ने मुनि से कहा कि महाराज अपना कमण्डलु पीछी मुझे दे दीजिये जिससे मैं भोजन कर आऊं। मुनिराज ने कहा कि तू अपने सब कपड़े उतार दे और पीछी कमण्डलु उठा ले। नन्दिमित्र ने भोजन पाने के लिये अपने सब कपड़े उतार दिये और पीछी कमण्डलु लेकर नगर की ओर चल पड़ा। नगर में भक्त श्रावकों ने उसको नवीन दीक्षित मुनि समझ कर भक्ति पूर्वक आहार कराया। भोजन कर के नन्दिमित्र बन में मुनि महाराज के पास आया और पीछी कमण्डलु मुनि महाराज के पास रख दिये।

जब वह अपने कपड़े पहनने लगा तब मुनिराज ने कहा 'नन्दिमित्र ! यह क्या करता है ? एक बार कीचड़ में से निकल कर फिर कीचड़ में फंसता है। तुझे यह नहीं मालूम कि अब तेरी आयु केवल तीन दिन की रह गई है। इन तीन दिनों में अपनी आत्मा को इतना शुद्ध कर डाल कि फिर तुझे संसार में जन्म मरण ही न करना पड़े। सावधान हो जा, तेरा एक एक क्षण अमूल्य है।

मुनि महाराज का उपदेश सुन कर तथा अपनी अल्प आयु जानकर नन्दिमित्र ने विधिपूर्वक मुनि दीक्षा ली, और आत्मस्वरूप समझकर आत्मध्यान में निमग्न हो गया। अटल आत्मध्यान द्वारा उसने मोहनीय आदि कर्मों का क्षय करके तीन दिन में मुक्ति प्राप्त कर ली।

इसी तरह की काललब्धि सुकुमाल सेठ को आई थी, उन्होंने भी तीन दिन के आध्यात्मिक परिश्रम से सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की। वारिषेण ने अपने मित्र पुष्पडाल को भी मित्रता निभा कर मुनि बनाया। इस तरह अवसर पाकर बुद्धिमान् मनुष्य को आत्म-उत्थान करने में प्रमाद न करना चाहिये।

भवितव्यता दुर्निवार समझकर भाग के भरोसे मे बैठे रहना भी बुद्धिमानी नहीं, क्योंकि भाग्य भी आखिर अपने पुरुषार्थ से ही बनता है। तथा अच्छे शुभ कार्यों द्वारा अशुभ कर्मों को पलटाया जा सकता है। असाता वेदनीय कर्म को साता वेदनीय रूप में किया जा सकता है।

यशोधर मुनि के गले में मरा हुआ सर्प डालते समय श्रेणिक राजा ने सातवें नरक की आयु बांध ली थी, किन्तु तत्पश्चात वह संभल गया और भगवान् महावीर का भक्त शिष्य बन कर धर्म-आराधना करता रहा जिससे उस की आयु ३३ सागर से घटकर पहले नरक की केवल ८४ हजार वर्ष की रह गई।

इसी कारण भाग्य से बड़ा उद्यम माना जाता है। कर्मों का नाश मुक्ति की-प्राप्ति भाग्य से नहीं होती उद्योग से होती है। ज्ञान का विकास, तप स्वाध्याय आदि उद्योग द्वारा होता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्चारित्र भाग्य से नहीं, आत्मा के उद्योग से प्राप्त होता है। कर्मों का उपशम और क्षयोपशम भाग्य से नहीं हुआ करता, आत्मा के उद्योग से होता है। उस आत्मा का महान् वैभव आत्मा अपने उद्योग से पाया करता है।

इसलिये भाग्य के भरोसे से रहकर आलस्य में पड़े रहना कायर पुरुषों का काम है।

'तातस्त कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः, क्षारं जलं कापुरुषा पिबन्ति।'

यानी—अपने पिता पितामह के कुए का खारा पानी पीकर सन्तुष्ट रहना, कायर पुरुषों का काम है। उद्योगी पुरुष तो नया कुआं खोद कर मीठा जल पिया करते हैं।

यूरोप का प्रख्यात वीर योद्धा नैपोलियन अपने साथियों से कहा करता था कि परमात्मा पर विश्वास करो, परन्तु अपनी बारूद को गीली मत होने दो। जिसका अभिप्राय यही है कि सदा कर्तव्य-परायण रहो। भगवान के भरोसे भी उद्योग करना न छोड़ो।

भाग्य और पुरुषार्थ का द्वन्द्व युद्ध होता रहता है। कभी उद्योग हलका होता है और कर्म बलवान होता है तो उद्योग बेकार भी हो जाता है। कभी उद्योग बलवान होता है तो भाग्य को पछाड़ देता है। कभी भाग्य उद्योग के अनुसार होता है तो वह भाग्य सहायक बन जाता है।

भाग्य आखिर है तो सोने की बेडी के समान आत्मा का बन्धन, इसे भी तो उद्यम कर के मिटाना ही पड़ता है। आत्मा तभी अजर अमर स्वतन्त्र हो पाता है।

प्रवचन नं० ६४

स्थानः—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथिः—
भाद्रपद कृष्णा ५ सोमवार, ८ अगस्त १६५५

अन्धश्रद्धा छोड़ो

यद्यपि खान में पड़ा हुआ सोना और सर्राफ के पास मोजूद सौटची सोने में तथा सुनार के द्वारा बनाये गये आभूषण के सोने में सोने की अपेक्षा कुछ अन्तर नहीं है, तीनों में एक जैसी चमक वजन आदि गुण हैं परन्तु पर्यायदृष्टि से उन तीनों सोनों में महान अन्तर है। खान का सोना तो एक रुपये तोला कोई खरीदने के लिये तैयार नहीं होता क्योंकि एक तो खान से बाहर निकालने में बहुत भारी खर्च आता है, दूसरे उस सोने के साथ मिट्टी पत्थर मिला होता है उस मिट्टी पत्थर को पृथक् करने पर सोना बहुत थोड़ी मात्रा में मिलता है। सुनार ने जो आभूषण बनाया है उसका सोना भी यद्यपि खान के सोने से अच्छा है अतएव उसका मूल्य भी खान के सोने से अधिक होता है परन्तु वह भी पूर्ण शुद्ध नहीं होता। सुनार अपने स्वभाव के अनुसार उसमें थोड़ा बहुत तांबा या चांदी मिला ही देता है, टांका तो चांदी का लगाता ही है। अतः सर्राफ की दुकान पर मिलने वाला सौटंची सोना ही यथार्थ में पूर्ण शुद्ध सुवर्ण है उसी का मूल्य सोने के भाव से मिला करता है।

इसी प्रकार जीवत्व की अपेक्षा समस्त जीव एक समान हैं। पूर्ण शुद्ध सिद्ध भगवान्, अपूर्ण शुद्ध अर्हन्त भगवान्, शुक्ल ध्यानारूढ़ मुनि, सातवें गुणस्थानवर्ती साधु में आत्मदृष्टि से कोई भेद नहीं है, उन सबमें विद्यमान गुण बिलकुल एक-समान हैं किन्तु पर्याय की अपेक्षा उनमें अन्तर पाया जाता है, अर्हन्त भगवान् जब शेष चार अघाति कर्म नष्ट कर लेंगे तब सिद्ध समान बनेंगे, शुक्ल ध्यानारूढ़ मुनि शुक्ल-ध्यान द्वारा पहले चार घातिकर्म तदनन्तर अघाति कर्मों का क्षय करके सिद्ध समान बनेंगे। सातवें गुण-स्थान का ध्यानारूढ़ साधु जब शुक्लध्यान प्राप्त करके श्रेणी चढ़ेगा तब घातिकर्म अघाति कर्म क्षय करके सिद्ध बन सकेगा यानी—सिद्ध भगवान अपना पूर्ण उद्देश्य सिद्ध कर चुके हैं इसी कारण उनका नाम सिद्ध है। अर्हन्त भगवान उद्देश्य सिद्धि के निकट पहुँच चुके हैं, शुक्ल ध्यानारूढ़ अभी कुछ दूर उद्देश्य

सिद्धि के मार्ग में है और सातवें गुणस्थान के साधु ने आत्मा के उस उत्कृष्ट ध्येय तक पहुँचने के लिये यात्रा प्रारम्भ ही की है।

इसी तरह संसारी जीव यद्यपि कर्म बन्धन, संसार भ्रमण, जन्म मरण आदि बातों की अपेक्षा सब समान है परन्तु गुणों के विकास, अल्पविकास की अपेक्षा उनमें भी परस्पर महान् अन्तर है। एकेन्द्रिय जीव वृक्ष केवल अपनी स्पर्शन इन्द्रिय से अन्य पदार्थों को छूकर जान सकते हैं, निगोदिया जीव उनसे भी बहुत कम जानते हैं। लट, कौड़ी, जोंक आदि दो इन्द्रिय जीव स्पर्शन इन्द्रिय से छूकर और रसना इन्द्रिय से रस चाखकर पदार्थों का ज्ञान करते हैं बोल भी सकते हैं। चींटी, खटमल, बीछू आदि तीन इन्द्रिय जीव छूकर, चाखकर और नाक से सूंघकर भी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। मक्खी, मच्छर, बर्र आदि चार इन्द्रिय जीवों के त्वचा (चमड़ा), जीभ, नाक और नेत्र ये चार इन्द्रियां होती हैं अतः छूकर, चखकर, सूंघकर और देखकर भी चीजों को जानते हैं। कुत्ता, घोड़ा, हाथी आदि थलचर मछली, मगर आदि जलचर, पशु तथा तोता कबूतर आदि नभचर जीवों के पहली चार इन्द्रियों के सिवाय कान भी होते हैं, अतः वह सुन भी सकते हैं। सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन भी होता है अतः वे मनुष्य द्वारा शिक्षा भी ग्रहण कर सकते हैं मनुष्य के संकेत को भी पहचान लेते हैं। मनुष्य में पशु पक्षियों की अपेक्षा अधिक ज्ञान विकसित होता है। मनुष्यों में किसी को कम, किसी को अधिक ज्ञान होता है।

इस तरह संसारी जीव भी सब एक समान नहीं हैं। ज्ञान-कमी के कारण पशु पक्षी अपनी विशेष उन्नति नहीं कर पाते। मनुष्यों में भी जंगली मनुष्य तथा अन्य अशिक्षित आदमी पशुओं की तरह ही अज्ञानी होते हैं। पशु पक्षी जिस तरह दूसरों की देखादेखी अपने सब काम किया करते हैं, अज्ञानी अशिक्षित मनुष्य भी उसी तरह अपना जीवन दूसरों के देखादेखी बिताते हैं। नीतिकार ने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनश्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो, ज्ञानेनहीनाः पशुभिः समानाः ॥

यानी—भोजन करना, नींद लेना, डरना तथा कामसेवन करना ये चार बातें पशुओं और मनुष्यों में एक सरीखी पाई जाती हैं। मनुष्यों में केवल एक ज्ञान ही पशुओं से अधिक हुआ करता है। जो मनुष्य ज्ञान-हीन होते हैं, पढ़ लिख कर जिन्होंने अपने ज्ञान का विकास नहीं किया वे मूर्ख मनुष्य पशुओं के समान ही होते हैं।

अशिक्षित जनता भेड़ों की तरह बिना कुछ सोचे विचारे एक दूसरे के पीछे चलती है, जिस तरह आगे की भेड़ जिधर जाती है उसके पीछे की भेड़ें भी उधर ही चल पड़ती हैं। अभी कुछ वर्ष पहले समाचार छपा था कि एक स्थान पर रेलवे पटरी के पास भेड़ें चर रही थीं। उसी समय एक मालगाडी आई आगे की भेड़ रेलवे लाइन पर चल पड़ी दूसरी भेड़ें भी उसके पीछे चल पड़ीं। सब से आगे की भेड़ रेलगाड़ी से कट गई परन्तु ऐसा होने पर भी दूसरी भेड़ें वहां से इधर उधर नहीं भागीं, उसी लाइन पर एक दूसरी के पीछे चलती रहीं ड्राईवर ने गाड़ी को रोकने का प्रयत्न किया किन्तु इञ्जन को ठहराते ठहराते ७६ भेड़ें एक दूसरे के पीछे चलते हुए उस गाड़ी के नीचे आते हुए क्रम से कट गईं। मूर्ख भोले

भाले व्यक्ति भी विवेक से कार्य नहीं लेते और दूसरों के देखा देखी अनुकरण करने लगते हैं।

एक ब्राह्मण एक नगर में रहता था, नगर के पास एक निर्मल जल की नदी बहती थी। वह ब्राह्मण सूर्योदय से पहले नदी पर जाता, वहाँ टट्टी जाता, दातौन करता और कपड़े उतार कर खूब स्नान करता था। उसके पास एक तांबे का लोटा होता था, स्नान करते समय उसे कपड़ों में छिपा कर किनारे पर रख देता था। यह सब वह प्रतिदिन किया करता था।

एक दिन जब वह स्नान कर रहा था तो चलता फिरता आदमी वहां आया और उसने बड़ी सफाई से उसका वह लोटा उड़ा लिया और वहाँ से चलता बना। ब्राह्मण जब स्नान करके नदी से बाहर आ कर कपड़े पहनने लगा तब अपना लोटा वहाँ पर न देखकर बहुत दुःखी हुआ।

दूसरे दिन जब वह फिर नदी पर आया, तो अपने साथ लाये हुए दूसरे तांबे के लोटे को किनारे से कुछ दूर बालू में छिपा दिया। स्नान करने के पश्चात् कपड़े पहन कर जब बालू में से लोटा निकालने लगा तो उस स्थान को भूल गया, इस कारण लोटा बालू में से निकालने में कुछ देर लग गई। अतः उसने तीसरे दिन उस लोटे को बालू में एक फुट नीचे दबा कर उसके ऊपर चिन्ह के तौर पर एक फुट ऊँचा बालू का ढेर कर दिया, और निश्चिन्त होकर स्नान करने लगा। इतने में वहां दूसरे मनुष्य भी स्नान करने आने लगे, उन्होंने बालू का ढेर देख कर सोचा कि स्नान करने से पहले बालू का ढेर लगा देने में कुछ पुण्य होता होगा, ऐसा अनुमान कर के उन्होंने भी एक दूसरे के देखा देखी वैसे ही बालू के ढेर कर दिये। फिर तो जो भी नदी पर आता गया बालू का ढेर लगाता गया। इस तरह वहां थोड़ी ही देर में सैकड़ों बालू के ढेर बन गये।

ब्राह्मण स्नान कर के कपड़े पहन कर जब अपना लोटा बालू में से बाहर निकालने आया तो उसे वहां सैकड़ों बालू के ढेर दिखाई दिये, उनको देख कर उसे अपने ढेर की पहचान न हो सकी, उसने अनेक ढेरों को हटा कर एक एक फुट खोद कर देखा परन्तु उसे अपना बर्तन न मिला। तब उसने बहुत दुःखी होकर कहा कि—

गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः।
बालुकोच्चयमात्रेण हतं मे ताम्रभाजनम्॥

यानी—यह लोक अन्धश्रद्धालु है, एक दूसरे के पीछे बिना सोचे समझे अनुकरण करने लगता है, सच्ची समझ बूझ लोगों को नहीं होती। मेरे बालू के ढेर को देख कर बिना सोचे विचारे बालू के ढेर लोगों ने लगा कर मेरे तांबे का बर्तन गुम कर दिया।

ऐसी अन्धश्रद्धा या अन्ध अनुकरण लौकिक कामों में भी चलता है, जिसको लोग रूढ़ि के दास बन कर अनेक लौकिक कुप्रथाओं को चलाते रहते हैं। विवाह शादियों आदि के अनेक व्यर्थ रीति रिवाजों को चला रहे हैं, अपने गरीब साधर्मी लोगों का विचार कर के उन व्यर्थ व्ययों को नहीं हटाते या अंग्रेजों का अन्धा अनुकरण करके नैक्टाई आदि पहनने लगे हैं, न जिसका कुछ प्रयोजन है न कुछ लाभ। ईसाइयों ने अपने धर्म प्रवर्तक यीशु को क्रास पर फाँसी चढ़ाने के स्मारक रूप में अपने गले में

कपड़ा (नैकटाई) धार्मिक चिन्ह के रूप में बांधना शुरू किया, किन्तु अब वह नैकटाई, जिसका अर्थ ही गले की फांसी है, लोगों ने फैशन के रूप में अपनाली है। जो लोग ईसाई हैं उनके लिये तो वह धार्मिक चिन्ह समझ कर ठीक भी समझा जावे, परन्तु जो लोग जैन, हिन्दू, आर्य समाजी आदि हैं उनके गले में नैकटाई किस का चिन्ह समझा जावे तथा उससे शरीर का क्या लाभ माना जावे। यह अन्ध श्रद्धा या अन्ध अनुकरण का एक नमूना है।

इसी तरह बल्कि इससे भी अधिक अन्धश्रद्धा धर्म आचरण में चल रही है। जिस परमात्मा या देवी देवता को सारे जगत् का पिता माता स्वरूप कहा जाता है उसी के प्रसन्न करने के लिये भैंसा, बकरा, घोड़ा, सूअर, मुर्गी आदि जीवों को निर्दयता से मार कर भेंट करते हैं। क्या वह परमात्मा या देवी उन जीवों का पिता या माता नहीं है। हिंसा करने में, नदी में स्नान करने में, पिंड दान आदि में, पेड़ों को पूजने में, अग्नि में जल कर सती होने आदि कार्यों में धर्म समझना अन्धश्रद्धा का परिणाम है। बुद्धिमान पुरुषों को आत्मा का उत्थान करने वाले धर्म जैसे अमूल्य पदार्थों का जांचकर, परीक्षा करके अपनाना चाहिये। जब कि हम एक पैसे के मिट्टी के बर्तन को भी ठोंक बजा कर जांच करके लेते हैं तो धर्म जैसे मूल्यवान् पदार्थ को बिना परीक्षा किये अन्धश्रद्धा से न ग्रहण करना चाहिये।

अन्य व्यक्तियों की चर्चा छोड़ो, परीक्षा प्रधान जैनधर्म के बहुत से अनुयायी भी अन्धश्रद्धा में पड़े हुए है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र को देखिये। वहाँ पर बन्दना के लिये जाने वाले अधिकांश स्त्री पुरुष अपनी सांसारिक कामनाएं पूर्ण करने की भावना से जाते हैं जो कि सरासर मिथ्या श्रद्धा का परिणाम है। भोले स्त्री पुरुष वहाँ पर भगवान् महावीर से आत्मा शुद्धि, वैराग्य, मुक्ति, शुद्ध आचरण प्राप्त करने की भावना नहीं करते, उनको भावना होती है कि हमारे पुत्र हो जावे, हमारे पौत्र हो जावे, दौहित्र हो जावे, हमारे पुत्र पुत्री का विवाह हो जावे, हम को बिना परिश्रम या अल्प परिश्रम से धन मिल जावे इत्यादि। एक बार तो मेले के समय कुछ चोरों ने भी ७०) का छत्र इस लिये भगवान् महावीर को चढ़ाया कि हे भगवान ! हम को मेले में चोरी करते हुए बहुत धन मिले और पकड़े न जावें।' उन्होंने ३-४ दिन तक चोरियाँ तो अनेक कीं परन्तु वे पकड़े गये।

जिन भगवान् महावीर ने स्वय अपना विवाह नहीं किया था, बाल ब्रह्मचारी रहे थे, क्या वे मुक्ति में पहुंचकर तुम्हारे पुत्र पुत्रियों के विवाह कराने आवेंगे, जब उन्होंने स्वयं बच्चे पैदा नहीं किए तब तुम्हे ऐसा बरदान क्यों देंगे। तथा उन्होंने राज सम्पत्ति त्याग कर नग्न रूप में जब आत्मशुद्धि की, तुम को धन क्यों देंगे ?

जैन सिद्धान्त के अनुसार अर्हन्त तथा सिद्ध परमात्मा संसार के सम्पर्क से सर्वथा जुदे रहकर पूर्ण वीतरागी होते हैं, वे न अपने भक्त पर प्रसन्न होकर कुछ देते हैं और न अपने निन्दक पर अप्रसन्न होकर उसे कुछ हानि पहुंचाते हैं जो व्यक्ति उनके—जैसे गुणों का विकास करने की भावना से, आत्मशुद्धि वीतरागता सर्वज्ञता प्राप्त करने के उद्देश्य से उन की भक्ति दर्शन पूजा करता है, उसके आत्मा में कुछ वैराग्य आता है जिस से संवर निर्जरा होती है, कुछ शुभ अनुराग के कारण पुण्य कर्मों का संचय होता है, जिससे बिना चाहे, बिना माँगे भविष्य में उस संचित पुण्य कर्म के उदय से सांसारिक सुख स्वयमेव मिल जाता है। अत: ऐसे अन्ध श्रद्धालु जैनों को भी अन्धश्रद्धा छोड़ने की आवश्यकता है।

प्रवचन नं० ६५

स्थानः— तिथिः—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली प्रथम भाद्रपद कृष्णा ६ मंगलवार, ६ अगस्त १९५५

लक्ष्मी पूजा

संसारवर्ती जीव शरीर को अपना मानकर सब से अधिक मोह-ममता अपने शरीर के साथ करता है। छोटा सा टट्टी में रहने वाला कीडा अपने शरीर को इतना प्रिय समझता है जितना कि स्वर्ग में रहने वाला इन्द्र अपने शरीर को प्रिय समझता है। इस अनन्य प्रेम का एक विशेष कारण यह है कि संसारी जीव अपने अजर अमर आत्मा को जन्म लेने वाला तथा मरने वाला समझ बैठे हैं, अत. उनकी धारणा बन गई है कि शरीर का जीवित रहना ही जीवन है, जीवन की इच्छा तो प्रत्येक प्राणी को है ही, इसी कारण छोटा सा कीड़ा भी अपना शरीर मृत्यु से बचाने का यत्न करता है। यही बात देखकर नीतिकार ने कहा है—

अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताकांक्षा समं मृत्युभयं द्वयोः ॥

यानी—टट्टी में रहने वाले कीड़े को तथा स्वर्ग में रहने वाले इन्द्र को जीने की इच्छा एवं मृत्यु एक समान है।

इसी शारीरिक मोह के कारण संसारी जीव शरीर के लिये उपयोगी समझी जाने वाले संसार के अन्य पदार्थों से ममता जोडता है और उनको संचित करते करते ही काल के गाल में किसी दिन चुपचाप चला जाता है। किसी कवि ने कहा है—

अशनं मे वसनं मे दारा मे बन्धुवर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ॥

बकरी बकरा 'मे-मे' बोलता रहता है, और भेडिया 'मे-मे' चिल्लाने वाले बकरे को पकड़ कर उठा ले जाता है तथा मार कर खा जाता है। इसी बात को दृष्टि में रखकर कवि कहता है कि मनुष्य कहता है भोजन 'मे' (मेरा), वस्त्र मे (मेरा), स्त्री मे (मेरी), कुटुम्ब परिवार भाई बन्धु, मे यानी मेरे हैं (संस्कृत भाषा में 'मेरा' के लिये 'मे' शब्द प्रयुक्त होता है) इस तरह 'मे मे' करने वाले इस मनुष्य रूपी बकरे को कालरूपी भेड़िया मार डालता है।

मनुष्य की सब से अधिक ममता धन के साथ है। इसी कारण संसारी मनुष्य सब से अधिक महत्व धन को देता है। धन को अपना लक्ष्य बिन्दु बनाकर मनुष्य उसको पाने के लिये सब तरह के प्रयत्न करते हैं। व्यापार करते हैं, सेवा चाकरी करते हैं, खेती आदि उद्योग करते हैं, धन के लिये अपने सब से प्यारे प्राणों को संकट में डालकर कोई हजार हजार फुट गहरी कोयले की खानों में जाकर कोयला

खोदता है, कोई सोने की खान में से सोना निकालता है, कोई मोती निकालने के लिये अथाह समुद्र में घुस जाता है। कोई शेर, चीते, भेड़ियों से भरे हुए जंगल पर्वतों की खाक छानता है। कोई धन पाने के के लिये चोरी करता है, कोई डाका डालता है, एक राज्य निरपराध अन्य राजा पर भी आक्रमण करके महायुद्ध छेड़ देता है। कोई व्यक्ति धन ऐंठने के लिये धोखेबाजी, विश्वासघात करते है, अपने सगे सम्बन्धी प्रियजन को भी मनुष्य धन के कारण मार डालता है। प्रेममयी बहिन भी कभी कभी धन के लोभ में अपने सहोदर भाई को मार देती है। यह कथा प्रसिद्ध है कि—

"एक मनुष्य परदेश जाकर अच्छा द्रव्य संचित करके घर लौटा। मार्ग में उसकी बहिन का घर पड़ता था, सो अपनी बहिन से मिलने चला गया। भाई को घर आते देख कर बहिन बहुत प्रसन्न हुई और उसने अपने भाई का बहुत सत्कार किया। बातचीत करते हुए उसको मालूम हुआ कि उसका भाई खूब धन कमाकर लाया है। यह जानकर उसके सिर पर लोभ सवार हो गया। उसने वह धन पाने के लिये रात्रि को सोते समय अपने उस घर आये हुए भाई की हत्या करने की बात सोची। रात को जब उसका भाई गहरी नींद में सो गया। तब वह छुरा लेकर अपने पति के पास पहुंची और बोली कि मेरे भाई को मार डालो सारा धन हमें मिल जायगा, उसने उसको बहुत फटकारा कि तेरा अकेला भाई है, यहां तुझसे मिलने आया है, तू उसे मरवा डालना चाहती है? धिक्कार है।

तब वह अपने देवर के पास गई और उसे जगाकर उससे भी धन के लिये अपने भाई को मार डालने का प्रस्ताव किया, उसके देवर ने उसे बहुत समझाया और ऐसा कुकृत्य न करने की प्रेरणा की। परन्तु उस स्त्री पर लोभ का भूत सवार था, इसलिये वह कुछ न समझ सकी। अतः अपनी दुर्मति के अनुसार उसने स्वयं अपने भाई को मारने का निश्चय किया और अपने भाई की छाती पर जा बैठी उसका भाई जाग गया, अपनी बहिन के हाथ में छुरा देखकर उसने भयवश प्रेम से कहा कि बहिन! तू मेरा सारा धन लेले, मुझे मारती क्यों है? परन्तु उसने कुछ न सुना और छुरे से उसकी गर्दन काट डाली।"

ऐसे भीषण कुकृत्य धन के लिये हुआ करते हैं। बेसमझ अथवा लोभी मनुष्य धन पाने के लिये जप तप पूजन आदि धर्म किया करते हैं। धार्मिक पुरुष भी धन पाने लिये उद्योग व्यापार में अन्याय अनीति कर डालते हैं। रुपया पैसा कमाने के ९९ प्रतिशत कार्यों में अनीति बरती जाती है। इसीसे श्री गुणभद्र आचार्य ने आत्मानुशासन ग्रन्थ में लिखा है—

शुद्धैर्धनैर्विवर्द्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपिसिन्धवः॥

यानी—सज्जन पुरुषों की सम्पत्ति भी न्यायोपार्जित शुद्ध द्रव्य से नहीं बढ़ा करती। अर्थात् उनके भी अन्याय अनीति से धन एकत्र हुआ करता है जिस तरह कि नदियाँ स्वच्छ शुद्ध जल से नहीं भरती हैं। नदी नालों परनालों के मैले अशुद्ध जल से उनका पेट भरा करता है।

संसार में धन समस्त विशेषताओं का केन्द्र बना हुआ है इसलिये दुर्गुणी दुराचारी भी धनिक

मनुष्य के सब दोष धनकी ओट में छिप जाते हैं और जनता को उसमें सभी गुण दिखाई देने लगते हैं। इसी लक्ष्य से एक कवि ने कहा है—

यस्यास्तिवित्तं स नरः कुलीनः सपण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति॥

यानी—जिस मनुष्य के पास धन है वही अच्छा कुलीन (प्रतिष्ठित वंशवाला) माना जाता है, उसी को विद्वान् गुणी कहा जाता है, वही चतुर वक्ता और दर्शन करने योग्य होता है अर्थात् संसार के सारे गुण सोने में समा जाते हैं।

इसी कारण धन को लक्ष्मी कह कर संसार उसकी पूजा करता है। दीपावली, जो कि भगवान् महावीर को मुक्ति लक्ष्मी तथा गौतम गणेश को केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होने के उपलक्ष्य में प्रचलित हुई है उस दिन धनार्थी सेठ लोग मुक्ति लक्ष्मी की पूजा न करके एक कल्पित लक्ष्मी की पूजा किया करते हैं। इस कल्पित लक्ष्मी का वाहन (सवारी) उल्लू माना गया है। संभवतः इसका अभिप्राय यह है कि लक्ष्मी उल्लुओं यानी मूर्खों पर सवारी करती है। जिन लोगों की व्यापारिक चिट्ठियाँ भी अन्य लोग लिखा करते हैं अशिक्षित मूर्ख लोगों पर भी लक्ष्मी की कृपा होती है मूर्खता के कारण वे लोग न तो लक्ष्मी का अच्छी तरह भोग उपभोग में खर्च करते हैं। न उसे धर्म कार्यों में लगाते हैं और न उस लक्ष्मी से वे समाजसेवा, लोकसेवा का कोई उपयोगी कार्य करते हैं। वे तो लक्ष्मी के पुत्र बन कर केवल उसकी रक्षा किया करते है।

एक कवि के मुख से लक्ष्मी कहती है कि—

शूरं त्यजामि वैधव्यादुदारं लज्जया पुनः।
सापत्न्यात्पण्डितमपि तस्मात्कृपणमाश्रये॥

यानी—लक्ष्मी कहती है कि मैं शूरवीर के पास तो इस कारण नहीं रहती कि मुझे विधवा होने का भय रहता है क्योंकि शूरवीर युद्ध में चाहे जब अपने प्राण दे सकता है। दानी पुरुष के पास लज्जा के कारण नहीं रहना चाहिये क्योंकि पता नहीं वह मुझ को किस व्यक्ति के हाथ दान कर डाले, और विद्वान् के पास मैं इस कारण रहना पसन्द नहीं करती कि उसके पास मेरी सौत सरस्वती रहती है इस कारण मैं तो मूर्ख, कृपण (कंजूस) के पास रहती हूँ।

बहुत धनिक लक्ष्मी की पूजा करते करते इतने कृपण बन जाते हैं कि उनको दान करते समय अपने धन में कमी हो जाने की आशंका हो जाती है परन्तु बात बिलकुल उल्टी है, जिस तरह कुएं से पानी जितना निकाला जाय उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक पानी कुएं में और नया आजाता है इसी तरह जितना धन दान किया जाता है पुण्यकर्म के उदय से उससे भी अधिक धन उसके पास आ जाता है।

राजा भोज संस्कृत भाषा की उन्नति करने के लिये सस्कृत श्लोक बनाने वालों का उत्साह बढ़ाने के लिये खूब दान किया करता था। कभी कभी तो सुन्दर भावपूर्ण एक नये श्लोक के बनाने पर उस

विद्वान् को एक लाख रुपया तक पारितोषिक दे देता था। उसकी ऐसी दानवीरता देखकर उसके कोषाध्यक्ष (खजाञ्ची) को चिन्ता हुई कि राजा की इस दान प्रवृत्ति से तो खजाना ही खाली हो जायगा। इस कारण राजा को किसी तरह समझाना चाहिये कि दान इतना न करो। यह सोचकर उसने खजाने के द्वार पर बहुत मोटे अक्षरों में लिख दिया—

'आपदर्थं धन रक्षेत्' यानी—विपत्ति के लिये धन को सुरक्षित रखना चाहिये।

राजा भोज ने वह वाक्य पढ़ लिया और अपने खजाञ्ची का अभिप्राय भी समझ लिया। तब राजा ने अपने खजाञ्ची की शंका का समाधान करने के लिये उस वाक्य के आगे लिख दिया—

'श्रीमतां कुत आपदः' यानी—धनवानों पर विपत्ति कहाँ से आ सकती है?

खजाञ्ची ने राजा भोज का लिखा हुआ अपने प्रश्न का उत्तर स्वरूप वाक्य पढ़ लिया तब उसने राजा को फिर समझाने के लिये उसके आगे लिख दिया कि—

'दौर्भाग्यात्समाप्नोति' यानी—कभी दुर्भाग्य से विपत्ति आ जाती है।

राजा भोज ने अपने खजाञ्ची के लिखे हुए वाक्य का अभिप्राय समझकर उसके उत्तर में उसके आगे फिर लिख दिया कि—

'संचितोपि विनश्यति' यानी—दुर्भाग्य आने पर तो संचित (इकट्ठा किया हुआ) धन भी नहीं रहने पाता वह भी नष्ट हो जाता है।

खजाञ्ची राजा भोज का अभिप्राय और सिद्धान्त समझकर चुप रह गया।

जिस प्रकार घर का पानी निकालने के लिए मोरियाँ रक्खी जाती हैं, नगर का पानी निकालने के लिये नालियां रक्खी जाती हैं जिससे पानी घर में एकत्र हो घर को न गिरा दे, तथा नगर में एकत्र होकर नगर में रोग न फैला दे, इसी प्रकार संचित धन को धर्मप्रचार, लोकउपकार आदि कार्यों में न निकाला जावे तो वह धन भी धनिक की आत्मा को गिरा देता है। इस कारण लक्ष्मी की पूजा यही है कि धन का संचय न्याय-नीति से किया जावे, अन्याय अनीति से न कमाया जावे और कमाये हुए धन में से यथाशक्ति दान किया जावे। जो धन अन्याय से कमाया जाता है वह स्थिर नहीं रहता, बल्कि अपने साथ और धन को भी लेकर नष्ट हो जाता है। नीतिकार का कहना है—

अन्यायेनोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्तेत्वेकादशेवर्षे समूलं च विनश्यति॥

अर्थात्—अन्याय से कमाया हुआ धन दश वर्ष तक ठहरता है, ग्यारहवाँ वष लगते ही वह धन समूल नष्ट हो जाता है।

वैसे तो यह लक्ष्मी विनश्वर है, चोर डाकू, अग्नि इसे नष्ट कर देते हैं, राजा छीन लेता है, भाई पुत्र आदि नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं, अनेक अनर्थ इसके कारण हुआ करते हैं, परन्तु दान करने से यह बुरी

लक्ष्मी भी मनुष्य को लाभ पहुंचा जाती है। परन्तु वास्तव में आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि आत्मा के गुण है जोकि आत्मा से कभी छूटते नहीं हैं सदा साथ रहते हैं, अनादिकाल से आत्मा के साथ रह रहे हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। उन गुणों पर कर्मों ने आवरण डाल रक्खा है, इस कारण उनका विकास रुक गया है। जब उन कर्मों का समूल नाश हो जाता है तब आत्मा के अनन्त सुख शान्ति प्रदायक आत्म-लक्ष्मी प्रगट होती है, जो कि आत्मा का कभी साथ नहीं छोड़ती।

परन्तु इस आत्मलक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये इस भौतिक विनश्वर जड़ लक्ष्मी का त्याग करके नग्न दिगम्बर वेष धारण करना पड़ता है। बुद्धिमान मनुष्य को आत्मलक्ष्मी को प्राप्त करने में प्रयास करना चाहिये।

प्रवचन नं० ६६

स्थान— श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि— प्रथम भाद्रपद कृष्णा ७ बुधवार, १० अगस्त १९५५

देव-आराधना

जो व्यक्ति जिस विषय का अनुभवी ज्ञाता होता है वही अन्य व्यक्ति को उस विषय का पूरा परिचय देकर ठीक ज्ञान करा सकता है। एक ६० वर्ष के वृद्ध पुरुष को अपने जीवन के ६० वर्षों का अनुभव होता है, वह दूसरे बच्चों, युवकों तथा प्रौढ़ पुरुषों को बचपन, किशोर अवस्था, तरुण अवस्था, प्रौढ़ दशा तथा वृद्ध अवस्था के अनेक गुप्त रहस्य बतला सकता है जो कि सुनने वालों को पथ-प्रदर्शन कर सकते है।

तीन चार सन्तानो को जन्म देकर उनका पालन-पोषण कर चुकने वाली प्रौढ़ स्त्री गर्भाधान, प्रसव आदि के अनुभव नवयुवतियों को बतला सकती है तथा प्रथम प्रसूता स्त्रियों को बच्चों के पालन-पोषण के विषय में जानने योग्य आचरण करने योग्य अमूल्य अनुभव बतला सकती है। 'नहि बन्ध्या विजानाति, गुर्वी प्रसववेदनाम्।' बन्ध्या स्त्री चाहे ५०-६० वर्ष की भी क्यों न हो, किसी को नहीं बतला सकती कि बच्चे को जनते समय कैसी असह्य पीड़ा होती है।

जिस व्यक्ति ने बड़ा परिश्रम करके आचार्य परीक्षा पास की है, वही व्यक्ति पढ़ने तथा विशारद शास्त्री आदि परीक्षाओं के उत्तीर्ण करने के अनुभव से दूसरों को परिचित कर सकता है, पढ़ने में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों से दूसरों को सचेत कर सकता है।

पर्वत तथा जंगल का निवासी व्यक्ति ही उस वन पर्वत के समस्त छोटे बड़े, सीधे चक्करदार मार्गों से पूर्ण परिचित होता है अतः वन पर्वत के जटिल रास्तों को वही ठीक तरह दिखला सकता है। उन भूल भुलैया वाली गैलों से अनभिज्ञ मनुष्य दूसरों को क्या मार्ग दिखा सकता है, जब कि वह स्वयं भी उस वन के जटिल मार्गों से पार नहीं हो सकता।

जिस सिपाही ने कभी युद्ध क्षेत्र देखा भी नहीं वह सिपाही युद्ध जीतने की प्रक्रिया अन्य सिपाहियों को नहीं सिखला सकता। जिस मनुष्य ने कभी गहरे जल में पैर नहीं रक्खा, जो तैरने का नाम भी नहीं जानता वह दूसरे मनुष्यों को क्या तैरना सिखलावेगा ?

इसी प्रकार जिस मनुष्य को स्वयं अपने आत्मा का अनुभव नहीं है। वह यदि अन्य स्त्री पुरुषों को आत्म-अनुभव करने का उपदेश देने बैठ जावे तो उसका उपदेश एक अनधिकार चर्चा होगी। परिग्रह पंच में और परिवार के बन्दीघर का कैदी मनुष्य परिग्रह त्याग कर नग्न साधु दीक्षा ग्रहण करने का भाषण देकर जनता को प्रभावित करना चाहे तो भला वह अपने कार्य में कहाँ सफल हो सकता है ? एक कवि का कहना है—

आत्मबोध से शून्य पुरुष को नहिं परबोधन का अधिकार।
तरण कला से अज्ञ पुरुष का, यथा तरण शिक्षण निःसार॥

यानी—जिस को अपने आत्मा का ज्ञान नहीं है, उसे दूसरों को आत्मज्ञान के उपदेश देने का अधिकार नहीं है। जिस तरह कि जो मनुष्य स्वयं पानी में तैरना नहीं जानता वह दूसरों को क्या तैरना सिखला सकेगा।

इसी प्रकार संसार से पार वही करा सकता है जो स्वयं संसार से पार हुआ हो, संसार के जीवों को साधारण आत्मा से परमात्मा पद में पहुंचाने की प्रक्रिया वही दूसरों को समझा सकता है जो स्वयं अपने प्रयत्न से परमात्मा बना हो, अथवा आत्मा को राग, द्वेष, काम, क्रोध,, आदि विकारों से विमुक्त होकर निरंजन निर्विकार वीतराग वही बना सकता है जो स्वयं पूर्ण वीतराग हो और आत्मा को सर्वज्ञ बनाने की प्रक्रिया भी वही समझा सकता है जो स्वयं अज्ञान का समूल नाश कर के सर्वज्ञ हुआ हो।

आत्मा की सबसे बडी उन्नति यही है कि वह संसार के आवागमन से छूटकर अजर अमर, पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण सुखी, वीतराग, निर्विकार बन जावे। वैसे तो इस आत्मा-उन्नति के पथ पर चलते हुए परमात्मा सदा से बनते रहे हैं, परन्तु वर्तमान काल में इस क्षेत्र की दृष्टि से सबसे प्रथम भगवान् ऋषभनाथ ने एक हजार वर्ष की कठिन तपश्चर्या और आत्मा साधन के बाद सर्वज्ञ वीतराग पद प्राप्त किया। तदनन्तर उन्होंने अपनी दिव्य वाणी द्वारा अन्य मुक्तिके इच्छुक जीवों को आत्म-साधन का मार्ग बतलाया, उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत ने कैलाश पर्वत पर, जहाँ से कि भगवान् ऋषभनाथ मुक्त हुए हैं, सबसे प्रथम कलापूर्ण सुवर्ण मन्दिर बनवाये और उन में भगवान् ऋषभनाथ की तथा भूत-भविष्यत्-कालीन अन्य तीर्थंकरों की ध्यानारूढ सुन्दर प्रतिमाएँ बनवाकर विराजमान की। उन प्रतिमाओं के दर्शन पूजन भक्ति से अपने हृदय को वीतरागता की ओर आकर्षित करने की पद्धति भी उन मन्दिरों और वीतराग प्रतिमाओं द्वारा आद्य चक्रवर्ती सम्राट भरत ने ही प्रारम्भ की। संसार में मूर्ति पूजा का श्रीगणेश करने वाला जैनधर्म ही है और सब से प्राचीन देवमूर्तियाँ जैनों ही की पाई जाती हैं, जैनधर्म की मन्दिर-निर्माण तथा मूर्ति-निर्माण, मूर्ति पूजा का अनुकरण संसार के अन्य धर्मों ने भी पीछे से किया है।

शुकदेव हिन्दूधर्म के एक अखण्ड बाल-ब्रह्मचारी, संसार विरक्त नग्न साधु होगये हैं, उन्होंने हिन्दुओं के मान्य २४ अवतारों में से केवल ऋषभ अवतार (भगवान् ऋषभनाथ प्रथम धर्म उपदेशक तीर्थंकर) को ही आदर्श मानकर नमस्कार किया है। जब उनसे प्रश्न किया गया कि भगवान् ऋषभदेव को ही क्यों नमस्कार करते हो अन्य अवतारों को नमस्कार क्यों नहीं करते ? तब उन्होंने उत्तर दिया कि 'अन्य अवतारों ने संसार का मार्ग दिखाया है, मुक्तिमार्ग केवल ऋषभदेव ने दिखाया है अतः मैं ऋषभ अवतार को पूज्य मानता हूँ।'

श्री धनञ्जय कवि ने भी अपने विषापहार स्तोत्र में कहा है—

'मार्गस्त्वयैको ददृशेविमुक्तेश्चतुर्गतीनां गहनं परेण।

यानी—हे अर्हन्त भगवान् ! आपने तो केवल संसार से मुक्त होने का मार्ग प्रदर्शन किया और अन्य देवी देवताओं ने चतुर्गति रूप ससार का मार्ग बतलाया है।

महाकवि धनंजय का कहना इसलिये यथार्थ है कि जिनेन्द्र भगवान् के उपदिष्ट जैनधर्म में प्रत्येक क्रिया वह चाहे गृहस्थ की हो या गृहत्यागी मुनि की हो, संसार से छूटकर मुक्त होने के उद्देश्य से ही बतलाई गई है। इसका प्रतिभास मुनिचर्या में तो स्पष्ट है ही, किन्तु गृहस्थ के आचार में भी मिलता है।

अर्हन्तदेव या सिद्ध भगवान् स्वयं पूर्ण वीतराग होते हैं, उनका मोहनीय कर्म समूल नष्ट हो जाने से संसार के किसी भी पदार्थ के साथ, किसी भी जीव के साथ रागभाव नहीं होना, अतः वे अपनी पूजा करने वाले, भक्ति, नमस्कार, वन्दना, स्तुति करने वाले श्रद्धालु भक्त पर प्रसन्न नहीं हुआ करते और न अपने पुजारी भक्त के ऊपर कृपा करके उसे कुछ देते ही है। इसी प्रकार उनको किसी भी जड़ चेतन पदार्थ से रंचमात्र भी न किसी तरह की घृणा है, न द्वेष भाव है, अतएव यदि कोई स्त्री पुरुष उन अर्हन्तदेव की निन्दा करे, उनके विरुद्ध घृणा फैलावे, उनके लिये अपमान जनक शब्दों का प्रयोग करे तो उससे उनका कुछ बिगाड़ नहीं होता और न वे वीतराग होने से वैसे निन्दक व्यक्तियों पर अप्रसन्न होते हैं तथा न उसको कुछ दण्ड देने का कोई प्रयोग करते हैं। निर्विकार होने से उनमें जरा भी विकार नहीं आता।

ऐसा होते हुए भी जो मनुष्य उन जैसा परमात्मा बनने के उद्देश्यों से उन अर्हन्त भगवान् की मूर्ति को साक्षात् अर्हन्त मान कर उसकी पूजा भक्ति स्तुति करता है वह अपने शुभ उद्देश्य तथा शुभ क्रिया के कारण अपने लिये पुण्य कर्म का उपार्जन स्वयं कर लेता है, उसी पुण्य कर्मों के उदय से उसे यथा समय सुख शान्ति की सामग्री स्वयं प्राप्त हो जाती है, जैसे कि पेड़ की शीतल छाया न किसी को अपने पास बुलाती है, न किसी को सुख शान्ति पहुँचाने की इच्छा करती है, परन्तु फिर भी गर्मियों में जो जीव उसके नीचे पहुँच जाता है, उसको शान्ति और शीतलता स्वयं मिल जाती है, यदि कोई मूर्ख व्यक्ति उस पेड़ की छाया का आश्रय न ले अथवा उसकी निन्दा करता रहे तो इस क्रिया से उस छाया का बिगाड़ तो कुछ नहीं होगा वह मूर्ख ही धूप में सन्ताप पाता रहेगा।

इसी बात को श्री समन्तभद्राचार्य ने स्वयम्भू स्तोत्र में भगवान् वासुपूज्य की स्तुति करते हुए निम्नलिखित श्लोक में कहा है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथविवान्त वैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नैः पुनातिचित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ।।

अर्थात्—हे भगवन् ! आपकी पूजा करने से कुछ सांसारिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि आप वीतराग हैं, पूजा करने से राग (प्रेम) नहीं करते । और न आपकी निन्दा करने से कुछ बिगाड़ होता है क्योंकि आप वीतद्वेष है किसी से वैर करके किसी को दण्ड नहीं देते । फिर आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे हृदय को पाप मल से पवित्र कर देता है । यानी आप तो किसी का बनाव बिगाड़ नहीं करते किन्तु आपकी स्तुति पूजा भक्ति से भक्तों का मन पवित्र अवश्य हो जाता है ।

अर्हन्त भगवान् की मूर्ति आध्यात्मिक गुणों का मूर्तिमान प्रतीक है । आध्यात्मिक शास्त्रों में आत्मा का स्वरूप संक्षेप से इस तरह लिखा हुआ है कि आत्मा के स्वाभाविक रूप मे न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न किसी पर पदार्थ से राग है, न किसी से द्वेष है, न भय है, न शोक है, न किसी से घृणा है, न कामवासना है, धैर्य, प्रसन्नता, अदीनता, शान्ति, गम्भीरता आदि गुण आत्मा मे विद्यमान है । अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा इन सब विशेषताओं की मूर्ति है । अर्हन्त प्रतिमा में क्रोध, अभिमान, मायाचार, लोभ, घृणा, द्वेष, राग, भय, काम आदि कोई भी विकार प्रतिभाषित नहीं होता । शान्ति अटल धैर्य प्रसन्नता दिखाई देती है । इस तरह अर्हन्त भगवान् की मूर्ति आत्मा का तदाकार मानचित्र है । अतः भगवान् की मूर्ति का दर्शन करने से अमूर्तिक आत्मा का दर्शन हो जाता है । इस प्रकार भगवान् की मूर्ति आत्मा को समझने तथा प्राप्त करने का सरल साधन है ।

"अर्हन्त भगवान् के पास जब कुछ है ही नहीं तब वे अपने भक्तों को क्या कुछ दे सकते हैं ?" इस शंका का समाधान श्री धनञ्जय कवि ने विषापहार स्तोत्र के निम्नलिखित पद्य में इस तरह से किया है—

तुङ्गात्फलं यत्तदकिंचनाच्च, प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः ।
निरम्भसोऽप्युच्च तमादिवाद्रेर्नैकापिनिर्याति धुनी पयोधेः ।।

यानी—हे भगवन् ! आप सरीखे अकिंचन (जिसके पास कुछ भी नहीं) किन्तु महान व्यक्ति से जो अनुपम निधि प्राप्त होती है, वह समृद्धिशाली धनकुवेर आदि से नहीं मिलती । जिस तरह निर्जल दिखाई देने वाले उच्च पर्वतों से तो जल की नदियाँ निकलती हैं, जल के महान् भण्डार से अब तक एक भी नदी नहीं निकल पाई है । अर्थात् आपके पास कुछ बाहरी विभूति नहीं दिखाई देती फिर भी आप से असंख्य भक्त लोग अनुपम रत्नत्रय रूपी आत्मनिधि पा लेते हैं । संसार में यह अक्षय अमूल्य निधि अर्हन्तदेव के सिवाय और कोई देव नहीं देता ।

अर्हन्त भगवान् महावीर इस समय हमारे सामने नहीं हैं किन्तु उनकी परम्परा से चली आई

प्रतिमाओं को देखकर सहज में यह बात समझ में आ जाती है कि वे शान्त शुद्ध वीतराग थे। उनके द्वारा प्रचारित किया गया गहन कर्म सिद्धान्त, स्याद्वाद, मार्गणा, गुणस्थान, जीव समास का विशद विवेचन इस बात की साक्षी है कि वे सर्वज्ञ थे, सर्वज्ञ के सिवाय ऐसा सूक्ष्म स्पष्ट विवेचन, जो कि उनकी शिष्य परम्परा के मुनि गणधर, पुष्पदन्त भूतबलि ने कषायपाहुड़, षट्खण्ड आगम में किया है, अन्य कोई व्यक्ति नहीं कर सकता। भगवान् महावीर आदि अर्हन्त भगवान् विश्वहितङ्कर थे इस बात की साक्षी उनके प्रतिपादित अहिंसा सिद्धान्त से मिलती है, जिसके अनुसार संसार के सभी चर अचर, छोटे बड़े मनुष्य, पक्षी. पशु, कीट आदि की रक्षा करने का उपदेश मिलता है।

बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने भी न्यायविन्दु ग्रन्थ में जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता को स्वीकार किया है, उसने लिखा है—'यः सर्वज्ञ आप्तेवा सज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् यद्यथा ऋषभवर्द्धमानादिरिति।' यानी—जो सर्वज्ञ या आप्त हुआ उसने ज्ञान आदि का उपदेश दिया जैसे ऋषभनाथ, वर्द्धमान आदि।

इस कारण आत्मा के गुणों का विकास करने के लिये अर्हन्त भगवान् की पूजा, भक्ति विनय, शुद्ध हृदय से करनो चाहिये।

प्रवचन नं० ६७

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्लो।	प्रथम भाद्रपद कृष्णा ८ गुरुवार, ११ अगस्त १९५५

पंच परमेष्ठी

प्रत्येक मनुष्य अपना कुछ न कुछ लक्ष्य निश्चित करके अपने जीवन की धारा प्रवाहित करता है। व्यापारी अपने समय, समझ, और परिस्थिति के अनुकूल लक्ष्य बनाकर व्यापार प्रारम्भ करता है। उद्योगी पुरुष किसी उद्योग की नींव भी अपने सामने किसी लक्ष्य को रखकर डालता है। गर्भ धारण तथा प्रसव की महती वेदना भी सहन करके जो पुत्र को प्रसव करती है, वह भी अपना कोई लक्ष्य रखकर ही पुत्र का मुख देखते ही अपनी समस्त पीड़ा भूल जाती है तदनन्तर उसका महान् यत्न और सावधानी से पालन पोषण करती है, अपना शारीरिक बल क्षीण करके उसे अपनी छाती का दूध पिलाती है, उसके इस अनुपम त्याग का भी कुछ उद्देश्य होता है। उसकी भावना होती है कि मेरा पुत्र बड़ा होकर अपने कुल का उद्धार करे, परिवार को समृद्ध बनावे, मेरे लिये सुख सामग्री जुटावे।

पिता स्वयं अनेकों कष्टों को सहर्ष स्वीकार करके अपने पुत्र को शिक्षित बनाने में अपनी शक्ति जुटा देता है उसका भी उद्देश्य होता है कि मेरा पुत्र अच्छा विद्वान् बनकर अपना तथा मेरा नाम प्रसिद्ध करे तथा जीवन की अंतिम घड़ियों में मेरे असमर्थ शरीर को कुछ सहायता प्रदान करे।

एक विद्यार्थी पाठशाला में प्रविष्ट होकर अ आ इ ई पढ़ना प्रारम्भ करता है, अपना परम प्रिय

खेल खेलना छोड़कर ६ घंटे के बन्दीघर में अपने आपको सहर्ष डाल देता है, अपने अध्यापक की डांट फटकार और थप्पड़ बेत की मार को भी सहन करता है वह अपना उद्देश्य केवल अ आ इ ई पढ़ना ही बनाता है वह छोटा बच्चा भी अपने हृदय में अन्य विद्वानों के समान महान् विद्वान् बनने की उच्च भावना से ही विद्यार्थी जीवन प्रारम्भ करता है।

एक किसान खेत को बड़े परिश्रम से जोतता है, अपने पास रक्खे हुए सबसे अच्छे अन्न को स्वयं न खाकर उस मिट्टी के खेत में बिखेर देता है, फिर उस मिट्टी को गहरे कुएँ से पानी निकाल निकाल कर अनेक बार सींचता है, शर्दियों की ठंडी रातों में पानी में खड़ा रहता है। वर्षा ऋतु में खुले मैदान में फावड़ा लेकर अपने खेत के अनेक चक्कर लगाता है, गर्मियों में दोपहर की धूप और भयानक लू की कुछ भी चिन्ता न करके उस खेत के काम में लगा रहता है, इतना महान् प्रयास करने का उसका उद्देश्य यही होता है कि अपने बोये हुए अन्न के एक एक दाने के बदले में अन्न के हजारों दाने प्राप्त करूँ, वर्ष भर तक अपने परिवार को भोजन खिलाऊँ, अपने पशुओं को भूसा देता रहूं और अतिरिक्त अन्न तथा भूसे को बेचकर अपनी अन्य आवश्यकताओं को पूर्ण करता रहूँ। इस तरह अपनी २ समझ, शक्ति, परिस्थितियों के अनुसार अपना कोई न कोई लक्ष्य बनाकर ही प्रत्येक प्राणी कोई कार्य करता है।

इत्यादिक लक्ष्य सांसारिक दृष्टिकोण से होते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आत्मशुद्धि का लक्ष्य इससे विभिन्न श्रेणी का हुआ करता है। जो व्यक्ति अपने आत्मा का उत्थान करना चाहते हैं वे अपना अन्तिम लक्ष्य संसार के आवागमन (जन्म मरण) से छुड़ाकर संसार से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने का रखते हैं। इस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये वे अपने आदर्श पंच परमेष्ठियों को रखते हैं।

परमेष्ठी

आत्मशुद्धि द्वारा जो परम (सर्वोच्च) पद में स्थित है उन्हे परमेष्ठी कहते हैं। शासन की अपेक्षा जिस तरह जमींदार, जागीरदार, राजा महाराजा, मडलेश्वर, सम्राट् चक्रवर्ती एक दूसरे से महान् होते हैं। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से चक्रवर्ती भी, देवों के स्वामी इन्द्र भी परमेष्ठियों को पूज्य समझकर उनको नमस्कार करते हैं, अत. उनका परमेष्ठी नाम सार्थक है।

परमेष्ठी के ५ भेद है—१. अर्हन्त, २. सिद्ध, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय, ५. साधु। इनमें अर्हन्त भगवान् जीवन्मुक्त परमात्मा हैं, सिद्ध भगवान् पूर्णमुक्त परमात्मा हैं। अर्हन्त सिद्ध भगवान् के पदचिह्नों पर चलने वाले, संसार से विरक्त, महाव्रतधारी आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तीनों गुरु कहलाते हैं। पूज्यता की दृष्टि से सबसे नीचा पद साधु का माना गया है, साधु से अधिक पूज्य उपाध्याय होते हैं, उपाध्याय से भी उच्चपद आचार्य परमेष्ठी का होता है। आचार्य परमेष्ठी से अधिक पूज्यता सिद्ध परमेष्ठी में मानी गई है और सबसे अधिक पूज्यता अर्हन्त भगवान् में होती है। यद्यपि आत्मशुद्धि की दृष्टि से सिद्ध परमेष्ठी का पद सबसे उच्च है क्योंकि वह सर्व कर्म विनिर्मुक्त होते हैं, जब कि अर्हन्त भगवान् को चार अघातिकर्म नाश करने शेष रहते है, परन्तु संसार से पार करने का दिव्य उपदेश जनता को अर्हन्त भगवान् द्वारा ही मिला करता है, उनसे ही लोक कल्याण हुआ करता है, अतः जगत में अर्हन्त को सबसे अधिक पूज्य माना गया है।

इसी तरह गुरुओं में आत्मशुद्धि की अपेक्षा साधु उच्च होते हैं परन्तु लोकमान्यता की दृष्टि से आचार्य को सब से उच्च गुरु माना गया है साधु आचार्य की आज्ञानुसार चलते हैं, आचार्य को अपना गुरु समझते हैं, उन से प्रायश्चित, दीक्षा लेते हैं। उपाध्याय आचार्य के शासन में रहते हैं। अतः आचार्य से उन का पद कम होता है किन्तु अधिक ज्ञानवान् होने से वे साधुओं से उच्च माने जाते हैं। आचार्य और उपाध्याय की एक पदवी है साधुओं के संग में जो सबसे अधिक अनुभवी, विद्वान्, तपस्वी, प्रभावशाली होते हैं उनको या तो संघ द्वारा अथवा गुरु आचार्य द्वारा 'आचार्य' पद प्रदान किया जाता है। अधिक शास्त्रज्ञ विद्वान साधु को उपाध्याय पद दिया जाता है। आचार्य और उपाध्याय जब अधिक आत्मशुद्धि करने के लिये संघ से अलग हो कर तपस्या करने के लिये तत्पर होते हैं अथवा समाधिमरण में आरूढ होते हैं तब सब सघ के समक्ष अपना उत्तराधिकार सुयोग्य साधु को प्रदान करके स्वय उस कार्य भार से निश्चिन्त हो जाते हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिये जिस उच्च साधना की आवश्यकता होती है, वह आचार्य उपाध्याय पद पर रहते हुए प्राप्त नहीं होती, वह तो साधु पद से ही मिलती है।

मनुष्य को जब तक आत्मा का अनुभव नहीं होता तब तक वह अपने शरीर, पुत्र, स्त्री, भाई आदि परिवार तथा मित्र परिकर से एवं धन, मकान आदि पदार्थों को अपनाकर उन के मोह ममता में फंसा रहता है उसके हृदय में भी ससार होता है और उसके बाहर चारों ओर भी संसार होता है। इस कारण उसका जीवन परिवार के पालन पोषण तथा सांसारिक विषय वासनाओं में ही बीत जाता है। किन्तु जिस व्यक्ति को पूर्व भव के सस्कार से या किसी साधु मुनि के उपदेश से अथवा भगवान् की प्रतिमा के दर्शन से अपने आत्मा की अनुभूति (सम्यक् श्रद्धा) हो जाती है, उस समय उस की रुचि आत्मा की ओर हो जाती है। वह फिर शरीर, परिवार, विषयभोगों से ऊपरी दिखावटी प्रेम बनाये रखता है जैसे धाय दूसरे के बच्चे को पालते समय उस पर बाहरी प्रेम प्रगट करती है। ससार बाहर से उस के चारों ओर दिखाई देता है क्योंकि वह कुटुम्ब परिवार में रहता है, किन्तु उसके हृदय में ससार नहीं होता। उसकी प्रबल इच्छा यही बनी रहती है कि कौन सी शुभ घड़ी आवे जब कि मैं घर गृहस्थी का भार अपने पुत्र भ्राता आदि को सौंपकर घर से अलग हो जाऊं और बन पर्वत आदि संसार के कोलाहल से दूर एकान्त स्थान में अपना सारा समय आत्म-साधना में व्यतीत करूँ।

ऐसे विरक्त आत्म-अनुभवी पुरुष को जब घरबार को सम्भालने वाले समर्थ पुत्र आदि का अवसर मिल जाता है तब वह अपने पुत्र स्त्री आदि को अपना घर परिवार का भार सौंपकर घर से अलग हो जाता है। घरके साथ ही ससार के समस्त परिग्रह से अन्तरग बहिरग सम्बन्ध त्याग कर किसी गुरु से जा कर साधु दीक्षा ग्रहण करता है, अपने शरीर के समस्त वस्त्र भी उतार कर आजन्म नग्न रहने की प्रतिज्ञा करके पांच महाव्रत आचरण करता है। शौच आदि के लिये जल रखने को लकड़ी या नारियल का एक कमण्डलु, चींटी आदि जीव जन्तुओं को बैठने सोने आदि के स्थान से दूर करने के लिये मोर के पंखों की बनी हुई एक पीछी तथा ज्ञानाभ्यास के लिये शास्त्र, ये तीन पदार्थ अपने पास रखते हैं, इन के सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ उनके पास नहीं होता। सदा पैदल विहार करते हैं, शिर, दाढ़ी, मूछों के बाल बड़े हो जाने पर दो तीन या चार मास पीछे अपने हाथ से उनका लोच कर डालते हैं। उनको जहाँ जिस गृहस्थ के घर शुद्ध भोजन विधि अनुसार मिल जाता है वहाँ भोजन कर लेते हैं। शुद्ध भूमि पर ही सो जाते हैं। भोजन करने तथा सोने के सिवाय शेष सारा समय आत्म ध्यान, स्वाध्याय, शास्त्रचर्चा या उपदेश में लगाते हैं इस के सिवाय और कोई कार्य नहीं करते। इस तरह वे अधिकतर आत्म-साधना

करते हैं, इस कारण उसे साधु कहते हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में साधु परमेष्ठी का स्वरूप यों लिखा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥

अर्थात्—जो इन्द्रियों की विषय वासनाओं से अलिप्त हो, खेती, व्यापार, उद्योग तथा भोजनादि के आरम्भ कार्यों से अलग रहता हो, किसी भी प्रकार का रंच मात्र भी परिग्रह जिसके पास न हो। ज्ञानाभ्यास करने में तथा आत्मध्यान में लगा रहता हो ऐसा तपस्वी साधु प्रशंसनीय है।

५ महाव्रत ५ समिति, ५ इन्द्रियविजय, ६ आवश्यक तथा नग्नता, भूमि शयन, स्नान त्याग आदि ७ यम इस तरह २८ मूलगुण साधु परमेष्ठी के होते हैं।

इन्हीं २८ मूल गुणों के आचरण करने वाले साधुओं को जो सब से अधिक विद्वान् होते हैं अन्य साधुओं को सिद्धान्त, न्याय, आचार, व्याकरण आदि विषयों का ज्ञानाभ्यास करने की योग्यता रखते हैं ऐसे विद्वान् साधु को उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। २८ मूल गुणों का आचरण करते हुए मुनियों को पढ़ाना इनका विशेष कार्य होता है। अतः ११ अंग, १४ पूर्वका ज्ञान होना ये २५ गुण २८ मूल गुणों के सिवाय और बतलाये गये हैं।

कुलपति (सुपरिन्टेन्डेन्ट) के समान जो मुनि संघ में प्रधान होते हैं, जिनसे कि मुनि दीक्षा ग्रहण की जाती है, जो संघ के साधुओं को किसी चारित्र-संबंधी त्रुटि का प्रायश्चित्त देते हैं, समस्त साधु जिन की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हैं, वे आचार्य होते हैं। २८ मूल गुण पालन करते हुए १२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक, ३ गुप्ति इन ३६ गुणों का और विशेष आचरण आचार्य किया करते हैं।

महाव्रती मुनि जिस समय आत्मध्यान में तन्मय होकर सातवें गुणस्थान में पहुंच जाते हैं, उस समय जिस मुनि के परिणाम और अधिक विशुद्ध होते हैं उस मुनि के शुक्लध्यान प्रारम्भ होते ही आठ-वां गुणस्थान प्रारम्भ हो जाता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन ७ प्रकृतियों के सिवाय शेष चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियो को क्षय करने के लिये जो मुनि क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ करता है, वह उन प्रकृतियों का क्षय करता हुआ नौवें गुण स्थान में स्थूल सज्वलन लोभ के सिवाय शेष सब २० प्रकृतियों का क्षय कर देता है। दशवे गुणस्थान में उस लोभांश को और भी सूक्ष्म करके, १२वें गुणस्थान में उसका समूल नाश कर देता है, इस गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय कर्म का नाश करके १३वें गुणस्थान में पहुंच जाता है। इतना बड़ा भारी कार्य केवल पहले दो शुक्ल ध्यानों के द्वारा अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है।

१३वें गुणस्थान में पहुँचने पर अर्हन्त परमात्मा का पद प्राप्त हो जाता है। ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म नष्ट हो जाने से वे पूर्ण त्रिकाल त्रिलोक के ज्ञाता, पूर्णज्ञाताद्रष्टा, मोहनीय कर्म न रहने से पूर्ण सुखी और अन्तराय कर्म का क्षय हो जाने से उन्हें अनंत बल प्राप्त हो जाता है। इस तरह अनन्तचतुष्टय धारक अर्हन्त भगवान् वचन योग के कारण निरीह भाव से धर्म उपदेश देकर धर्म प्रचार करते हैं। तीर्थंकरों के उपदेश के लिये समवशरण नामक विशाल तथा सुन्दर सभा मण्डप देवों द्वारा बनाया जाता है।

अर्हन्त परमात्मा जब योग निरोध करके १४ वें गुणस्थान में पहुँचते हैं तब अ इ उ ऋ लृ इन लघु अक्षरों के उच्चारण योग्य थोड़े से समय में शेष वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र इन चार अघाति कर्मों का नाश करके द्रव्यकर्म, भावकर्म नो कर्मों से रहित होकर अशरीर निष्कलंक शुद्ध आत्मारूप होकर अंतिम शरीर आकार से कुछ कम मनुष्याकार में स्थिर होकर स्वयं लोक के सर्वोच्च स्थान में जाकर ठहर जाते हैं। वे सिद्ध परमेष्ठी हैं।

इस ससार में आध्यात्मिक गुणों के विकास के कारण ये ५ परमेष्ठी ही समस्त जगतवर्ती जीवों में श्रेष्ठ होते हैं, इसी कारण इनका नाम परमेष्ठी है। णमोकार मन्त्र में किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न करके इन्हीं ५ परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। प्रत्येक आत्मशुद्धि इच्छुक स्त्री पुरुष को अपने सामने इन्हीं पांच परमेष्ठियों का आदर्श रखकर धर्म आराधना में तत्पर रहना चाहिये।

प्रवचन नं० ६८

स्थान—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली

तिथि—
प्रथम भाद्रपद कृष्णा ६ शुक्रवार, १२ अगस्त १६५५

त्याग की परिपाटी

संसार में जीवों की प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की पाई जाती हैं—१ ग्रहण रूप, २. त्याग रूप। प्राणियों को जो चीजें अनिष्ट प्रतीत होती हैं उनको वे स्वय छोड़ देते हैं उन वस्तुओं के सम्पर्क से दूर रहना चाहते हैं। और जो वस्तु उन्हे प्रिय इष्ट प्रतीत होती हैं उन्हें वे प्रत्येक ढग से ग्रहण करने का प्रयत्न किया करते हैं। यह प्रवृत्ति मनुष्यों, पशु-पक्षियों यहाँ तक कि छोटे-छोटे से कीडे मकोड़ों में भी पाई जाती है।

यह बात दूसरी है कि कोई पदार्थ किसी को प्रिय मालूम होता है और इस कारण वह उसको पाने के लिये सब सम्भव यत्न करता है। किन्तु वही पदार्थ अन्य प्राणी को अप्रिय प्रतीत होता है अत: वह उससे दूर रहने का प्रयत्न करता है।

सूर्य का प्रकाश प्राय: सब जीवों को अच्छा लगता है, अत: रात्रि के विश्राम के बाद सब कोई सूर्य उदय को चाहते हैं परन्तु चमगादर, उल्लू, शेर, चीता, बाज, चोर आदि को अन्धकार अच्छा लगता है, अत: सूर्य उदय होते ही उनकी हरकतें बन्द हो जाती हैं। चकवा चकवी आदि जीवों को रात्रि अप्रिय प्रतीत होती है। मांसभक्षी पशु-पक्षियों को मांस प्रिय लगता है अत: वे मांस पाने की चेष्टा में लगे रहते हैं किन्तु हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, कबूतर, तोता आदि को मांस से घृणा है, अत: वे उसकी ओर देखते भी नहीं, उन्हे पत्ते, घास, दाना, अन्न, फल आदि निरामिष भोजन प्रिय लगता है अत: उनकी उन पदार्थों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है।

मनुष्य टट्टी से घृणा करता है परन्तु सूअर के लिये वह स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ है। नीम के

पत्ते मनुष्य, गाय, बैल, घोड़े को कड़वे प्रतीत होते हैं अतः नीम के पत्ते खाने के लिये उनमें प्रवृत्ति नहीं पाई जाती, परन्तु बकरी और ऊट को वे ही नीम के पत्ते स्वादिष्ट लगते हैं अतः वे उनकी ओर स्वयं दौड़ते हैं। इसी तरह संसार के अन्य पदार्थों की ओर विभिन्न जीवों में त्याग और ग्रहण की प्रवृत्ति पाई जाती है।

अपने प्रिय इष्ट पदार्थों को ग्रहण करने के लिये प्रत्येक जन्तु पूरी चेष्टा करता है और बहुत से जीव तो इसी चेष्टा में अपने प्राण तक न्योछावर कर देते हैं, किन्तु पदार्थों का त्याग करते समय ऐसी कठिनाई का सामना करना नहीं पड़ता। एक मनुष्य धन संचय करने में जितना भारी परिश्रम करता है, महान् कष्टों से टक्कर लेता है उतना कष्ट और परिश्रम धन को छोड़ते समय नहीं उठाना पड़ता। इसके सिवाय पदार्थों के ग्रहण से भी अधिक कष्ट उस पदार्थ की सुरक्षामें उठाना पड़ता है। एक धनिक व्यक्ति को देखिये अपने धन की रक्षा के लिये वह तलघर (तहखाना) बनवाता है, उसमें लोहे की मजबूत तिजोरी रखता है तिजोरी में अपना धन रखकर उस पर अनेक ताले लगाता है, तलघर का द्वार जहां तक हो सकता है बहुत गुप्त रखता है। फिर उस तलघर को, तलघर वाले कोठे का ताला लगाता है, बाहर के द्वार, किवाड़, सांकल, ताला मजबूत लगाता है, जागरुक बलवान् सशस्त्र पहरेदारों का रात दिन पहरा लगाया जाता है। इतने प्रबन्ध कर लेने पर भी रात को निश्चिन्त हो कर नींद नहीं लेता, चूहा यदि कोई बर्तन खटका दे तो चोर के भय से झट जाग उठता है।

किसान का जब खेत कुछ तैयार हो जाता है तब से ही उसकी रक्षा का प्रबन्ध उसे रात दिन करना पड़ता है, पशुओं तथा पक्षियों की कड़ी निगरानी करता है, खेत पक जाने पर जहाँ एक ओर अपने परिश्रम को सफल होते देख आनन्द होता है वहीं उसकी सुरक्षा की चिन्ता और भी अधिक बढ़ जाती है। खेत अन्य मनुष्यों द्वारा काट लेने का, जला देने का, अन्य पशुओं द्वारा बिगाड़ देने का, पानी बरसने आदि सैंकड़ों भय और आशंकाए रात दिन उसे लगी रहती है, उसके प्राण अपने खेत और खलिहान में पडे रहते हैं। इसके लिये उसे कभी कभी दूसरे लोगों के साथ महान् युद्ध भी करना पड़ता है जिस से कभी कभी खेत का स्वामी भी अपनी जान से हाथ धो बैठता है।

इसी प्रकार व्यापारी, कारखानेदार, मिल मालिक, ठेकेदार आदि संग्रह करने वाले दूसरे लोगों को भी अपने पदार्थों की, परिग्रह की रक्षा करने के विषय में चिन्ता, व्याकुलता, मानसिक, शारीरिक कष्ट उठाने पड़ते हैं।

जिस व्यक्ति के पास अधिक संग्रह, परिग्रह नहीं होता, वह इतना चिन्ताकुल नहीं होता, रात दिन निश्चिन्त रहता है। मजदूर लोग दिन में बहुत परिश्रम करते हैं रात्रि को निश्चिन्त हो कर गहरी नींद लेते हैं, अतः उनका जैसा शारीरिक स्वास्थ्य होता है वैसा किसी संचयशील धनिक या कारखानेदार, मिल मालिक का नहीं होता।

इसके सिवाय एक बात और भी है कि पदार्थों के सग्रह करने तथा उनकी रक्षा करने में महान् यत्न करने पर भी अग्नि, चोर, पानी आदि उपद्रवों से संचित परिग्रह दुर्भाग्य से नष्ट भी हो जाता है। जिस समय मानसिंह, देवसिंह, लाखनसिंह आदि कोई दुर्दान्त भयानक डाकू छाती पर पिस्तौल तानकर

सारा सुरक्षित धन सौंप देने के लिये ललकारता है उस समय धनिक सेठ, जमींदार, ठेकेदार, कारखानेदार के मन में यह भावना गूज उठती है कि 'मैं इतना धनिक न होता तो अच्छा था।'

परिग्रह संचय करने की तरह मनुष्य में खाने पीने की लालसा भी बहुत बेचैनी उत्पन्न करती है, जिह्वा की लोलुपता से यह मनुष्य संसार के सभी पदार्थ खा जाना चाहता है। खाते समय अपने विवेक की मात्रा कम कर देता है इसी कारण भक्ष्य अभक्ष्य का विचार न करके सब तरह की स्वादिष्ट वस्तुओं से अपना उदर भर लेना अपना कर्तव्य समझ बैठता है। मास जैसा घृणित पदार्थ-जिस की उत्पत्ति त्रसजीवों की हिंसा से होती है जिस में सदा त्रसजीव उत्पन्न होते रहते है-भी अपनी प्रकृति के अनुकूल न होते हुए भी मनुष्य खा जाता है। अंडा खाने में भी सकोच नहीं करता। शराब-जैसा निषिद्ध, निंद्य. पेय पीने में भी वह नहीं हिचकता। शराब के नशे में जो उसको दुर्गति होती है उसका शराबी को खयाल नहीं होता, न वह इस दुर्व्यसन में अपने अनाप शनाप द्रव्य के नाश की ओर कुछ देखता है।

यदि अपनी जीभ पर नियन्त्रण करके मनुष्य इन पदार्थों का खाना पीना त्याग दे तो उसकी बुद्धि, विचार शक्ति तथा मस्तिष्क ठीक रहे, शरीर का स्वास्थ्य अच्छा बना रहे तथा धन का नाश न हो और अन्य असख्य जीवों की भी रक्षा होती रहे।

इस का परिणाम यह निकलता है कि सांसारिक पदार्थों के ग्रहण करने में उतना सुख नहीं है जितना कि उनके त्याग में सुख है। पूर्व समय में बड़े बड़े राजा महाराजा चक्रवर्ती अपनी राज सम्पत्ति छोड़कर नग्न साधु बन जाया करते थे-इसमें भी मूल कारण यही है कि उनको ग्रहण, परिग्रह सचय की अपेक्षा त्याग में बहुत आनन्द आता था। आज भी वही बात है अनेक व्यक्तियों को धन परिवार में निराकुल शान्ति प्राप्त नहीं होती है। जब वे अपने परिवार तथा धन सम्पत्ति का परित्याग करके साधु बन जाते हैं और शारीरिक अनेक कष्टों को स्वेच्छा से स्वीकार करके एकान्त में रात दिन आत्मसाधना करते हैं। तभी वे शाश्वत सुख के स्वामी बन जाते हैं।

परन्तु त्याग करने कराने का उद्देश्य तथा रीति ठीक होनी चाहिये। आत्मा को सुख, शान्ति तथा शुद्धि जिस पदार्थ के त्याग से सम्भव हो, उस पदार्थ का त्याग करना चाहिये। जिस पदार्थ से आत्मा का उत्थान न हो उसका त्याग करना चाहिये, इस कारण शराब पीने का त्याग करना लाभदायक है, किन्तु स्वस्थ मनुष्य को शुद्ध दूध या जल पीने का त्याग करना उचित नहीं है। इसी तरह त्याग करने का ढग भी अच्छा सरल होना चाहिये और अपने अन्तरग की प्रेरणा से होना चाहिये। बलपूर्वक अनिच्छा से कराया हुआ त्याग प्रायः स्थायी नहीं रहता।

एक सेठ के पुत्र को शराब पीने की आदत पड गई थी। उसके पिता ने उसे बहुत समझाया अन्य दूसरे मनुष्यों ने उसे बहुत समझाया बुझाया परन्तु शराब पीना वह न छोड़ सका। शराब रात दिन पीते-पीते उसका स्वास्थ्य भी गिरने लगा। व्यापार धन्धे में भी वह पूरा योग न दे सकता था इस कारण सेठ का काम भी ढीला हो गया, उधर शराब का अनाप शनाप खर्च बढ़ गया इस कारण धन का तथा तन का दोनों का नाश होने लगा। सेठ बहुत दुःखी हुआ, रात दिन उसको युवा पुत्र की तथा धन हानि की चिंता सताने लगी।

एक दिन एक अनुभवी साधु ने सेठ को एक उपाय बतलाया। तदनुसार वह शराब की दुकान

पर गया और उस दुकान के मालिक से कहा कि मैं ५०) रुपये प्रति दिन भेजता रहूँगा तू इतना काम कर कि जब मेरा पुत्र तेरे पास शराब लेने आवे तो उससे कह देना कि एक बढ़िया नई शराब आई है, वह मैंने तुम्हारे घर भेज दी है, तुम वहीं पर पी लेना, रकम दुकान से ले लूंगा।

उधर सेठ ने शराब की एक खाली बोतल मंगाकर उसमे अच्छा स्वादिष्ट फलों का रस भर दिया तथा उसमे कुछ ऐसा रंग डाल दिया जिससे उसका रंग शराब जैसा हो गया।

सेठ का पुत्र घर पर आया, उसने अपने पिता को शराब के विषय मे पूछा, सेठ ने फ़लों के रस वाली उस बोतल को अच्छी तरह सुन्दर पैकिंग करा रक्खा था, अपने पुत्र को दे दी। सेठ का लड़का बोतल की ऊपरी सुन्दर सजावट देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। पैकिंग देखकर उसने समझ लिया कि अवश्य ही इस बोतल में बढ़िया शराब होगी। बोतल का लेबिल पढ़कर उसको निश्चय हो गया कि बोतल में विलायत की बनी हुई शराब ही है। तब उसने बड़ी प्रसन्नता के साथ बोतल को खोला और बोतल में से एक प्याला रस उंडेल कर ओठों से लगाया। रस बहुत स्वादिष्ट था तथा उसका रग शराब के समान था इस कारण उसको विश्वास हो गया कि यह शराब उन शराबों से बहुत अच्छी है जिन्हें मै पहले पिया करता था। उसने वह बोतल उत्कट इच्छा-लालसा के साथ समाप्त कर दी।

शाम को उसने पिता को कहा कि ऐसी ही बोतल आप मेरे लिये प्रति दिन घर मगवाते रहिये, मैं शराब की दुकान पर न जाऊँगा। उसके पिता ने कहा बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा। तुम यदि घर ही पी लिया करो तो मेरी और तुम्हारी बदनामी भविष्य में न होगी क्योंकि घर पर शराब पीने की बात किसी को मालूम न हो सकेगी और अब कोई न कह सकेगा कि सेठ का पुत्र शराबी है।

सेठ प्रतिदिन घर पर शराब की बोतल में वैसा अच्छा स्वादिष्ट रस भर कर अच्छा सुन्दर पैकिंग करके अपने पुत्र को देता रहा और वह उसे शराब समझकर बड़ी रुचि के साथ पीता रहा। ऐसा करने से उसका स्वास्थ्य सुधरता गया। बदहोश न रहने के कारण काम काज में भी योग देने लगा परिणाम यह हुआ कि इस सुन्दर उपाय से उसकी शराब पीने की आदत छूट गई।

यदि किसी मनुष्य को किसी दुर्व्यसन से छुड़ाना हो तो ऐसा ही बुद्धिमानी का कोई उपाय करना चाहिये।

कभी कभी थोड़ा सा त्याग भी बहुत भारी लाभदायक सिद्ध होता है।

एक बन में रहने वाला भील प्रतिदिन जगली जानवरों को धनुषबाण से मारकर शिकार किया करता था, और शिकार के द्वारा ही अपना तथा अपने परिवार का पालन-पोषण करता था। एक दिन उसको उस वन में अपने शिकार की खोज करते हुए एक मुनि महाराज मिल गये। मुनि महाराज ने भील को अपने पास बुलाकर उसे उपदेश दिया।

मनुष्य जन्म का महत्त्व बतलाकर इस देह से अच्छे कार्य करने की प्रेरणा की। भील के हृदय पर मुनि महाराज के उपदेश का प्रभाव तो हुआ, परन्तु वह नम्रता के साथ बोला कि महाराज इस जंगल में मैं क्या अच्छा काम करूं? मुनिराज ने कहा कि तू मांस खाना त्याग दे। भील ने उत्तर दिया कि यहाँ

मास के बिना मेरा निर्वाह नहीं हो सकता। तब मुनिवर ने भील से कहा कि अच्छा, किसी पशु पक्षी का तो मांस खाना छोड दे।

तब भील ने सोचकर कहा कि अच्छा महाराज! मैं कौए का मांस न खाया करूँगा। मुनिवर ने उसके इस छोटे से त्याग पर भी आशीर्वाद दिया और कहा कि अपनी इस प्रतिज्ञा को तोड़ना नहीं। भील ने स्वीकार किया और अपने घर चला गया।

एक बार वह बहुत बीमार हो गया। एक अनुभवी वैद्य को उसके घर वालों ने उसे दिखाया। वैद्य ने उसके रोग की जांच करके कहा कि इसका रोग कौए का मांस खाने से अच्छा हो सकता है। भील ने कहा कि कौए का मांस मैंने त्याग दिया है, उसे न खाऊँगा। वैद्य ने कहा कि इस रोग की और कोई औषधि नहीं है। भील ने अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहकर कौए का मांस न खाया। रोग बढ़ता गया किन्तु भील को मन में दु:ख न था, अपने व्रत पालने का उसे सन्तोष था। इसी शान्ति के साथ मरकर उसने देवगति प्राप्त की।

~~~~~~~

प्रवचन नं० ६९

स्थान:—	तिथि:—
श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर, दिल्ली।	प्रथम भाद्रपद कृष्णा १० शनिवार, १३ अगस्त १९५५

धर्म की महिमा

तोता तथा मैना यदि अपनी ही भाषा बोलते रहते तो सदा स्वतंत्र रहते, मनुष्य उनको पकड़कर लोहे के पिंजड़े में कभी न बन्द करते, वे अन्य पक्षियों के समान स्वतन्त्रता पूर्वक सर्वत्र उड़ते घूमते रहते यथेच्छ फलों का स्वाद लेते रहते, अपने समाज के पक्षियों के साथ मनमानी क्रीड़ा करते रहते और चहका करते। उन्होंने जब मनुष्य की मधुर वाणी में बोलना प्रारम्भ किया तो मनुष्य ने उनको पकडकर अपने मनोविनोद के लिये लोहे के पिंजड़े में ऐसा कैद कर दिया जैसे कि अन्य किसी वस्तु चुराने वाले चोर को बंदीघर-मजबूत दीवालों के भीतर बंद कर दिया जाता है। धन का चोर कुछ समय पीछे जेल से छोड दिया जाता है परन्तु तोता मैना तो मनुष्य की भाषा चुराने के अपराध में जन्म भर पिंजड़े में बन्द रहते हैं। यदि वे पिंजड़े में आकर भी अपनी मधुर वाणी से मनुष्य की वाणी का अनुकरण न करें तो उनकी उस पिंजड़े से मुक्ति फिर भी हो सकती है, परन्तु खेद है कि जिस भूल के कारण उनको लोहे के पिंजड़े में बन्द किया गया, वही भूल तो पिंजड़े में बन्दी बनकर भी किया करते हैं। इस भूल-गलती या अपराध का दण्ड भी उन्हे जन्म भर भोगना पड़ता है।

संसारी जीव इस संसार की जेल में भी जन्म जन्मान्तरों में इसी कारण पडा हुआ परतन्त्रता में अपना समय काट रहा है कि यह अपनी सर्वसुख शान्तिदायिनी आत्मनिधि को भूल गया है और अन्य पुद्गल द्रव्य पदार्थों—शरीर, धन, मकान, वस्त्र भूषण आदि को अपना मान बैठा है इस गलती को निरन्तर करता ही चला जा रहा है, इसी कारण संसार जेल में इसके रहने की अवधि भी निरन्तर बढ़ती चली
~~~~~~~

जा रही है। जैसे कोई पुरुष अपनी सुशील सुन्दर स्त्री को अपमानित करके यदि अन्य मनुष्य की स्त्री से रमण करता है तो उसे उस अपराध का दण्ड भोगना पड़ता है, यही बात परद्रव्य अपनाने के कारण संसारी जीव की हो रही है।

यह जीव यदि पर पदार्थों का मोह छोड़ कर कुछ समय भी आत्मरस का थोड़ा भी अनुभव करले तो उसको इतना अच्छा इतना बड़ा सुख और शान्ति प्राप्त हो कि यह चक्रवर्ती और इन्द्रों के भोग सुख को भी हेय अनुभव करने लगे।

न सुखं देवराजस्य, न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत्सुखं वीतरागस्य, मुनेरेकान्तवासिनः॥

यानी—जो सुख देवों के राजा इन्द्र को स्वर्ग में नहीं मिल पाता और चक्रवर्ती भी उस अनुपम स्वाधीन सुख से वंचित रहता है, जो सुख कि एकान्त में निवास करने वाले संसार के सभी पर-पदार्थों से राग भाव त्याग कर आत्म निमग्न रहने वाले वीतराग मुनि को प्राप्त होता है।

संसार का मूर्ख प्राणी मूर्खता-वश आकुलतामय विषय भोगों के दुःखरूप क्षणिक वैषयिक अनुभव को सुख समझकर अनुमान लगाता है कि ये नग्न निष्किंचन मुनिराज दुःखी होंगे, वह इतना विचार नहीं करता कि यदि मुनिपद में दुःख होता तो भगवान् ऋषभनाथ, भरत चक्रवर्ती, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, भगवान् महावीर, सम्राट् चन्द्रगुप्त अपना विशाल राजसुख त्यागकर नग्न निष्किंचन मुनिपद क्यों स्वीकार करते।

तिलतेलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतंक्वापि।
अविदित परमानन्दो वदति विषय एव रमणीयः॥

अर्थात्—जिस मनुष्य को सदा तिल का तेल ही मिलता रहा है, कभी घी देखने के लिये भी नहीं मिला, उसके लिये तो वह तिलों का तेल ही मीठा होता है। इसी तरह जिस मनुष्य को कभी अपने आत्मा के परम आनन्द का अनुभव नहीं हुआ उस बेचारे के लियेतो ये विषय भोग ही क्षणिक तृप्ति देने के कारण आनन्दमय प्रतीत होते हैं।

अत स्वाधीन आत्मा के परम आनन्द का स्वाद पाने के लिये मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं मे सम्पर्क हटाकर यथाशक्ति त्यागवृत्ति में प्रवृत्ति करनी चाहिये। जो मनुष्य गृहस्थ आश्रम त्यागकर मुनि नहीं बन सकते वे यदि घर में रहकर भी अणुव्रतों का आचरण करें तो उस अल्प आचरण के कारण भी जहाँ अपने आत्मा का कर्मभार हलका कर सकते हैं अपना परभव सुधार सकते हैं, वहां इस वर्तमान भव में भी अपने आपको प्रामाणिक और आदरणीय बना सकते हैं। १७ वीं शताब्दी के प्रख्यात जैन विद्वान् कवि पं० बनारसीदास जी अच्छे धार्मिक व्यक्ति थे. बादशाह शाहजहाँ से भी उनकी मित्रता थी, वे बादशाह के साथ शतरंज खेला करते थे। परन्तु बादशाह का मित्र बनकर भी उन्होंने न तो कभी उमसे अपने लिये धन सम्पति की याचना की; न कभी अपने लिये कोई विशेष अधिकार माँगा तथा

न कभी किसी व्यक्ति को सताने का आयोजन किया, अपितु इसके विरुद्ध अपना दयालु भाव ही प्रगट किया।

एक बार सड़क के किनारे पेशाब करने के कारण पुलिस के सिपाही ने उन के गाल पर एक थप्पड़ मारा, तो पं० बनारसीदास जी यह कहते हुए उसका हाथ दबाने लगे कि मेरे कठोर गाल पर लगने पर आप के कोमल हाथ को चोट आ गई होगी। एक दिन संयोग से उसी सिपाही ने पं० बनारसीदासजी को बादशाह के साथ मित्र भाव से मिलते देखा तो वह भयभीत होकर काँपने लगा कि इस आदमी को मैंने थप्पड़ मारा था अतः मुझको यह बादशाह से कड़ी सजा दिलवायेगा। प० बनारसीदास जी उसका भाव ताड़ गये, उन्होंने तुरन्त बादशाह से अनुरोध किया कि यह सिपाही अपना कार्य बहुत सावधानी और योग्यता के साथ करता है अतः आप इसकी तनख्वाह (वेतन) बढ़ादें। पं० बनारसीदास जी की यह सज्जनता देखकर वह सिपाही लज्जा से पानी २ हो गया। और हृदय से पं० बनारसी दास जी का भक्त बन गया। ऐसे ही शुभ कार्यों के कारण पं० बनारसीदास जी आगरा में उस समय धर्मात्मा के रूप से जनता में अच्छे प्रसिद्ध थे।

प० बनारसीदास जी से एक बार काली मिर्चों का व्यापार करने के लिये बहुत सी काली मिर्चे खरीद लीं, अतः उनके घर में काली मिर्चों का ढेर लगा हुआ था। एक दिन नौ चोर उनके घर में चोरी करने के लिए रात के समय घुस आये। उन्होंने काली मिर्चें अपनी अपनी चादर में भरकर गठरियां बांध लीं और एक दूसरे को हाथ का सहारा देकर उठाकर उसके सिर पर रख दीं। अन्त में एक चोर रह गया उसने बहुत जोर लगाया परन्तु वह उस भारी गठरी को अपने सिर पर अपने आप न रख सका। पं० बनारसीदास जी वहीं पर खाट के ऊपर लेटे हुए थे, उस समय वे जाग रहे थे, वे चुपचाप उठे और उन्होंने उस चोर को सहारा देकर गठरी उसके सिर पर रख दी। चोर काली मिर्चों की गठरी लेकर चला गया।

जब सब चोर एकत्र हुए तो परस्पर पूछने लगे कि तुम को गठरी किसने उठाकर सिर पर रक्खी थी? आपस में पूछते बताते उस चोर से भी पूछा गया था कि तुझे गठरी किस ने उठवाई थी? उसने उत्तर दिया कि 'वहां खाट पर एक आदमी लेटा हुआ था, उसने गठरी मेरे सिर पर रखवा दी थी।' उसका उत्तर सुनकर सब को बहुत आश्चर्य हुआ कि वह ऐसा कौन व्यक्ति था जो अपने ही माल को उठाकर चोर को दे देवे? विचार करते करते उनको प० बनारसीदास जी का खयाल आया कि ऐसे उदारधर्मात्मा तो आगरे में प० बनारसी दास ही हो सकते हैं। यदि यह माल यथार्थ में उनका ही है तो इसे वापिस लौटाना पड़ेगा क्योंकि ऐसे धर्मात्मा की चोरी लाभदायक न होगी। यह निर्णय करके उन चोरों ने दिन होने पर उस घर का पता लगाया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उन्होंने सचमुच में पं० बनारसी-दास जी की चोरी की है।

तब वे चोर उन गठरियों को अपने सिर पर रखकर पं० बनारसी दास जी के घर पर माल वापिस करने पहुंचे। प० बनारसीदास जी के घर पहुँचकर उन्होंने पंडित जी के सामने वे गठरियाँ रख दीं और चोरी करने के अपराध की क्षमा मांगी, कहा कि हमको पता न था कि यह माल आप का है।

पं० बनारसीदास जी ने मीठी वाणी में चोरों से कहा कि इन काली मिर्चों को मैं जन्म समय अपने साथ नहीं लाया था और न मरते समय साथ ले जाऊंगा, यहां की यह चीज है सो यहां रह जावेगी। व्यापार के लिये खरीदी थीं सो मुझ से भी अधिक इनकी आवश्यकता तुम लोगों को थी, अतः तुम लोग इन्हे ले गये मेरे लिये इससे अच्छा व्यापार और क्या होगा ? इसलिये मै इन्हे वापिस नहीं लेता।

चोरों ने पंडित जी की प्रशंसा करते हुए माल लौटाने का आग्रह किया तब पंडित जी बोले कि यदि तुम लोग चोरी करना छोड़ दो तो मैं इसे वापिस ले सकता हूँ। इसे लौटा कर तुम यदि फिर भी चोरी करते रहो तो उस से अच्छा तो यही है कि इसी माल को ले जाओ।

चोरों ने पं० बनारसीदास जी से चोरी न करने की प्रतिज्ञा की तब पंडित जी ने चोरों से अपना माल वापिस लिया और उनको भोजन कराकर अपने घर से बिदा किया।

इस तरह पं० बनारसीदास जी ने अपनी धार्मिकता से उन चोरो को भी पाप से सहज में छुड़ा दिया। परिश्रमी, धर्मात्मा बना दिया। धर्म जब अपने आचरण में आ जाता है तब अपनी वाणी में प्रभाव आता है यदि स्वय मनुष्य का आचरण ठीक न हो तो वह चाहे जितना जोरदार भाषण दे, चाहे जितना अभिनय करे किन्तु उसका प्रभाव श्रोता के हृदय पर कुछ नहीं पड़ता। मनुष्य के जीवन में जब धर्म का तेज आता है तप त्याग की छटा चमकती है तब उसके सीधे सादे थोड़े शब्द भी सुनने वाले के हृदय पर प्रभाव जमा कर अंकित हो जाते हैं। इस कारण दूसरों को धर्म उपदेश देने वाले उपदेशक, धर्म प्रचारकों, वक्ताओं को अन्य को उपदेश देने से पहले स्वय उतना धर्म आचरण कर लेना चाहिये।

लोगों ने धर्म देवमंदिर की वस्तु समझ रक्खा है कि मन्दिर में गये तो दर्शन पूजन स्वाध्याय सामायिक आदि धर्म कर आये, घर पर आकर या बाजार में पहुंचकर धर्म की आवश्यकता नहीं है, वहां तो लोक व्यवहार के अनुसार चलना चाहिये। यदि व्यापार धन्धे में भी धर्म से काम लिया जावे तो व्यापार धन्धा चौपट हो जायगा। उनकी यह मान्यता गलत है, क्योंकि मंदिर तो वास्तव में धर्म की शिक्षा लेने की पाठशाला है, वहां तो धर्म करने की विधि सीखी जाती है, उस सीखे हुए धर्म का प्रयोग तो मन्दिर के बाहर किया जाता है।

पाठशाला में विद्यार्थी गणित हिसाब लिखना पढ़ना सीखता है किन्तु उस शिक्षा का प्रयोग व्यापार काम धन्धे में किया करता है। उसी तरह मन्दिर में धर्म का पाठ पढ़ा जाता है कि 'व्रती संयमी साधुओं की विनय भक्ति से सेवा करो, दया भाव से दीन_दुखियों की सेवा करो, किसी की वस्तु बिना पूछे न उठाओ, असत्य मत बोलो, धोखा न दो, किसी के साथ विश्वासघात न करो, लेन-देन में बेईमानी न करो, अन्याय अनीति से धन उपार्जन न करो, अन्य स्त्रियों को बुरी दृष्टि से न देखो, अपने स्वार्थ के लिये दूसरे का नाश न करो, किसी भी जीव को सताने की बात मन में भी न लाओ।'

मन्दिर में पढ़े हुए इस धार्मिक पाठ का प्रयोग तो मन्दिर के बाहर ही हो सकता है क्योंकि मन्दिर में तो दूसरे को सताने, धोखे देने आदि के साधन नहीं होते। व्यापार जितना सत्यभाषण, नीति न्याय से अच्छा चलता है उतना झूठ बोलने, बेईमानी, अन्याय अनीति करने से नहीं चलता।

५०-६० वर्ष पहले अजमेर में अपने एक जैन भाई कपड़े का व्यापार करते थे, वे अपना माल प्रति रुपया पर दो आना मुनाफा (लाभ) लेकर बेचा करते थे। चाहे छोटा बच्चा आवे या बड़ा बूढ़ा समझदार बुद्धिमान् आदमी अथवा स्त्री कपड़ा लेने आवे, वे अपने निश्चित भाव पर ही बेचते थे। मूल्य में जरा भी कमी बेशी न करते थे। उनकी इस प्रवृत्ति के कारण उनका व्यापार अजमेर में अन्य सब दुकानदारों से अधिक अच्छा चलता था। जनता को उनकी प्रामाणिकता पर पूर्ण विश्वास था, अतः उनकी दुकान पर बिना कुछ भावताव ठहराये स्त्री पुरुष माल खरीद ले जाते थे।

वे प्रातःकाल मन्दिर जाकर दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सामायिक करके घर जाकर भोजन करते थे तदनन्तर निश्चित होकर ११ बजे अपनी दुकान खोलते थे। उस समय उनकी दुकान पर १५-२० ग्राहक बैठे होते थे। दुकान खोलते ही ग्राहकों का तांता ऐसा लग जाता था कि शाम को ४ बजे दुकान बन्द करने तक उनको क्षण भर भी विश्राम न मिलता था। शाम को अनेक ग्राहक दूसरे दिन के लिये लौटाने पड़ते थे।

बाजार में जो कपड़ा सस्ता भी बिकता होता तो भी ग्राहक वहां से न लेकर कुछ अधिक दाम देकर उनकी ही दुकान से खरीदते थे, क्योंकि उन्हे पूर्ण विश्वास था कि इस दुकान पर धोखा बेईमानी नहीं होती।

इस कारण व्यवहार व्यापार काम धन्धे में सफलता धर्म के कारण ही मिलती है।

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

अर्थात्—मनुष्य धर्म की रक्षा करे यानी उसका ठीक पालन करता है तो धर्म भी उसकी रक्षा करता है और यदि धर्म का नाश किया जावे तो धर्म भी उस मनुष्य का नाश कर देता है।

प्रवचन नं० ७०

स्थान—	तिथि—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कूचा सेठ, दिल्ली	प्रथम भाद्रपद कृष्णा ११ रविवार, १४ अगस्त १९५५

लौकिक-धर्म

किसी मनुष्य को यदि किसी गहरे कूए से पीने के लिये पानी निकालना होता है तो वह जलपात्र-लोटा को रस्सी में बांधकर कुएं में फास देता है, यदि वह रस्सी पानी तक नहीं पहुँच पाती तो उसमें अपना डुपट्टा और जोड़ देता है, डुपट्टा जोड़ देने पर भी पानी तक अपना लोटा पहुँचने में कुछ कमी रह जाती है तो स्वयं झुककर अपनी बांह भी कुएं में लटका देता है। यह सब कुछ करता है परन्तु उस रस्सी का किनारा अपने हाथ में दृढ़ता से दबाये रखता है, इसी के कारण वह अपने लोटे को गहरे कुए के पानी से भरकर उसी रस्सी को खींच पानी बाहर निकाल कर अपनी प्यास बुझा लेता है और अपना लोटा तथा रस्सी, डुपट्टा भी सुरक्षित रखता है। यदि कुएं से पानी भरते समय वह उस

रस्सी के किनारे को अपने हाथ से छोड़ दे तो फिर न उसके पास अपना लोटा आ सकता है, न रस्सी और न उसकी प्यास ही बुझ सकती है।

इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहने वाले धार्मिक व्यक्ति को दिन रात अनेक लौकिक कार्य करने पड़ते हैं। हजारों स्त्री पुरुषों, बच्चों बूढ़ों के सम्पर्क में आना पड़ता है, अनेक तरह के सज्जन दुर्जन प्रकृति के लोगों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है, विभिन्न सम्प्रदाय के, विभिन्न विचारों के तथा विभिन्न धर्मानुयायियों के सहयोग में कार्य करना पड़ता है, कार्य भी अनेक तरह के करने पड़ते हैं, कोई लेन देन का होता है, कोई व्यापार का होता है, कोई सामाजिक होता है, तो कोई राष्ट्रीय होता है, कोई लड़ने भिड़ने का भी काम आ जाता है, कोई झगड़े फिसाद दूर करने का होता है। दिन भर उन सब कार्यों को करते हुए, बीसों जगह आते जाते भी नियत समय पर अपने घर पहुँचना नहीं भूलता है जिससे कि वह जिस परिवार के लिये दुनिया भर की भाग दौड़ करता है उस परिवार की यथायोग्य देखभाल, सुरक्षा और पालन पोषण हो जाता है। यदि दिन भर की भाग दौड़ में अपना घर ही भूल जावे तो उस का परिश्रम व्यर्थ हो जाय।

इसी प्रकार धार्मिक व्यक्ति को अपने व्यवहार में आने वाले सभी कार्यों को करते रहना चाहिए क्योंकि उनके किये बिना भी निर्वाह नहीं होता है, अपने पड़ोसियों से, अपनी जाति से, अपने समाज से, अपने बाजार के अन्य व्यापारियों से, सरकारी कर्मचारियों से एवं अपने नगर के अन्य छोटे बड़े व्यक्तियो से सम्पर्क जोड़ना ही पड़ता है। उन सब से सम्पर्क स्थापित किये बिना मनुष्य अकेला अलग पड़ जाता है, उस दशा में वह अपना कोई कार्य सुविधा से नहीं कर सकता क्योंकि विभिन्न कार्यों को करने के लिये उन कार्यों से सम्बन्धित व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता होती ही है। इस के लिये हमारे धर्मचार्यों ने भी रुकावट नहीं डाली है, परन्तु उन्होंने एक मूल नियम हमारे लिये निर्धारित कर दिया है जिसको हृदय में रख कर यदि हम दुनियाँ भर के लोगों के सम्पर्क में आते रहें तो भी हमारी कोई आध्यात्मिक क्षति नहीं होने पाती, यदि हम अपने उस बतलाये गये मूल नियम की उपेक्षा या अवहेलना कर डालें तो हम अवश्य ही अपने आत्मा का महान अहित कर सकते हैं। वह मूल नियम श्री सोमदेव सूरि ने यह बतलाया है—

> सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
> यत्र सम्यक्त्व हानिर्न यत्र न व्रत दूषणम् ॥

अर्थात्—जैन लोगों के लिये वे सभी लौकिक विधि विधान, रीति रिवाज या कार्य करने योग्य हैं, जिनके करने में उनकी धार्मिक श्रद्धा को कोई क्षति न पहुँचे और उन के धर्माचरण-व्रत आदि यम नियमों में दोष न लगने पावे।

इन दो बातों को अक्षुण्ण (सुरक्षित) रखते हुए हमारे जैन गृहस्थ संसार के किसी भी कार्य में भाग ले सकते हैं। यदि उनको किसी भी कार्य से अपनी इन दोनों में से किसी भी बात में हानि होती प्रतीत हो तो उस कार्य को न करे।

जैसे कि कभी किसी कार्य को करने या किसी सभा समिति का समय सूर्यास्त के लगभग रक्खा गया हो तो या तो उस समय को आगे पीछे कराने का यत्न कराना चाहिये जिस से कि शाम के समय का भोजन अपने धार्मिक नियम के अनुसार दिन मे किया जा सके। यदि तुम्हारी बात न मानी जावे अथवा अनिवार्य कारणों से वह समय आगे पीछे न किया जा सके तो जहाँ तक हो सके उस कार्य में क्षमा मांग कर अपनी असमर्थता दिखलाकर भाग न ले, अथवा अनिवार्य रूप से भाग लेना ही पड़े तो उस दिन रात्रि में भोजन न करे। इस प्रकार दृढ़ता रखने से जहाँ अपने धर्माचरण के मूल नियम का घात न होगा, वहीं अन्य व्यक्तियों पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है। पहले कोर्ट आदि सरकारी दफ्तरों में जैनों के लिए शाम का भोजन दिन में करने का ध्यान रक्खा जाता था, आज भी वही बात है किन्तु हमारी शिथिल श्रद्धा और शिथिलाचार से उस में कमी आ गई है। बरातों में भोजन हमारे कुछ युवक रात्रि में करने लगे हैं इसका जनता पर प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता, अतः हम को अपना रात्रि भोजन न करने का नियम दृढ़ता से पालन करना चाहिये।

अभी समाचार पत्रों में प्रकाशित किया हुआ था कि एक जगह एक बरात के लिए भोजन रात में तैयार कराया गया और रात में ही बरात को जीमनवार दी गई, भोजन करने के बाद प्रायः सभी मनुष्य मूर्छित (बेहोश) हो गये, जिन में से बहुत से मर भी गये। दिन में जब भोजन सामग्री की जाच की गई तो साग में एक काला सर्प मिला जो कि साग मे ही पक गया था। रात को भोजन करने में ऐसी बहुत सी दुर्घटनाएँ हो जाती हैं। अतः जैन भाइयो को अपने इस अच्छे नियम में शिथिलता न करनी चाहिए।

इसी प्रकार जब कहीं भोजन पार्टी हो तो उस में पहले से यह मालूम कर लेना चाहिये कि इसमें शराब अण्डा, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थ तो नहीं रक्खे गये हैं, यदि ऐसे पदार्थों का आयोजन करने का अन्य लोग विचार कर रहे हों तो अपना प्रभाव डाल कर उस को रुकवा देना चाहिये, यदि अपना प्रयत्न सफल न हो सके तो ऐसी पार्टी में कभी भाग न लेना चाहिए, उन लोगों से स्पष्ट कह देना चाहिये, कि इन अभक्ष्य पदार्थों का हमने त्याग किया है, अतः हम ऐसी पार्टी मे सम्मिलित नहीं हो सकते। आपकी दृढ़ता देख कर आप से फिर कोई आग्रह न करेगा।

एक ओर शराब पीना सरकार बन्द करना चाहती है दूसरी ओर विदेशी अतिथियों के स्वागत-भोज में उस का प्रयोग किया जाता है। मद्य-मांस अण्डे वाली पार्टियो के आयोजन में किसी भी जैन को किसी भी तरह का सहयोग न देना चाहिये, न ऐसे कार्य के लिए अपना स्थान देना चाहिए। अपनी ओर से यदि किसी देशी या विदेशी अतिथि के स्वागत में पार्टी देनी आवश्यक प्रतीत हो तो वह पार्टी दिन के समय निरामिष (मास रहित) पदार्थों की होनी चाहिए। जिसमें शराब, अण्डा आदि पदार्थों का नाम भी न हो, पानी छना हुआ होना चाहिए।

जहां तक हो ऐसी पार्टियों या सामूहिक भोज से अथवा अपने जैनेतर मित्रों के साथ खान पान से, जो कि अशुद्ध पदार्थ खाने के अभ्यासी हैं, बचना चाहिए। यदि कारणवश ऐसा न हो सके तो उसमें अपने लिये शुद्ध निरामिष भोजन तथा छने हुए शुद्ध जल का विशेष आयोजन कर लेना चाहिए। ऐसा करने से जहाँ अपना धार्मिक नियम सुरक्षित रहता है, वहां जैन धर्म का गौरव भी दूसरों के हृदय पर पड़ता है।

विकारहेतौ सतिविक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

अर्थात्—अपने धर्माचरण से स्खलित होने का अवसर मिलने पर भी जो अपने नियम से स्खलित नहीं होते वे ही मनुष्य वीरवीर होते हैं। इस प्रकार घर के बाहर अपने शुद्ध खान पान के नियम पर दृढ़ता ही तो वीरता है, घर में तो शुद्ध खान पान मिल ही जाता है।

इसी तरह कभी त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा करने की जनता की ओर से अथवा सरकार की ओर से प्रेरणा मिले, जैसा कि कुछ दिन पहले टिड्डी मारने के लिये सरकार ने वहां सब लोगों के लिये, जहां कि टिड्डी आगई हों, नियम बना दिया था, तो उसमें अपना रंचमात्र भी सहयोग न देना चाहिये। इस के लिये चाहे आर्थिक दण्ड या शारीरिक दण्ड ही क्यों न भुगतना पड़े।

जैनधर्म के ऐसे पूर्ण यथार्थ सिद्धान्त है जिन में पूर्ण वैज्ञानिक तथ्य विद्यमान हैं किन्तु उन सिद्धान्तों को संसार के प्रायः सभी जैनेतर धर्म नहीं मानते हैं। उदाहरण के तौर पर इस के विषय में जैन सिद्धान्त यह बतलाता है कि जड़ चेतन, मूर्त अमूर्त, सूक्ष्म स्थूल, चर अचर अनंत पदार्थों का समुदाय रूप यह जगत् अनादिकाल से चला आ रहा है भूतकाल में कोई भी ऐसा समय नहीं था जब कि यह जगत् न हो, दृश्यमान सभी पदार्थ मूल रूप में सदा विद्यमान थे, यानी उनकी मूल उत्पत्ति किसी नियत समय पर नहीं हुई वे सब अकृत्रिम हैं। और न कभी इन पदार्थों के समुदाय रूप इस समस्त जगत् का विनाश होगा। पदार्थों की दशाए तो कारण वश बदलती रहती हैं जैसे जीव अपने उपार्जित कर्मवश कभी मनुष्य शरीर में आ जाता है, कभी पशु आदि योनियों में जा पहुंचता है, परन्तु जीव न तो कभी उत्पन्न होता है न कभी नष्ट होता है, इसी तरह पौद्‌गलिक (Mattrial) स्कन्ध तथा परमाणु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूप में होते रहते हैं, परन्तु मूल पुद्‌गल (Metter) द्रव्य का कभी नाश नहीं होता। यही सिद्धान्त विज्ञान सम्मत है।

इस विषय में अन्य धर्मों का सिद्धान्त यह है कि इस जगत् को परमात्मा ने किसी खास समय पर बनाया था। समस्त जीव, पृथ्वी, जल, आकाश आदि पहले कुछ भी न था, परमात्मा ने ही सब कुछ बना दिया। परमात्मा ही सब जीवों को मारता जिलाता, स्वर्ग नरक आदि भेजता है, उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता है। उसी परमात्मा की जब इच्छा होती है तब वह इस सारे जगत् का विनाश (प्रलय) कर डालता है।

तो अधिकतर जनता के कहने या समर्थन करने पर किसी भी जैन को अपनी श्रद्धा में शिथिलता न लानी चाहिये किन्तु निर्भय और निश्शंक होकर युक्ति के साथ उनकी बात या मान्यता असत्य सिद्ध कर के जैन सिद्धान्त का समर्थन करना चाहिए। यदि उस समय किसी बात का उत्तर न बने तो शान्ति से उन्हें कह देना चाहिये कि 'अपने विद्वानों से पूछ कर इस प्रश्न का उत्तर देंगे।' अपनी धार्मिक श्रद्धा को जनता का बहुमत देख कर ढिलमिल न करना चाहिये न दूसरों को प्रसन्न करने के लिये जैन सिद्धांत की किसी बात का उपहास सुनना चाहिये।

सर्वदास्त्रहितमाचरणीयं, किंकरिष्यति बहुजन जल्पः।
नास्ति नास्तिसति कश्चिदुपायः सर्वलोक परितोषकरोयः॥

अर्थात्—सदा अपनी श्रद्धा अनुकूल अपना हित आचरण करना चाहिये; जनता क्या कुछ तुम्हारे विषय में कहती है, इस पर ध्यान न दो। संसार में सब को प्रसन्न बनाये रखने वाला कोई भी उपाय नहीं है। सारांश यह है कि अपना हित देखो, जनता को प्रसन्न करने के लिये अपनी हितकारिणी श्रद्धा को मलिन मत करो।

जिस तरह अन्य धर्मों की निन्दा करना उचित नहीं, यदि वार्तालाप के प्रसग में किसी अन्य धर्म के किसी गलत सिद्धान्त के विरुद्ध बोलना पड़े तो बहुत मधुर शब्दों में युक्ति पूर्वक उस विषय पर डट कर बोलना चाहिये, किन्तु चुभने वाले निन्दाजनक आक्षेप करने वाले शब्द न होने चाहियें। उसी प्रकार यदि कोई अन्य व्यक्ति यदि जैनधर्म की निन्दा करता हो तो उसे शान्ति से समझाने तथा रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। उचित दीखे तो रोकने के लिये यथासंभव कम से कम बल प्रयोग करना पड़े तो विवश (लाचार) होकर वैसा भी किया जा सकता है। यदि इस तरह सफलता न मिल सके तो वहां से चुपचाप चले आना चाहिये। अन्य धर्मों का बाहरी सभ्य व्यवहार के रूप में यथा उचित आदर करना चाहिये, जिससे अन्य जनता भी तुम्हारे धर्म का निरादर न करे। परन्तु अपनी श्रद्धा में जरा भी अन्तर न आने देना चाहिये।

सारांश यह है कि पानी में रहता हुआ भी कमल अपना अस्तित्व बनाये रखता है, पानी रूप नहीं हो जाता, इसी प्रकार हमको लौकिक कार्यों में सब के साथ सहयोग देते हुए भी अपनी श्रद्धा और आचरण को सुरक्षित निर्दोष बनाये रखना चाहिये।

प्रवचन नं० ७१

स्थान:— तिथि:—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कूचा सेठ, दिल्ली। प्रथम भाद्रपद कृष्णा १४ मगलवार, १५ अगस्त १६५५

समय का मूल्य

वैसे तो यह मनुष्य शरीर पशु पक्षियों के शरीर से बहुत गया बीता है, पशुओं के शरीर की तुलना में मनुष्य के शरीर का कोई महत्व नहीं, एक साधारण गुलाब, मोतिया, चम्पा, चमेली का पौदा कितने सुन्दर और सुगन्धित पुष्प उत्पन्न करता है जिनकी सुगन्धि से सारा बाग सुगन्धित हो जाता है, उन फूलों की वायु बहुत दूर तक के क्षेत्र को सुगन्धि से हरा भरा कर देती है। विविध प्रकार के फूलों में जो सुन्दरता, जो रग पाया जाता है वह सौन्दर्य और सुगन्धि मनुष्य के शरीर में कहाँ दिखाई देती है। कस्तूरी हिरण स्वयं सुन्दर तो होता ही है किन्तु उसकी नाभि में उत्पन्न हुई कस्तूरी कितना सुगन्धित पदार्थ है ऐसी मनोहर गन्ध मनुष्य के शरीर के किसी भी भाग में नहीं पाई जाती।

मनुष्य शरीर का सौन्दर्य मापने के लिये पशु पक्षियों के विभिन्न शरीरों की ही उपमा दी जाती है कि अमुक स्त्री या पुरुष का स्वर कोयल के स्वर समान मीठा है। परन्तु यथार्थ में कोयल जिस प्रकार

स्वाभाविक रूप से वसन्त में पंचम स्वर से मनमोहक शब्द करती है वैसा स्वर तो किसी भी स्त्री पुरुष का आज तक नहीं सुना गया।

स्त्री पुरुषों की नाक की सुन्दरता बतलाने के लिये तोते की चोंच से उपमा दी जाती है परन्तु वास्तव में तोते की चोंच में जो सुन्दर रंग और सुन्दर टेढ़ापन पाया जाता है वह आज तक किसी भी स्त्री या पुरुष की नाक में देखने को नहीं मिला।

स्त्रियों के दो चंचल बड़े नेत्रों की उपमा हिरण के नेत्रों से दी जाती है परन्तु जो चंचलता हिरण के नेत्रों में होती है क्योंकि वह प्रकृति का स्वाभाविक भीरु भोला भाला पशु है, वैसी चचलता कभी किसी पुरुष व स्त्री के नेत्रों में बनाने पर भी नहीं आ सकती।

मनुष्य के हाथ पैर मुख की सुन्दरता विकसित कमल के फूल के साथ दी जाती है परन्तु देखने वाले देखते हैं कमल के फूल की सुन्दरता मनुष्य के इन अंगों में कहाँ आ पाती है।

पशुओं के शरीर में जितना बल होता है उतना बल मनुष्यके शरीर में नहीं होता, अपने माया-जाल से मनुष्य लुक छिपकर शेर बाघ आदि जानवरों को दूर से बन्दूक की गोली, बाण आदि द्वारा मार तो देता है किन्तु उसके बल के साथ तुलना तो नहीं कर सकता। गोरीला लगभग मनुष्य के शरीर से मिलता जुलता जानवर है परन्तु वह मनुष्य से अनेक गुणा बलवान है, बलवान् मनुष्य को पकड़ कर भी यदि गोरीला अपनी छाती से चिपटा कर भींच दे तो उस मनुष्य का तत्काल दम निकल जावे, हड्डियाँ कांच की तरह टूट जावें। चीता प्रति घंटे में ८० मील की रफ्तार से दौड़ सकता है, इतना तेज दौड़ने वाला कोई मनुष्य नहीं। पक्षी सुन्दर से सुन्दर ताजा फल खाते हैं ताजा दूध पीते है वैसा भोजन मनुष्य को नहीं मिलता। पशुओं के लिये वन जंगलों में अस्पताल औषधालय नहीं खुले, फिर भी कोई भी पशु पक्षी कभी बीमार नहीं होते, जीवन भर स्वस्थ प्रसन्न रहते हैं।

पशुओं के शरीर की हड्डियाँ, चर्म आदि मरने के बाद भी काम आती हैं। हाथी के विषय में कहावत प्रसिद्ध है कि जीवित हाथी यदि लाख रुपये का हो तो मृतक हाथी का मूल्य सवा लाख रुपये होता है। मनुष्य के शरीर का विश्लेषण करके एक वैज्ञानिक ने केवल ५) रुपये निर्धारित किया है, यानी मनुष्य के शरीर से पांच रुपये से अधिक मूल्य के पदार्थ उपलब्ध नहीं हो सकते।

इन सब शारीरिक दृष्टियों से मनुष्य शरीर पशुओं के शरीर की अपेक्षा हीन है, फिर भी मनुष्य का शरीर संसार के समस्त जीवों के शरीर से श्रेष्ठ माना गया है उसका कारण मनुष्य शरीर में आत्मा के गुणों का अनुपम विकास है। शरीर तो भौतिक पदार्थ है, विनश्वर है, अतः इसके सौन्दर्य आदि का कुछ विशेष महत्व नहीं है किन्तु इस शरीर का धनी, स्वामी या किरायेदार यात्री जो आत्मा है वास्तव में महत्व तो उसी चैतन्य रूप आत्मा का है। सो उस आत्मा का विकास सबसे अधिक मनुष्य के शरीर में हुआ करता है। मनुष्य ही अपने तप त्याग संयम के बल पर आत्मा के ज्ञान का पूर्ण विकास करके त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ बन सकता है। मनुष्य ही *आत्मबल का पूर्ण विकास करके अनन्तबली* बन सकता है। मनुष्य उस आध्यात्मिक सुख को पा सकता है, जो न कभी कम होता है और न कभी नष्ट होता है। मनुष्य ही समस्त कर्ममल का क्षय करके पूर्ण शुद्ध, अजर, अमर, निरंजन, निर्विकार,

सच्चिदानन्द पूर्णमुक्त परमात्मा बन सकता है। ऐसी क्षमता किसी अन्य शरीर में नहीं पाई जाती, अतः मनुष्य का शरीर संसार में सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

देवों का शरीर यद्यपि मनुष्य के औदारिक शरीर से पवित्रता, सुन्दरता, बल विक्रम की अपेक्षा अधिक विशेषता रखता है, उन के शरीर में खून, हड्डी, मांस, मल, मूत्र आदि नहीं होते समचतुरस्र संस्थान होता है, अनेक तरह की विक्रिया करने की शक्ति होती है, भूख के समय गले में से ही अमृत झरकर भूख शांत कर देता है, जन्म भर कोई रोग नहीं होता, न सौन्दर्य में रंच भर कमी आती है, कभी किसी देव की अकाल मृत्यु नहीं होती, फिर भी देवपर्याय से मुक्ति नहीं होती। अतः दूरदर्शी देव, इन्द्र भी मनुष्य भव पाने के लिये लालायित रहते हैं। इस दृष्टि से मनुष्य का शरीर अमूल्य माना गया है।

इस कारण यह बात माननी पड़ेगी कि बड़े सौभाग्य से हम को नर भव मिला है। सौभाग्य से पाये हुए इस नर तन द्वारा हमको आत्मा के उत्थान का वह कार्य यथाशीघ्र कर लेना चाहिये जिस कार्य को अन्य शरीरों द्वारा नहीं किया जा सकता। जो व्यक्ति अच्छे अवसर से लाभ नहीं उठाता वह सचमुच में अभागा होता है। अतः हमको अपने प्रत्येक क्षण की कदर करनी चाहिये। अशुभ कार्य जितनी देर से किया जावे उतना अच्छा है, और शुभ कार्य जितना शीघ्र कर लिया जावे उतना अच्छा है। 'शुभस्य शीघ्रम्, अशुभस्य कालहरणम्' यह नीति बड़ी उपयोगी है।

जीवन का सब से उपयोगी कार्य अपने गुणो का विकास करना है, इस उपयोगी कार्य में सतत् जागरुक रहना चाहिये। क्योंकि इस अमूल्य जीवन का प्रत्येक क्षण अमूल्य है आयु का जो क्षण बीत जाता है वह फिर वापिस नहीं आता, जिस तरह पर्वत से बहने वाली नदी का प्रवाह फिर लौटकर वापिस नहीं आया करता। जनता एक १० वर्ष के बच्चे को देख कर कहती है कि यह १० वर्ष का बड़ा है किन्तु बात यथार्थ में यों कहनी चाहिये कि एक लड़का १० वर्ष घट गया है। इसी तरह मनुष्य की आयु २५ वर्ष की है उस को संसार कहता है कि यह इस लडके से १५ वर्ष बड़ा है, जब कि बात यथार्थ में इस से उलटी है, उस १० वर्ष के लडके ने अपनी आयु के १० वर्ष कम कर दिये हैं तो उस युवा मनुष्य ने अपनी आयु के २५ वर्ष कम कर दिये हैं। यानी उस मनुष्य की आयु उस लड़के से १५ वर्ष और कम हो गई है, तदनुसार बड़ा वह लड़का है, न कि वह युवक।

मनुष्य अपनी आयु का आधा भाग तो रात को सोने में ही बिना कुछ उपयोगी कार्य किये समाप्त कर देता है। शेष आधे भाग में वह प्राय शरीर की सेवा, इन्द्रियों को प्रसन्न रखने के लिये विषय भोगों को भोगने में बिता देता है। आत्मा का उत्थान करने के लिये थोड़ा समय भी नहीं देता। यदि लोक लज्जा से कभी मन्दिर में जाता है तो वहाँ पर भी सासारिक बातों के ऊहापोह में अपना समय लगा देता है। बाहर से देखने को हाथ की उंगलियों से माला का मनका फेरता है किन्तु मन में संसार के झगड़ों के मनके फेरता रहता है। इस तरह मनुष्य भव के अमूल्य क्षण बिना कुछ अच्छा कार्य किये नष्ट हो जाते हैं।

अमूल्य जीवन का सदुपयोग करने के लिए बचपन से ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र का अभ्यास करना चाहिए। अपने बच्चो को मीठी वाणी में आत्मा का ज्ञान करा देना चाहिए

जिससे उनकी धार्मिक श्रद्धा सही और निश्चल हो जावे। जीवन में बिगाड़ या कुसंग का दूषित प्रभाव तभी होता है जब कि बच्चों की श्रद्धा ठीक नहीं बनने पाती। श्रद्धा ठीक होते ही ज्ञान ठीक दिशा में काम करेगा और मनुष्य दुराचार से स्वयं बचा रहेगा।

एक राजा की रानी का नाम 'मदालसा' था, वह बड़ी धर्म श्रद्धालु तथा आध्यात्मिक विषय की वेत्ता थी। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी राजसुख भोगते हुए भी उसका चित्त आत्म कल्याण की ओर लगा रहता था। उसके जब पुत्र गर्भ में आया तो उसने भाव धर्म साधन में, आत्म-स्वरूप चिंतवन में खूब लगाये। जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो उस को दूध पिलाते समय, सुलाते समय, लोरियां देते समय बड़े प्रेम से अपने बच्चे पर हाथ फेरते हुए मधुर स्वर में कहा करती थी—

'धीरोऽसि, वीरोऽसि निरंजनोऽसि,
संसार माया परिवर्जितोऽसि।' इत्यादि।

यानी—हे पुत्र! तू धीर है, तू वीर है, तू निर्दोष पवित्र आत्मा है, तू संसार के माया प्रपञ्च से रहित है इत्यादि। इसका प्रभाव यह हुआ कि उसका पुत्र जब युवा हुआ तो ससार से विरक्त होकर मुनि बन गया।

दूसरा पुत्र जब गर्भ में आया उस समय भी मदालसा ने अपने पुत्र के ऊपर धार्मिक संस्कार डाले, उत्पन्न होते ही वैसी ही आत्मा को शुद्ध करने की प्रेरणा देने वाले 'धीरोऽसि वीरोऽसि निरञ्जनोऽसि' आदि वाक्य सुनाना आरम्भ किया. जिस का परिणाम यह हुआ कि युवावस्था आते ही उसका दूसरा पुत्र भी साधु बन गया। इस तरह मदालसा ने अपने ६ पुत्रों के मन में आध्यात्मिक भावनाएं उत्पन्न करके उनको आत्म-उद्धार करने के लिये ऐसे धर्म संस्कारों से संस्कृत किया कि उनमें से कोई भी गृहस्थाश्रम में न रहा, क्रमशः युवावस्था आते ही मुनि बनते गये।

तब मदालसा की सास ने मदालसा को समझाया कि बहू! मुनि बनकर आत्मकल्याण करना तो अच्छी बात है, तू धन्य है जो तेरे ६ पुत्र मुनि बनकर आत्म कल्याण तथा जगत् कल्याण कर रहे हैं, परन्तु धर्म परम्परा चालू रखने के लिये तू कम से कम एक पुत्र तो राजभार संभालने के लिये भी तो तैयार कर, जो सभी तेरे पुत्र मुनि बन जावेंगे तो आगे वश परम्परा कैसे चलेगी, राज्य कौन संभालेगा, हमारे घर में धर्म परम्परा चाल किस तरह होगी।

सास की आज्ञा स्वीकार करके मदालसा ने अपने सातवें पुत्र को वैसे शब्दों मे लोरियां नहीं दीं जिस का परिणाम यह हुआ कि उसका वह सातवां पुत्र मुनि नहीं बना वह धर्मात्मा तो था परन्तु गृहस्थाश्रम में रहकर धर्मसाधन करने का अभ्यासी था। कुछ दिनों पीछे उसने अपने पिता का राजभार संभाला।

इस तरह बचपन से ही बच्चों को आत्मा, परमात्मा, धर्म, पुण्य पाप की श्रद्धा करा देनी चाहिये और उनको विद्याभ्यास के लिये प्रेरणा करनी चाहिये। तथा उसको सदाचार की शिक्षा भी देते रहना चाहिये। ऐसा करने से बच्चे के कोमल शुद्ध हृदय में धर्म श्रद्धा, ज्ञान आचरण के अंकुर उत्पन्न हो जावेंगे। जिसके हृदय में सम्यक्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान और सच्चारित्र का अंकुर प्रारम्भ से उत्पन्न हो जावे,

उसके जीवन का कोई क्षण व्यर्थ नहीं जाता। वह अपने अमूल्य नर भव के अमूल्य क्षण आत्म-उत्थान् में व्यतीत करता है।

लौकिक विद्या भी सासारिक व्यवहार के लिये आवश्यक है, उस विद्या का अभ्यास भी अपने बच्चों को अवश्य कराना चाहिये किन्तु इसके साथ ही उन्नत आचार को बीज भी उनके हृदय में बोने के लिये उनका श्रद्धान धर्ममय कर देना चाहिये।

युवक पुरुष स्त्रियों को जीवन का ध्येय कामवासना की तृप्ति तक ही सीमित न रखकर तप त्याग संयम का भी यथासंभव अभ्यास करना चाहिये, धर्म आचरण अथवा आत्मा को उन्नत बनाने का सुअवसर तो यौवन काल ही है। अतः उन्हें प्रमाद छोड़कर प्रातःकाल सबसे प्रथम शारीरिक शुद्धि करके जिनेन्द्र देव का दर्शन, पूजा, भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, सामायिक करनी चाहिये। मन्दिर से आकर शुद्ध भोजन करके न्याय नीति से धन उपार्जन करना चाहिये। अपने न्याय उपार्जित द्रव्य में से प्रति दिन कुछ न कुछ दान भी अवश्य करना चाहिये। वृद्ध पुरुषों को अपना बहुभाग धर्म आराधना में लगाना चाहिये। सारांश यह है कि अमूल्य मनुष्य भव का प्रत्येक अमूल्य क्षण शुभ कार्य में व्यतीत करना चाहिये।

एम. एल. जैन के प्रबन्ध से

सन्मति प्रेस, २०१६, किनारी बाजार, देहली में छपा।

Speech of Shree T. L. VENKATARAMA IYER, Judge, Supreme Court of India, New Delhi, on Sunday, the 19th February 1956, at 3 P.M. In Jain Dharmshala, Pahari Ddiraj, Delhi, In Presence of Shree 108 ACHARYA DESHBHUSHAN JI MAHARAJ.

Upadesha of the Guru is what they say **'Shardha'** is necessary. You must go to a Guru; you must have **shardha** in him There is a well known incident in BHAGWATYADA UPANISHADA When **Aghyawakya** was discoursing on the **Eternal** a certain lady came and she was very reasonable. A person given to reasoning is modern to its Ego. She went on arguing "what about this ?"; "what about that ?" Then he ultimately told her, "Well unless you have got faith you would not be able to understand me. All these reasons won't help you, Madam " To understand the things you must have faith and must believe in **Shastras** and then you must believe in Guru and then you will be able to understand things. Do not think that our reason will be able to reach the **Eternal Truth** Because the **Eternal Truth** is beyound the cannons of Panch Indriya, beyond the limit of your eyes' vision; beyond the limit of your ears' jurisdictions, there is a **Parmatma**. Nobody sees him with his eyes. This **Great Parmatma** does not stand before your eyes With these eyes you can see only the things but cannot see the **Eternal** Your mind control and think to condoneth. Remember that there is the greatest heritage which we Indians have got, that is the only heritage which nobody can take away from us They can come and take away our water—Ganges water they may take. They can take our milk; they can take away everything but one thing which they cannot take is this **great knowledge** But we can always destroy it. It cannot be destroyed by others but it will be destroyed by our own ignorance and by our own faithlessness. And therefore, it is the duty of all Indians—persons who say that we are born in Bharat Varshya. It is a true patriot; it is a true Indian; it is a truly cultured Indian who must prize this heritage as the best and the **Eternal.** Other things may perish. This novelty does not perish. This is eternal. This is **Sanatana** and therefore, all our aim should be to preseve this great heritage, namely knowledge, the spiritual knowledge. How is it to be preserved ? Not by reading books. Simply because

as I said, mere amount of reasoning and mere amount of reading will not give the Truth. There is something more and this is the electric touch which the teacher and the **Guru** alone can give. Let all of us go to the **Guru**; it is no matter to which **Guru** you may go. Go to a **Guru** who represents your culture. Tell him that 'I am your **Shishya**' Sit near him for **swadhaya.** Tell him, "You can save me and give me spiritual knowledge" and then I am sure you would have risen to the highest ideals which this country has laid for its citizens whom you represent. You will have to remember all this more because there are so many distractions Distractions in the political field, in the economic field and I do not know what else Here we are every day fighting for languages, fighting for provinces and fighting for everything in the world excepting one thing—I must say—we do not fight for our soul. We must seek our soul We must retain it; we must know it This is the great ambition which we ought to have

Gentlemen ! I am very thankful to you for having given me an opportunity to speak to you on the subject in the presence of a **great Acharya** whom I have the pleasure and privilege and good fortune of seeing. Let all of us feel in the real brotherhood because all of us are minded one way. viz, our soul and thereby are all brothers and we think there is only one way for awakening the soul and thereby we can come to make the best form of unit which I can preach and that is the humanity which I like.

I thank you, gentlemen, for giving me an opportunity of expressing myself to you. I am always one of your best friends Thank you again, NAMASTE !

हिन्दी अनुवाद

जैन धर्मशाला पहाड़ीधीरज देहली में, श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी महाराज की उपस्थिति में सुप्रिम कोर्ट के न्यायाधीश श्री० टी० एल० वेन्कटारमा ऐयर के भाषण का हिन्दी रूपान्तर [ता० १६-२-५६] इतवार

कहा जाता है कि गुरु के उपदेश के प्रति "श्रद्धा" आवश्यक है। अगर आप गुरु के पास जाते हैं तो आप को उनपर श्रद्धा भी चाहिये। "भागवत उपनिषद्" में एक प्रख्यात प्रसग वर्णित है:—जब "आत्य-

वाक्य'' अनन्त के ऊपर वादविवाद चला रहे थे तब वहाँ पर एक स्त्री आई जो कि वाद विवाद में बहुत सही थी। वह केवल इतना ही पूछती रही "इसके बारे में क्या ? उसके बारे में क्या ?" और अंत में आग्य-वाक्य को कहना पडा "देखो, जब तक तुम्हे मुझपर श्रद्धा नहीं है तब तक तुम मुझे नहीं समझ सकोगी। मेरे ये सब तर्क भी तुम्हें नहीं समझा सकेंगे।"—किसी भी वस्तु को समझने से पूर्व, आप को शास्त्रों पर, और गुरु पर श्रद्धा होनी चाहिए तभी आप उसे समझ सकेंगे। आप यह न समझें कि हमारे तर्क उस अनन्त सत्य तक पहुँच सकने में समर्थ है क्योंकि यह अनन्त सत्य या परमात्मा इन पचेन्द्रियों के लक्ष्य से परे है, हमारे नेत्रों की दृष्टि मार्ग से परे है, हमारे श्रवण क्षेत्र से परे है। उसे कोई देख नहीं सकता क्योंकि यह महान् परमात्मा हमारी आँखों के सामने खड़ा नहीं है। इन आंखों से आप किसी पदार्थ को देख सकते हैं पर उस अनन्त को नहीं देख सकते। आप के मन में नियन्त्रण और विचारशक्ति है। याद रखिये कि हम भारतवासियों में एक बहुत बडी परम्परा है और यह परम्परा ही है जिसे कोई हमसे छीन नहीं सकता। कोई हमसे हमारा जल—चाहे वह गंगा-जल हो—, हमारा दूध और सब कुछ छीन सकता है परन्तु हमारे पास जो "ज्ञान" भंडार है उसे कोई नहीं छीन सकता। हाँ, हमीं उसका नाश कर सकते हैं। यह 'ज्ञान' दूसरों के द्वारा नहीं पर हमारे अपने ही अविश्वास और अज्ञानता से नष्ट हो सकता है। इसीलिये हम सब भारतवासियों का कर्तव्य है कि वे समझें कि सच्चा देशभक्त वही है जो इस 'ज्ञान' की परम्परा को अनंत तक सम्भाल सके चाहे सब कुछ भी क्यों न नष्ट हो जाय। यह ज्ञान की विलक्षणता जो कभी नष्ट नहीं होती यही अनन्त है। यही सनातन है और इसीलिये हमें इस ज्ञान "आत्म-ज्ञान" को हमेशा सम्भाले रखना चाहिये। पर यह कैसे संभव है ? पुस्तकों के अध्ययन से नहीं क्योंकि केवल पुस्तक ज्ञान हमें उस 'सत्य तक नहीं पहुंचा सकता। इसको सम्भालने के लिये पुस्तक ज्ञान से भी परे एक विद्युत शक्ति की आवश्यकता है और शक्ति हमें केवल शिक्षक या गुरु से ही प्राप्त हो सकती है। हमें सबको 'गुरु' तक पहुँचना चाहिये, चाहे वह 'गुरु' कोई भी क्यों न हो। हां, आप उन गुरु के पास जाइये जो आपकी संस्कृति के प्रतिनिधि है। उनसे कहिये कि 'मैं आप का शिष्य हूं।' उनके चरणों में स्वाध्याय के लिये बैठिये। उनसे कहिये—"आप ही मुझे आत्म-ज्ञान देकर बचा सकते हैं"—और तब मैं विश्वास से कह सकता हूं कि आप एक ऐसे आदर्श नागरिक के पद को प्राप्त हो सकेंगे जो इस देश में,—जिस के कि आप प्रतिनिधि हैं, हमेशा होते रहे हैं। यह बात आप को अब विशेष रूप से ध्यान में रखना है क्योंकि आज-कल एक विशेष आँधी उठी हुई है। राजनैतिक आँधी, अर्थ-व्यवस्था की आँधी अथवा और भी ऐसी ही आँधियाँ जो मैं गिना नहीं सकता। आज हम नित्य प्रति भाषा के लिये लडते हैं, प्रान्तों के लिये लड़ते हैं और विश्व की हर वस्तु के लिये लड़ते हैं। केवल नहीं लड़ते, तो—मुझे यही कहना चाहिये कि—हमारी आत्मा के लिये कभी नहीं लड़ते। हमें अपनी आत्मा को खोजना चाहिये। हमें उस को सम्भालना चाहिये। हमें उसी को पहिचानना चाहिये। हम में यही एक अभिलाषा होनी चाहिये।

सज्जनों, एक महान् आचार्य जिन के दर्शनों का लाभ पाकर मै अपने आपको भाग्यशाली मानता हूँ—उनकी उपस्थिति में आप के सामने कुछ कहने का अवसर पाने पर मैं आप सब को साधुवाद देता हूँ। हम सब को एक दूसरे के प्रति भाईचारे सा अनुभव हो रहा है क्योंकि हम सबों का मन एक ही ओर केन्द्रित है—आत्मा की ओर—और इसीलिये हम सब भाई-भाई हैं क्योंकि आत्म-जागृति का यही एक साधन है

जिसके द्वारा हम एक ऐसा संगठन पा सकते हैं जिसमें मैं कुछ कह सकता हूँ और ऐसी मानवता जगा सकते हैं जिसे मैं चाहता हूं।

अपने विचार आप तक पहुंचाने का जो अमूल्य अवसर मुझे आप लोगों ने दिया है उसके लिये आप धन्यवाद के पात्र हैं। आप सदा मुझे आप के अच्छे मित्रों में एक मानिये। पुनः धन्यवाद—नमस्ते।

अंगरेजी भाषण के पश्चात् संस्कृत में संक्षिप्त निम्न लिखित विचार प्रगट किये—

न पुनः आत्मान समर्थं मन्ये। तथापि अलघनीयत्वात् गुरोरज्ञाया किञ्चिदेव वक्ष्यामि। अस्माक पुराणेषु देवाश्चासुराश्चेति अस्माभि पज्यते।

न पुनरस्माभि असुरा दृष्टा विगतरूप अमानुषरूप चेति गुण.। देव चेति गुण॰ असुर इत्ययं असद्भि प्रच्छति सर्वैरेव अय अत्रात अवगन्तव्य:।

असुभि: रमन्ते इति असुरा:। येषा शरीरस्यैव आशा वर्तते इति असुरा:। ये चिन्तयति अयमेव देहा॰ मुख्या अस्य देहस्य पोषणार्थं सर्वं कर्तव्य इति ये ये चिन्तयन्ति ते सर्वे असुरा:। ये पुन चिन्तयन्ति अस्माद्देहात् व्यतिरिक्ता: कश्चिद् वर्तते सह अस्माभि: ज्ञातव्या। इति ये॰ये चिन्तयन्ति के ते देवा:। इत्यय अत: अस्मात्तस्मात् अस्माभि: देव पथ मनुसरद्भि. आत्मा अवगन्तव्य:।

अयमेव अस्माक शास्त्राणा उद्देश्य। तमुद्दिश्य मधिगन्तव्य: गुरुराश्रय कुत् इति चेत् गुरुरेव विद्या अधीतव्य इत्यस्माक निर्णय:।

आर्यवान् पुरुषो वेद उच्यते वेद।
तदा तथैव मातृदेवो भव, पितृदेवो भव,
आचार्य देवो भव इत्युच्यते वेदेषु।
मातृवत्तुल्य॰ पितृवत्तुल्य: गुरुरिति।
गुरो र्ब्रह्मा गुरोर्विष्णु; गुरु र्देवो महेश्वर।
गुरु: साक्षात् परम ब्रह्म: तस्मै श्री गुरवे नम॥
इत्युच्यते सर्वैरेव तस्मात् गुरु सेवाया एव अस्माभि आत्मज्ञो नम॰।
नमराधिगन्तव्य वर्तते। इदमेव मया सक्षेपे उक्त।
कथ तवेति ते देवे ? देवे इदानीमेव पुनरपि वक्ष्याभि।

अथ किंचित् वक्तव्य दिगम्बर मतमनुसृज्य अधिकृत्य कि नग्नत्व साधु: वाऽसाधु इत्यत्र प्रश्न: वर्तते

पुराणेषु शास्त्रेषु सर्व शास्त्रेषु न केवल जैन शास्त्रेषु सर्वेषा मेव मतेषु क्वचित् क्वचित् नग्नत्वमुप शोधनं वर्तते। दिनार्कि भगवान् अपि 'दिगम्बरत्वेन निवेदित शुचि इत्युक्त गणराशि:'।

कीदृशस्य भगवान् पिनाकपाणि ?

किन्नाम दिगम्बरत्वं अस्मिन् काले समीचीन स्यात् ?

किमिद मस्माके नागरिक वृत्या स्वाधीनमिति आश्रित्य प्रच्छेति पुन रेतत्वक्तव्य: किं नग्नत्व ?

साधु: वाऽसाधु' अथवा इति अत्र अस्माके मनरेव प्रथमे कारण । इत्यस्माक मन: ।

क शरीर वर्तते तदा तत्र न किंचिदपि दोष: पश्यामि ।

यदि पुनरस्माक कँ श वर्तते तदानग्नत्वे वय पश्याम' अयमेव सक्षेप: ।

तस्मात्येषा. गुण वर्तंते अह क शरीर. पाप रहित सबुद्धया तेषा मध्ये नग्नत्वं न दुष्ट भवति । यदि पुन: सन्नि मनुष्या: येषा चित मन कीद श युक्त भवति येषा मन पाप शकी येषा मन: न सर्वकाल पाप मेव चिन्तयति ।

तेषामग्रे यदि नग्नत्व दृश्यते तदातेपा मनसि विकारा: स्यादिति ताम् ।

तस्मात् कोऽत्र निर्णय कर्त्त' शक्यमिति चेत् ।

यदि वय मनसि शुद्धा तदानामस्माकमत्र गृहीत भवति ।

इत्येव मम अभिप्राय इति मया गुरुरग्रे निवेदित । तवगुरुरग्रे निवेदितु रशक्या इदानी शक्त्यानुसारेण मया नग्नत्व रूप रूप स्वरूप निवेदित ।

इत्यल नमस्ते । पुनर्भूयात् दर्शन ।

संस्कृत का अनुवाद इस प्रकार है—

हमारे शास्त्र पुराणों में देवता और राक्षसों का वर्णन किया गया है। यद्यपि हम लोगों ने अमानस रूप असुरों को नहीं देखा तथापि उन के दुर्गुणों व सद्गुणों से देवता व राक्षसों की पहचान होती है। सुरासुरों के कुछ लक्षण इस प्रकार हैं:—

जो प्राणों का हरण करते हैं यानी दूसरों की जान लेते हैं अथवा प्राणोत्सर्ग के समान पीडा देते हैं, जिन के शरीर में सदा क्षणिक भोगोपभोगों की आकांक्षा बनी रहती है तथा जो यह सोचते हैं "यह शरीर ही मुख्य है, इसका पालन पोषण करना ही मूल कर्तव्य है, वे असुर यानी राक्षस हैं" जब यह भी सोचते है कि "इस शरीर के अतिरिक्त भी कुछ है वही हम लोगों तो जानना चाहिए, वे देवता हैं।" इसलिये देवपथ का अनुसरण करने वाले हम लोगों को आत्मा को जानना चाहिए। अही हम लोगों के शास्त्रों का उद्देश्य को ग्रहण करके हमें गुरु का आश्रय ग्रहण करके गुरुदेव से ही विद्याध्ययन करना चाहिये, यही हमारा निर्णय है।

आर्यवान पुरुष वेद कहा जाता है । वेदों में मातृ-देव, पितृ-देव तथा आचार्य-देव होने के लिये शिक्षा दी गई है। माता के समान, पिता के समान तथा गुरु के समान बनाने की शिक्षा गुरुओं ने दी है।

गुरु गरिमा के विषय में कहा है—

गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु शंकर तथा गुरु साक्षात परब्रह्म स्वरूप हैं। अतः ऐसे गुरुदेव के लिये नमस्कार है। गुरुदेव की सेवा से ही हम सब आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, यही हमारा संक्षेप में कथन है।

अब दिगम्बर मत के विषय में भी हम कुछ कहना चाहते हैं। नग्नता क्या है, साधु और असाधु क्या है? यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है। इसके उत्तर में हमारा विचार यह है कि केवल जैनशास्त्र में ही नहीं अपितु सभी शास्त्र पुराणों में तथा सभी मतों में नग्नत्व की प्रशंसा की गई है। दिनांकि भगवान ने भी गणराशि नामक शास्त्र में कहा है कि दिगम्बरत्व से पवित्रता का निर्माण होता है। किस प्रकार शंकर भगवान दिगम्बर वेष धारण किये थे। अब यहाँपर पुनः यह प्रश्न उठता है कि नग्न वेष से साधु या असाधु की क्या विशेषता है? तो इस प्रश्न के उत्तर में हमारा मन ही मूल कारण है जब हमारा मन निर्मल रहता है तब हम दोष नहीं देखते तथा यदि हम विचार करें कि कहाँ कल्याण की प्राप्ति है तो नग्नत्व में ही देखते हैं। अर्थात् जो निरभिमानी, निष्पाप तथा समता भाव धारण करने वाले हैं उनके मध्य में नग्नत्व कुछ भी प्रतिकूल नहीं मालूम पडता। परन्तु जो सशंकित हैं या जिन का मन सदा पाप का ही चिन्तन किया करता है तथा जो अहर्निशि बाह्य पर-पदार्थों में ही उलझे रहते हैं उनके मन में नैसर्गिक विकार रहता है और वे ही स्वयं विकारी होने के कारण सर्वत्र सभी में दोष अन्वेषण किया करते हैं। इस प्रकार नग्नता परम पवित्रता की द्योतक है।

ऐसे गुरुदेव हमारे परम आराध्य हैं। अतः ऐसे पुरुषों के पाद पद्मों में हम बार बार नमस्कार करते हैं और सदा यही सद्भावना करते हैं कि इसी प्रकार हमें सत्सग का लाभ प्राप्त होता रहे तथा सर्व बन्धुओं से नम्र निवेदन है कि आप लोग भी इसी प्रकार अपनी सद्भावना रखकर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें।

Text of the Speech delivered by Shree T. L. VENKATARAMA IYER, Judge, Supreme Court of India, on Sunday, the 4th March 1956, at 4 P.M. In Jain Dharmshala, Pahari Ddiraj, Delhi, In Presence of Shree 108 ACHARYA DESHBHUSHAN JI MAHARAJ.

Om Shanti ! Shanti !! Shanti !!!

Guruji let me again convey my parnams to you for having given me this opportunity of seeing you and meeting my friends here. Inspite of my hampering voice I am really glad to give you, to address you, because I find that all of you are interested in Dharma and I consider that it is a duty of all of us to speak to each other about Dharma and what you should do in pursuance of our Dharmic ideals In South India from which I come I can assure there is a very ideal of Dharmic duties not to be preached but practised We enjoy to live a life of simplicity. 'Plain living and high thinking' are the ideals which are inculcated in us. You will find that in the matter of dress and many other matters we live a fairly simple life. But our tradition has been that if we are not well learned we are not worthy son of the soil. My father who was himself a great Sanskrit scholar of international repute, at the age of five, began to teach me 'Amar Singh' i. e. the lexicography in Sanskrit From that time onwards he has been teaching me all the great ideals of Dharma which are enshrined in our holy litratures. I have read and have been trained in high theosophical thoughts which you find in Upanishads and Bhagwad Gita and in Puranas One of important aspects of this Dharma, as I told you, is simplicity. And how that is to be attained is by control of your senses. That is the most important thing which you must remember. All of us are anxious to have happiness. No body says "I want to suffer as the Vedas say." It is only when **sansar** gets happiness that a man feels happy about it. Therefore, I want happiness; you want happiness; all of us want happiness. But the difficulty is we do not know which is happiness and which is not Take a child it seems a flame, it thinks it a thing of beauty and stretches its hand and gets burnt but it does not know that though a flame looks brilliant it is really dangerous for it. And so there are many things which you consider to be very good and very happy but it is only experience that tells that these are not really the things of happiness. But these things lead ultimately to misery. If a young man who goes about thinking that all the professions of the world are to be had in the company of women and I have to submit what is his health and what is his position. Does he not feel aggrieved ? Ah ! It is only a **Guru** or a teacher who would lead me in these days to speak first and should have been so misc-

rable in the after years of my life that is what he will say. These **Vishyas** which attract the Panch Indriyas are very very attractive At first sight they look very very pleasant and happy but in the end you find they lead to misery or not. Supposing you find in a cold season a brilliant moonshine and cool weather, you think it is very good. You go there and live for a long time and ultimately get cold and suffer. This way you must remember that all the outward attractions, unless you have proper control, will lead to misery. It is this that all the religions in India have preached. South India has been one of the strongholds of Jainism. For earliest years we have more of Jainism than in many other parts of India In many parts of South India you find large villages where Jains are still practising their religion We move with them. We know their ideals I remember some of my clients coming from South Arcot district, they were speaking Tamil, but when I asked them about their religion they used to recite stanzas in Sanskrit.

Jainism has spread so much in Southern part of the country. In Tamil literature some of the earliest excellent works are Jain works like the SILPRIKARAM and so forth. JIVACHINTAMANI is the most important of these. It is Jainism that is responsible for inculcating the doctrine of self-motrification as persons call it What does self motrification mean ? It does not mean that you must control your senses and thereby curb your desires, and thereby you can have full happiness a doctrine which is common to all Indian religions, whether we call it Vedic religion or Jainism it does not matter. All have got the same ideal, viz., you must be able to control yourself. The Bhagwad Gita says. These Indriyas are powerful. Even a learned man is sometimes controlled by them, falls a victim to them. Therefore, who is a successful man, who is a happy man, who is a conquerer ? It is he who has controlled his desires. We have got enemies like **Kama, Krodha** and so forth. They are great. enemies than enemies outside whom we see. When a person comes with a dagger towards us, we know he is a great enemy and try to put him down. No doubt he is enemy but he can be conquered, he can be pursuaded, but there are enemies within us who are more dangerous because you cannot see them; who are powerful and it is not easy to conquer them. All our scriptures tell us when you do that find out who the enemies within are and when you conquer them you have attained great bliss. That is a Great Truth which all our religions have inculcated. And it is for that purpose that they prescribe to us various methods by which we can discipline

ourselves. In our earlier years we read and read and read. We do not hear advice not to go about parting our student days. We are asked to concentrate upon studies, because it is only during the student days that we get learning easily. By the 20th year we lose our impressionable age and by the time you must have acquired knowledge and known all scriptures. Learn the best thing that has been said by **saints** and **sages** of India; learn thóse that the truth gets truth preached by them. How to do that? Live a life, practically a simple life. I do not say that all of us should turn **sanyasis.** No I want all of you to be **Grahsthis.** Because **Grahstha Dharma** is a very important dharma. But what does it mean? It means a restraint both of man and women for the sake of progeny. And it is these doctrines that must be practised by us from the earliest years. Our scriptures tell us the necessity for those things. Our teachers tell us that is what you are to do Therefore, if I am asked to say in a few words what you prescribe as a course to attain happiness and I will say there is no easy short cut route to happiness. It involves a long course of training from the early years You must be always thinking in holy thoughts. You must be always conducting yourself doing proper things by thought, deed and action In all the three aspects you must have all these three ideals. All of us are prone to err; all of us have committed sings; all of us have fallen our high ideals. Sometimes you have spoken things which you ought not to have spoken. You have spoken untruth. You have done bad things to others. But I am not saying that all of us should be saints. But if you remember that these are bad things our ideals ought to be to speak truth

Let us be simple, honest and ethical in what we think, in what we say and what we do. Let us have that ideal before us. Even if occasion lapses, happiness will be ours. That is, gentlemen one short advice which I can give to you. It is short in words but very difficult to follow as the **Upnishad** says "the path is difficult ; it goes through difficult regions." That is the only what to attain happiness. If some person says well, here is happiness, I give you something to be happy. I am very scepticle about it to you because happiness comes from inside and not outside. And if it were to come from inside, we must train ourselves. I feel happy in your brotherhood because I feel Dharma is the right thing to do, to preach, to hear and to listen. But if I did not like that I should not have thought of you as the best associates of this I should have derived happiness or lost happiness. I feel happy in your

company because my mind tells me persons after the quest of Dharma are good persons You are to move with them It is a great **Punya** that we get company of pessons who are anxious to do Dharma and learn Dharma. Who are satsanghis ? Well, gentlemen, let us bear this as our ideal God will never deceive us and we will never suffer in the end if we keep to these ideals. You may have to undergo trials. You may have to avoid temptations. But still so long as you stick to this ideal and maintain it we shall never regret it.

Om Shanti, Shanti, Shanti... ...

हिन्दी अनुवाद

जैन धर्मशाला पहाड़ी धीरज में श्री १०८ आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज की उपस्थिति में, सुप्रिम कोर्ट के जज श्री वेन्कटारामा ऐयर द्वारा दिये गये भाषण का हिन्दी अनुवाद

ॐ शांति, शांति, शांति, गुरुजी, मुझे एक बार पुनः आपके दर्शन पाने और यहाँ पर मेरे मित्रों से मिलने का अवसर प्राप्ति पर मेरा नमस्कार स्वीकृत हो। मेरी दबी हुई आवाज होने पर भी, मैं आपको कुछ देने, सम्बोधन करने में यथार्थ में प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ, क्योंकि मैं देखता हूँ कि आप सब भी धर्म के अनुरागी हैं और धर्म तथा हमारे धार्मिक आदर्शों के पालन में आपको क्या करना चाहिये, इस सम्बन्ध में एक दूसरे से विचार विनिमय करने का मैं तुम सबका कर्तव्य मानता हूँ। दक्षिण भारत में जहाँ का कि मैं निवासी हू, मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ, कि वहाँ पर धार्मिक आदर्शों को, उपदेशात्मक रूप में नहीं परन्तु अपने आचरण में ढालने को बहुत महत्व देते हैं। हमारा जीवन सादगी का जीवन है। 'सादा जीवन और उच्च विचार'' ही हमारे आदर्श बने हुए हैं। वेष-भूषा और दूसरी कई बातों में आप हमें सदा ही बहुत ही सादा जीवन व्यतीत करते हुए पायेंगे। परन्तु हमेशा से हमारे यहाँ यह परिपाटी रही है कि यदि हम उचित-शिक्षित नहीं हैं तो हम अपनी उस भूमि की, योग्य संतान भी नहीं है। मेरे पिता जी ने, जो कि स्वयं सस्कृत के विश्व-ख्याति प्राप्त विद्वान् थे, मेरी पांच वर्ष की आयु से ही मुझे "अमर सींग" अर्थात् सस्कृत कोष पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। उसी समय से वे हमारे पवित्र शास्त्रों में वर्णित धर्म-आदर्शों को मुझे पढ़ाते रहते थे। उपनिशद, भगवत् गीता, और पुराणों के महान् तत्त्वचिंतक उपदेशों का मैंने अध्ययन किया है और उनकी शिक्षा भी पाई है। इस धर्म का एक महत्वपूर्ण गुण, जैसा कि मैंने अभी आप से कहा, सादगी है। और वह आपकी इन्द्रियों के ऊपर अधिकार पाने के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। यही एक महत्वपूर्ण वस्तु है जिसे हम सबको स्मरण रखना चाहिये। हम सब सुख पाने को लालायित हैं। कोई नहीं कहता "मै कष्ट झेलना चाहता हूँ जैसा कि वेदों ने कहा है। परन्तु मनुष्य को सुख का अनुभव तभी हो सकता है जब समस्त ससार को सुख की प्राप्ति हो। इसीलिये, 'मै सुख चाहता हूं, आप सुख चाहते है, हम सब सुख चाहते है' परन्तु कठिनाई इस बात की है कि हम यह जानते ही नहीं कि सुख क्या है और क्या नहीं है। आप एक बालक को ही लीजिये, वह अग्नि ज्वाला देखता है, वह उसको एक सुन्दर वस्तु समझकर उस तरफ लपकता है और अपने हाथ जला बैठता है परन्तु वह नहीं जानता कि सुन्दर दिखाई देने वाली अग्नि ज्वाला वास्तव में उसके लिये भयकर है। औ इसलिये ऐसी बहुत सी बातें हैं जिन्हे आप अच्छी तथा आनन्ददायक मानते हैं परन्तु हमें केवल अनुभव के पश्चात ही पता चलता है कि वे वास्तव में सुखदायक बातें नहीं है परन्तु ये बातें हमें दुख

की ओर ही ले जाती हैं। यदि एक युवक जो यह विचार करता रहता हो कि विश्व के सब व्यवसाय स्त्रियों के सत्संग में ही प्राप्त हो सकते है और मै उसे यह कहूं कि उसके स्वास्थ्य और स्थिति का क्या हाल हो गया है तो उसे दुख न होगा ? वह केवल यही कहेगा कि "अतः केवल गुरु या शिक्षक ही सही मार्ग बताकर इस दुखमय जीवन से बचा सकता है।

ये विश्वास जो पंचेन्द्रियों को आकर्षित करते हैं, यथार्थ में बहुत आकर्षक हैं। प्रथम निरीक्षण में वे बहुत आनन्ददायक और अच्छे लगते हैं परन्तु अन्त में ही हमें इसका ज्ञान होता है कि वे हमें दुःख की ओर ले जाते हैं या नहीं। मान लीजिये, शरद् ऋतु में आप शुभ चन्द्रमा और शीतल हवा पाते है और आप उसे बहुत सुन्दर मानकर उसमें बाहिर जाते है और लम्बे काल तक उस ऋतु में रहते हैं तो अन्त में आप सरदी पकड लेते हैं और दुःख पाते हैं। इस प्रकार से आप को याद रखना चाहिये कि जब तक आप को अपने पर नियन्त्रण नहीं है तब तक ये सभी बाहिरी आकर्षण आप को दुख की ओर ही ले जायेंगे। यही एक लक्ष्य है जो भारत के सभी धर्मों में पाया जाता है। दक्षिणी भारत जैन धर्म का एक सुदृढ़ केन्द्र रहा है। प्राचीन काल में तो भारत के और किसी भी भाग की अपेक्षा यहाँ जैनधर्म का प्रसार अधिक रहा है। दक्षिण भारत के बहुत से हिस्सों के गांवो में आज भी अधिकाश जैन निवासी अपने धर्म का पालन कर रहे हैं। हम उनके साथ उठते बैठते हैं। हमें उनके आदर्शों का ज्ञान है। मुझे स्मरण है कि मेरे कुछ आरकाट जिले के व्यक्ति (क्लाइन्टस) मुझ से तामिल में वार्तालाप करत परन्तु जब मैं उनसे उनके धर्म के बारे में पूछता तो वे संस्कृत में ही श्लोक कहा करते।

जैन धर्म दक्षिण भारत में पर्याप्त रूप से फैला हुआ है। तामिल साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में भी "सिल्प्रीकरम" आदि जैन ग्रन्थ एक उत्तम उदाहरण हैं, "जीव चिन्तामणि" इनमें से बहुत ही महत्वपूर्ण है। जिसे हम आत्म-नियन्त्रण कहते हैं, उसके सिद्धान्तों के सही मार्गदर्शन के लिये जैन धर्म ही मार्ग दिखाता है। आत्म नियत्रण है क्या ? उसका यह अर्थ नहीं कि आप अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण करके अपनी इच्छाओं को कुचल डालें ताकि आप को पूर्ण सुख की प्राप्ति हो—परन्तु यह एक मत है जो कि सभी धर्मों में समान है, चाहे हम उसे वेदिक धर्म कहें या जैन धर्म इसमें कोई अतर नहीं पड़ता। सभी का एक ही सिद्धान्त है कि "आप को अपने आप पर नियत्रण रखने योग्य बनना चाहिये"—भागवत गीता में कहा है—ये इन्द्रियां शक्तिशाली हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति भी कभी कभी उनके वशीभूत हो जाता है और उनका शिकार बन जाता है। तब सफल मानव कौन है ? सुखी कौन है ? विजयी कौन है ? यह वही हो सकता है जिसने अपनी इच्छाओं को जीत लिया है। काम, क्रोध आदि हमारे बड़े बड़े शत्रु हैं जो हमारे बाह्य शत्रुओं से भी अधिक भयानक हैं। जब एक व्यक्ति हमारी ओर शस्त्र लेकर लपकता है तब हमें इस बात का पता रहता है कि वह हमारा शत्रु है और हम उसे परास्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह ठीक है कि वह हमारा शत्रु है परन्तु वह जीता जा सकता है, उसका पीछा किया जा सकता है। परन्तु हमारे अतिरिक्त शत्रु उनसे भी अधिक भयानक हैं क्योंकि आप उन्हें देख नहीं सकते। ऐसे शत्रु इतने समर्थ होते हैं कि उन्हें जीतना आसान काम नहीं है। हमारे सभी धार्मिक लेखों से पता चलता है कि जब हमें अपने आंतरिक शत्रुओं का पता चल जाता है और हम उन्हें जीत लेते है तो हम परम सुख को प्राप्त होते हैं। यह एक महत्त्व-पूर्ण सत्य है जो सब धर्मों में पाया जाता है। इसीलिये उनमें भिन्न भिन्न तरीके बताये गये है जिन के द्वारा हम अपने आप को व्यवस्थित बना सकें। प्राचीनकाल में हम पढ़ते रहे, पढ़ते रहे और पढ़ते ही रहे। हमें अध्ययन पर एक चित्त होने को कहा जाता है क्योंकि विद्यार्थी जीवन में ही हम सब बातें सरलता से

सीख सकते हैं। बीसवीं सदी में हम अपनी वह प्रभाव पूर्ण आयु खो चुके हैं जिसमें हम सब धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन कर सकें। आप उन सब बातों का अध्ययन कीजिये जो हमारे मुनियों और साधुओं द्वारा कही गई हैं, उनके द्वारा बताए हुए सत्य मार्ग से सत्य को सीखिये। पर यह सब किस प्रकार संभव हो सकता है? जीवन, वास्तव में एक सादगी से भरा जीवन अपनाइये। मैं यह नहीं कहता कि हम सब सन्यासी बन जायें। नहीं, मैं आप सब को ग्रहस्थ रूप में ही चाहता हूँ, क्योंकि ग्रहस्थ धर्म एक महत्त्वपूर्ण धर्म है। परन्तु वह है क्या? ग्रहस्थ धर्म, संतान के लिये पुरुष और स्त्री दोनों का अपने ऊपर अकुश है। यह सिद्धान्त हमें बचपन से ही व्यवहार में उतारने चाहिये। हमारे शिक्षक हमें बताते हैं कि हमें क्या करना है। इसलिये यदि मैं सारांश में कहूँ कि सुख प्राप्ति के लिये हमें क्या करना है तो मैं कहूँगा कि सुख प्राप्ति का कोई सीधा और छोटा मार्ग हमारे सामने नहीं है। उसके लिये हमें बचपन से ही अभ्यास करने के लम्बे मार्ग पर चलना पड़ेगा। आप को हमेशा पवित्र विचार-धारा रखनी चाहिये। आप को मन, वचन और कर्म से सही मार्ग पर चलाना चाहिये। इन तीनों बातों के लिये आप को ये तीन आदर्श समझने होंगे—'हम सब भूल कर सकते हैं, हम सबने पाप कर्म किये हैं, हम सब अपने महान आदर्शों से नीचे आ गिरे हैं। कभी आपने ऐसे शब्द भी कहे होंगे जो आप को नहीं कहने चाहिये थे। आप झूठ भी बोले होंगे। आपने दूसरों के प्रति दुर्व्यवहार भी किया होगा। परन्तु फिर भी मैं यह नहीं कहता कि हम सब साधु बन जायें। केवल आप इतना याद रखें कि ये सब बातें बुरी हैं और हमें सत्य बोलने के उच्च आदर्श अपनाने हैं।

जो कुछ हम सोचते हैं, कहते हैं, और करते हैं—उसमें हमें सादगीमय, इमानदार और नीतिवान् बनना आवश्यक है। हमें इन आदर्शों को सदा अपने सामने रखना है। फिर चाहे समय लगे पर सुख हमारा होगा। यही एक छोटी सी सलाह है जो मैं आप को दे सकता हूँ। यह सलाह शब्दों में छोटी अवश्य है परन्तु पालन करने में कठिन है जैसा कि उपनिशद में कहा है—"मार्ग कठिन है; वह कठिन भागों में से होकर जाता है।" सुख प्राप्ति का साधन यही है। यदि काई व्यक्ति कहे कि मैं आप का सुखी बनाये देता हूँ तो इस बारे में मुझे संदेह है। क्योंकि सुख-आंतरिक साधनों से ही पाया जा सकता है, वाह्यिक साधनों से नहीं। और यदि वह अन्दर से भी आता है तो भी हमें अपने आपका तैयार करना चाहिए। मुझे आप के भाई चारे में सुख मिलता है क्योंकि मैं जानता हूँ कि "सही काम करना, बताना, सुनना और सही बातें सीखना ही सच्चा धर्म है।"

परन्तु यदि मैंने यह न चाहा होता कि मैं आप लोगों को सही साथी के रूप में देखूं तो मैं सुख से वचित रहा होता या सुख को खो चुका होता। मैं आप लोगों के बीच में सुख का अनुभव करता हूँ क्योंकि मेरी बुद्धि मुझे कहती है कि धर्म की इच्छा रखने वाले व्यक्ति अच्छे ही व्यक्ति होते हैं और हमें उन से सत्संग बढ़ाना चाहिए। यह एक महान् पुण्य है कि हमें ऐसे व्यक्तियों की संगत मिले जो धर्म पालन करने और धर्म सीखने को उत्सुक रहते हों। सत्संगी कौन है? सज्जनों, हमें यह बात सदा ध्यान रखनी चाहिए कि ईश्वर हमें कभी धोखा नहीं दे सकता और हम कभी दुखी नहीं हो सकते, यदि हम इन महान् आदर्शों का पालन करते रहे। आप की परीक्षा हो सकती है, आप को मोह से बचना पड़े परन्तु जब तक आप इन सिद्धान्तों पर अटल हैं—आप को पछताने का अवसर कभी नहीं आ सकता।

ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

एम. एल. जैन के प्रबन्ध से सन्मति प्रेस, २०१६, किनारी बाजार, देहली में छपा।